# गांधी-अभिनंदन-ग्रंथ

[ ७१वें जन्म-दिवस की भेंट ]

संपादक

सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन्

वाइस-चांसलर

[ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ]

सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

[ दिल्ली : लखनऊ : इन्दौर ]

# पहले संस्करण का वक्तव्य

यह अभिनंदन-ग्रंथ विश्ववंद्य महात्मा गांधी के जन्म-दिवस (आश्विन कृष्ण १२) पर हिन्दी में प्रकाशित करने की अनुमति देने के लिए हम सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन् के अत्यन्त आभारी हैं। अनुमति देने में श्री राधाकृष्णन् ने एक शर्त रक्खी थी जो उन्हींके शब्दों में इस प्रकार है—

"..You will not make any profit out of it and that the resulting profit will be handed over to me for the relief of distressed Indian students in Great Britain."

("...आप इस पुस्तक से कोई मुनाफ़ा नहीं उठावेंगे और जो मुनाफ़ा होगा उसे विलायत में पढ़नेवाले दीन-दुखी भारतीय विद्यार्थियों के सहायतार्थ मेरे पास भेज देंगे।")

इस शर्त को हमने सहर्ष स्वीकार किया, क्योंकि 'मण्डल' तो एक सार्वजनिक संस्था है। और उसका ध्येय सत्साहित्य का प्रसार करना है, पैसा कमाना नहीं।

अनुमति तो मिली, पर काम भारी था। साढ़े तीन सौ पृष्ठों का अनुवाद, छपाई आदि। और इधर समय की कमी। अनुमति २४ सितम्बर को मिली और पुस्तक १० अक्तूबर (चर्खा द्वादशी) को गांधीजी को भेंट करनी थी।

इस गुरुतर भार को उठाने में हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस के प्रबन्धक और कार्यकर्ताओं का सहयोग हमें पूर्ण रूप से मिला। जल्दी-से-जल्दी यथासाध्य पुस्तक छाप देने का ज़िम्मा उन्होंने लिया। अनुवाद के विषय में भी यही रहा। मण्डल के स्नेहियों, मित्रों और कार्यकर्ताओं ने उत्साहपूर्वक अपनी सुविधा-असुविधा का किंचित् विचार किये बिना अपना हार्दिक सहयोग दिया, अथक परिश्रम किया और अपना अनमोल समय दिया। अगर ये सब अपना काम समझकर सहायता को न दौड़ पड़ते तो इस ग्रन्थ का समय पर निकलना असम्भव ही था। अतः हम 'मण्डल' की मित्र-मण्डली और हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस के संचालक तथा कार्यकर्ताओं के अत्यन्त आभारी हैं।

देश की महत्त्वपूर्ण समस्याओं में अत्यधिक व्यस्त होने पर भी हमारी प्रार्थना पर पं० जवाहरलाल नेहरू ने, वर्धा जाते समय रेल में से, इस हिन्दी पुस्तक के लिए कुछ शब्द खास तौर से हिन्दी में लिए भेजे। इसके लिए हम उनके बहुत आभारी हैं। इसी

प्रकार श्री राधाकृष्णन् का भी हम पर बहुत अहसान है जो उन्होंने इस हिन्दी-संस्करण के लिए विशेष रूप से 'भूमिका' लिख भेजी। इसके लिए हम उनके उपकृत हैं।

अनुवाद के विषय में भी दो शब्द कहना आवश्यक है। मूल पुस्तक भाषा, विचार और भावों की दृष्टि से बहुत गम्भीर और क्लिष्ट है। पश्चिमी विद्वानों ने महात्माजी को हृदय से न जान कर बुद्धि द्वारा जाना है। और बौद्धिक ज्ञान प्रायः जटिल होता है। दूसरे, उन विद्वानों ने अपने पाश्चात्य वातावरण को सम्मुख रख कर महात्माजी का विवेचन किया है। फलस्वरूप उनके लेखों में ऐसे विदेशी मुहावरे, पारिभाषिक और शास्त्रीय शब्द आये कि जिनका हिन्दी में उल्था करना सुगम काम न था। समय तो कम था ही। सम्भव है अनुवादकों और अनुवाद-सम्पादक के सतत प्रयत्नशील और सचेत रहने पर भी इस ग्रंथ में कहीं-कहीं शंका और मतभेद के लिए गुँजाइश रह गई हो। विज्ञ पाठकों के ध्यान में यदि कोई ऐसी बात आये तो वे उससे हमें अवश्य सूचित करनें की कृपा करें।

यह वक्तव्य हम श्री जैनेन्द्रकुमार को धन्यवाद दिये बिना समाप्त नहीं कर सकते। सारी पुस्तक का अनुवाद करा लेना तो आसान था, पर सारे अनुवाद को देखना, सम्पादन करना और उसमें संशोधन करना कहीं अधिक कठिन काम साबित हुआ। यदि श्री जैनेन्द्रकुमार इस समय हमारी सहायता को न आते तो यह चीज़ इतनी सुन्दर और सम्पूर्ण नहीं निकल पाती। सारे अनुवाद को उन्होंने परिश्रम से रात-दिन एक करके देखा और संशोधन, तथा संपादन आदि का कार्य किया। इसके लिए हम श्री जैनेन्द्रकुमार के अत्यन्त कृतज्ञ हैं।

अन्त में कृपालु पाठकों से पुनः अनुरोध है कि पुस्तक में यदि छापे-सम्बन्धी या अन्य त्रुटियाँ रह गई हों तो हमारी समयाभाव की परिस्थिति को ध्यान में रखकर उनके लिए हमें क्षमा करें और उनकी सूचना हमें देने की कृपा करें जिससे उन्हें अगले संस्करण में सुधारा जा सके।

**—मंत्री**

# मेरी झिझक !

## [ ख़ास तौर से हिन्दी-संस्करण के लिए ]

कुछ महीने हुए, श्री राधाकृष्णन् ने मुझे लिखा था कि वह गांधी-जयन्ती के लिए एक किताब तैयार कर रहे हैं, जिसमें दुनिया के बहुत सारे बड़े आदमी गांधीजी के बारे में लिखेंगे। मुझसे भी उन्होंने इस किताब के लिए एक लेख लिखने को कहा था। मैं कुछ राज़ी हुआ, लेकिन फिर भी एक झिझक-सी थी। गांधीजी पर कुछ भी लिखना मेरे लिए आसान बात नहीं थी। फिर मैं ऐसी परेशानियों में फँसा कि लिखना और भी कठिन होगया और आख़िर में मैंने कोई ऐसा मज़मून नहीं लिखा।

मैं यों अक्सर कुछ-न-कुछ लिखा करता हूँ और लिखने में दिलचस्पी भी है। फिर यह झिझक कैसी ? कभी-कभी गांधीजी पर भी लिखा है। लेकिन जितना मैंनें सोचा यह मज़मून मेरे क़ाबू के बाहर निकला। हाँ, यह आसान था कि मैं कुछ ऊपरी बातें जो दुनिया जानती है उनको दोहराऊँ। लेकिन उससे फ़ायदा क्या ? अक्सर उनकी बातें मेरी समझ में नहीं आईं, कुछ बातों में उनसे मतभेद भी हुआ। एक ज़माने से उनका साथ रहा, उनकी निगरानी में काम किया, उनका छापा मेरे ऊपर पड़ा, मेरे ख़याल बदले, और रहनें का ढंग भी बदला। ज़िन्दगी ने एक करवट ली, दिल बढ़ा, कुछ-कुछ ऊँचा हुआ, आँखों में रोशनी आई, नये रास्ते देखे और उन रास्तों पर लाखों और करोड़ों के साथ हमक़दम होकर चला। क्या मैं ऐसे शख़्स के निस्बत लिखूँ जोकि हिन्दुस्तान का और मेरा एक जुज़ होगया और जिसने कि ज़माने को अपना बनाया।

हम जो इस ज़माने में बढ़े और उसके असर में पले, हम कैसे उसका अन्दाज़ा करें ? हमारे रग और रेशे में उसकी मोहर पड़ी और हम सब उसके टुकड़े हैं।

जहाँ-जहाँ मैं हिन्दुस्तान के बाहर गया, चाहे यूरोप का कोई देश हो या चीन या कोई और मुल्क, पहला सवाल मुझसे यही हुआ—"गांधी कैसे हैं ? अब क्या करते हैं ?" हर जगह गांधीजी का नाम पहुँचा था, गांधीजी की शोहरत पहुँची थी। ग़ैरों के लिए गांधी हिन्दुस्तान था और हिन्दुस्तान गांधी। हमारे देश की इज्ज़त बढ़ी, हैसियत बढ़ी। दुनिया ने तसलीम किया कि एक अजीब ऊँचे दर्जे का आदमी हिन्दुस्तान में पैदा हुआ, फिर से अंधेरे में रोशनी आई। जो सवाल लाखों के दिल में थे और उनको

परेशान करते थे, उनके जवाबों की कुछ झलक नज़र आई। आज उस जवाब पर अमल न हो, तो कल होगा, परसों होगा। उस जवाब में और भी जवाब मिलेंगे, और भी अंधेरे में रोशनी पड़ेगी, लेकिन वह बुनियाद पक्की है और उसीपर इमारत खड़ी होगी।

आजकल की दुनिया में लड़ाई का तूफ़ान फैल रहा है और हरएक के लिए मुसीबत का सामना और इम्तिहान का वक्त है। हम क्या करें, यह हर हिन्दुस्तानी के सामने सवाल है। वक्त इसका जवाब देगा। लेकिन जो भी कुछ हम करें उसकी बुनियाद उन उसूलों पर हो जिनको हमने इस ज़माने में सीखा। बड़े कामों में हम पड़, पहाड़ों की ऊँची चोटियों की तरफ़ निगाह डाली और लम्बे क़दम उठाकर हम बढ़े, लेकिन सफ़र दूर का है। इसके लिए हमको भी ऊँचा होना है और छोटी बातों में पड़कर अपने देश को छोटा नहीं करना है।

**वर्धा जाते हुए** ( रेल से )
६ अक्तूबर १९३९.

जवाहरलाल नेहरू

## विषय-क्रम

# प्रास्ताविक

## गांधीजी का धर्म और राजनीति

### सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन्

**[ वाइसचांसलर, काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय, काशी ]**

भूतल पर मनुष्य-जीवन की कथा में सबसे बड़ी घटना उसकी आधिभौतिक सफलतायें अथवा उस द्वारा बनाये और बिगाड़े हुए साम्राज्य नहीं, बल्कि सचाई तथा भलाई की खोज के पीछे उसकी आत्मा की हुई युग-युग की प्रगति है। जो व्यक्ति आत्मा की इस खोज के प्रयत्नों में भाग लेते हैं, उनको मानवी सभ्यता के इतिहास में स्थायी स्थान प्राप्त होजाता है। समय महान् वीरों को, अन्य अनेक वस्तुओं की भाँति, बड़ी सुगमता से भुला चुका है, परन्तु सन्तों की स्मृति क़ायम है। गांधीजी की महत्ता का कारण उनके वीरतापूर्ण संघर्ष इतने नहीं, जितना कि उनका पवित्र जीवन है, और यह भी कि ऐसे समय में जबकि विनाश की शक्तियाँ प्रबल होती दीख रही हैं, वह आत्मा की सृजन करने तथा जीवन देने की शक्ति पर ज़ोर देते हैं।

### राजनीति का धार्मिक आधार

संसार में गांधीजी की यह ख्याति है कि भारतीय राष्ट्र के प्रचण्ड उत्थान का और उसकी दासता की शृंखलाओं को हिला डालने तथा शिथिल कर देनें का काम एक उन्हींने अन्य किसी भी व्यक्ति की अपेक्षा अधिक किया है। राजनीतिज्ञ लोग आमतौर पर धर्म की गहराई में नहीं जाते। क्योंकि एक जाति का दूसरी जाति पर राजनैतिक आधिपत्य और निर्धन तथा निर्बल मनुष्यों का आर्थिक शोषण आदि जो लक्ष्य राज-नीतिज्ञों के सामने रहते हैं, वे धार्मिक लक्ष्यों से स्पष्ट ही इतने भिन्न तथा असम्बद्ध हैं कि वे लोग इनपर गम्भीरता से और ठीक-ठीक चिन्तन कर ही नहीं सकते। परन्तु गांधीजी के लिए तो सारा जीवन यहाँ से वहाँ तक एक ही अभंग वस्तु है। "जिसे सत्य की सर्वव्यापक विश्व-भावना को अपनी आँख से प्रत्यक्ष देखना हो उसे निम्नतम प्राणी को आत्मवत् प्रेम कर सकना चाहिए। और जिस व्यक्ति की यह महत्वाकांक्षा होगी वह जीवन के किसी भी क्षेत्र से अपनेको पृथक् नहीं रख सकेगा। यही कारण है कि मेरी सत्य-भक्ति मुझे राजनीति के क्षेत्र में खींच लाई है; और मैं बिना तनिक भी

संकोच के तथा पूर्ण नम्रता से कह सकता हूँ कि जो लोग यह कहते हैं कि धर्म का राजनीति से कुछ सम्बन्ध नहीं, वे नहीं जानते कि धर्म का अर्थ क्या है।" और, "मुझे संसार के नश्वर साम्राज्य की इच्छा नहीं है, मैं तो स्वर्ग के साम्राज्य की अर्थात् आध्यात्मिक मुक्ति की प्राप्ति का यत्न कर रहा हूँ। मेरे लिए मुक्ति का मार्ग तो अपने देश और मनुष्य-मात्र की निरन्तर सेवा करते रहना ही है। मैं तो जीवमात्र से अपनी एकता कर देना चाहता हूँ। गीता के शब्दों में, मैं **'समः शत्रौ च मित्रे च'** (मित्र और शत्रु में समदृष्टि) होना चाहता हूँ। अतः मेरी देशभक्ति भी अनन्त शान्ति तथा मुक्ति की ओर मेरी यात्रा का एक पड़ाव-मात्र है। इससे प्रकट है कि मेरे लिए धर्म से रहित राजनीति की कोई सत्ता नहीं। राजनीति धर्म की सेविका है। धर्म-रहित राजनीति मृत्यु का जाल ह, क्योंकि उससे आत्मा का हनन होता है।"[१] राजनैतिक जीव के रूप में यदि मनुष्य बहुत सफल नहीं हुआ, तो उसका कारण यही है कि उसने धर्म को राजनीति से पृथक् रक्खा, और इस प्रकार उसने दोनों को ही ग़लत समझा। गांधीजी के लिए धर्म मानवी प्रवृत्तियों से पृथक नहीं है। भारत की वर्तमान परिस्थितियों में यद्यपि गांधीजी की स्थिति एक ऐसे राजनैतिक क्रान्तिकारी की है जो अत्याचार अथवा दासता के सामने झुकने से इन्कार करता है, तथापि वह उस हठीले क्रान्तिकारी से बहुत दूर हैं जिसके भाव-प्रधान काल्पनिक विचार मनुष्य को अप्राकृतिक तथा अमानुषिक कार्यों में फँसा देते हैं। अनुभव की अग्नि-परीक्षा में, वह न राजनीतिज्ञ हैं न सुधारक, न दार्शनिक है न आचारशास्त्री, प्रत्युत इन सबका सम्मिश्रण हैं। उनके व्यक्तित्व की रचना ही धार्मिक है। उनमें उच्चतम मानवीय गुण भी हैं। फिर मर्यादाओं से परिचित होने तथा अपने स्वभाव की नित्य-प्रासादिकता (हास-परिहास-प्रियता) के कारण वह सबके प्रेमपात्र भी बन गये हैं।

## धर्म का अर्थ है ईश्वरमय जीवन

ईश्वर के विषय में हमारी जो भी सम्मति हो, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि गांधीजी के लिए वह एक परममहत्त्व और विशुद्ध वास्तविकता की वस्तु है। उनके ईश्वर-विश्वास ने ही उनको वह मनुष्य बना दिया है जिसकी शक्ति, भावना और प्रीति का हम बार-बार अनुभव करते हैं। वह एक ऐसी सत्ता का अनुभव करते हैं जो उनके निकट ही है। एक आध्यात्मिक सत्ता है जो उनके मन को मथती है, क्षुब्ध करती है, और हावी हो जाती है, जिससे उसकी वास्तविकता का निश्चय होता है। बार-बार, जब सन्देह तथा संशय से उनका मन अस्थिर होता है, तब वह उसे ईश्वर के भरोसे छोड़ देते हैं। रहा यह कि ईश्वर से उनको उत्तर मिलता है या नहीं?

**१. सी० एफ़० एण्डरूज़-कृत 'महात्मा गांधी—हिज़ ओन स्टोरी'। पृष्ठ ३५३-४, ३५७.**

इसका जवाब हाँ भी होगा और नहीं भी। नहीं, इसलिए कि गांधीजी को गुप्ततम अथवा दूरतम कोई भी वाणी कुछ कहती सुनाई नहीं देती। हाँ, इसलिए कि उनको उत्तर मिला जान पड़ता है, वह अपने आपको ऐसा सन्तुष्ट अनुभव करते हैं कि उनको उत्तर मिल गया हो। वह मिला हुआ उत्तर इतना तर्क-शुद्ध भी होता है कि जिससे वह परख लेते हैं कि मैं अपने ही स्वप्नों या कल्पनाओं का शिकार तो नहीं हुआ। "एक अलक्षणीय रहस्यमय शक्ति है जो वस्तु-मात्र में व्याप्त है। मैं इसे देखता नहीं, परन्तु इसे अनुभव करता हूँ। यह अदृष्ट शक्ति अनुभव द्वारा ही गम्य है। प्रमाणों से इसकी सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि मेरी इन्द्रियों से गम्य जो कुछ भी है उस सबसे यह शक्ति सर्वथा भिन्न है। इसकी सत्ता बाह्य साक्षी से नहीं, प्रत्युत उन व्यक्तियों के कायापलट से—उनके जीवन व व्यवहार से—सिद्ध होती है, जिन्होंने अपने अन्तःकरण में ईश्वर का अनुभव कर लिया है। यह साक्षी पैग़म्बरों और ऋषियों की अविच्छिन्न शृंखला के अनुभवों से, सब देशों और सब कालों में, निरन्तर मिलती रही है। इस साक्षी को अस्वीकार करना अपने आपको ही अस्वीकार करना है।"[१]

"यह युक्ति या तर्क का विषय कभी नहीं बन सकता। यदि आप मुझे औरों को युक्ति द्वारा विश्वास करा देने को कहें तो मैं हार मानता हूँ; परन्तु मैं आपसे इतना कहे देता हूँ—आप और मैं इस कमरे में बैठे हैं, इस सचाई से भी अधिक—मुझे उसकी सत्ता का निश्चय है। मैं यह भी कहता हूँ कि मैं बिना हवा और पानी के जी सकता हूँ, परन्तु उसके बिना नहीं। आप मेरी आँखें निकाल लें, मैं मरूँगा नहीं। आप मेरी नाक काट लें, मैं मरूँगा नहीं। परन्तु ईश्वर में मेरे विश्वास को उड़ा दें तो मैं मरा ही पड़ा हूँ।"[२]

हिन्दू-धर्म की महती आध्यात्मिक परम्परा के अनुसार, गांधीजी दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि जब हम एक बार अपनी पाशविक वासनाओं द्वारा होनेवाले पतन की गहराई से ऊपर उठकर आध्यात्मिक स्वतन्त्रता की ऊँचाई पर पहुँच जाते हैं तब जीव-मात्र में सम-दृष्टि होजाती है। यह ठीक है कि पर्वत-शिखर पर चढ़ने के मार्ग विभिन्न हैं, हम जहाँ-कहीं हों वहींसे ऊपरको चढ़ना पड़ता है। परन्तु हम सबका लक्ष्य एक ही है। "इस्लाम का अल्लाह वही है जो ईसाइयों का गॉड और हिन्दुओं का ईश्वर है। जिस प्रकार हिन्दू-धर्म में ईश्वर के नाम अनेक हैं, उसी प्रकार इस्लाम में भी अल्लाह के बहुत-से नाम हैं। इन नामों से व्यक्तियों की अनेकता नहीं, बल्कि उनके गुण प्रकट होते हैं। मनुष्य तो अल्प है, मगर उसने अपनी अल्पता से ही उस महान् शक्तिशाली परमेश्वर को उसके नाना गुणों द्वारा बखानने का यत्न किया है, यद्यपि वह सर्वथा गुणातीत, वर्णनातीत और मानातीत है। ईश्वर में सजीव विश्वास का परिणाम सब

१. 'यंग इण्डिया'; ११ अक्तूबर १९२८.

२. 'हरिजन'; १६ मई १९३८.

धर्मों के प्रति समान सम्मान-बुद्धि होता है। ऐसा मानना असहिष्णुता की पराकाष्ठा होगी—और असहिष्णुता एक प्रकार की हिंसा है—कि आपका धर्म अन्य धर्मों से श्रेष्ठ है और अन्य व्यक्तियों से अपना धर्म बदलकर आपका धर्म स्वीकार करने के लिए आपका कहना उचित है।"[१] अन्य धर्मों के प्रति गांधीजी की भावना निष्क्रिय सहिष्णुता की नहीं, प्रत्युत सक्रिय कद्रदानी की है। वह ईसामसीह के जीवन तथा कार्य को अहिंसा का एक श्रेष्ठतम उदाहरण बतलाते है। "मैंने अपने हृदय में ईसामसीह को उन महान् गुरुओं की पंक्ति में स्थान दिया है जिनका मेरे जीवन पर विशेष प्रभाव पड़ा है।" पैगम्बर मुहम्मद के चरित्र की, उसके हार्दिक विश्वास और व्यवहार-कुशलता की, और अली की कोमल दयालुता तथा सहनशीलता की वह प्रशंसा करते हैं। इस्लाम द्वारा उपदिष्ट महान् सत्यों को, ईश्वर की सर्वोपरि प्रभुता में आस्था-विश्वास को, जीवन की सरलता तथा पवित्रता को, भाईचारे की तीव्र भावना को, और ग़रीबों की तत्परतापूर्वक सहायता को, वह सब धर्मों के मौलिक तत्त्व के रूप में मानते हैं। परन्तु उनके जीवन पर प्रमुख प्रभाव, उसकी सत्य की कल्पना और आत्मा तथा उदारता की भावनाओं के कारण, हिन्दू-धर्म का पड़ा है।

फिर भी सब धर्म-सम्प्रदाय मुख्य धर्म के साधन-मात्र हैं। "मैं यहाँ स्पष्ट करदूँ कि धर्म से मेरा अभिप्राय क्या है। वह हिन्दू-धर्म नहीं है, जिसे मैं सब धर्मों से निश्चय ही श्रेष्ठ मानता हूँ; बल्कि वह धर्म है, जो हिन्दू-धर्म से भी परे चला जाता है, जो मनुष्य की सारी प्रकृति को ही बदल देता है, जो अन्तःकरण के सत्य से आत्मा का अविच्छेद्य सम्बन्ध कर देता है और जो सदा जीवन को शुद्ध करता रहता है। मनुष्य-प्रकृति का यह स्थायी अंग है। यह अपनेको प्रकट करने के लिए किसी भी बाधा को कुछ नहीं गिनता। इसके कारण आत्मा तबतक बेचैन रहती है जबतक कि उसे अपना, अपने स्रष्टा का और स्रष्टा तथा सृष्टि के सच्चे सम्बन्ध का ज्ञान नहीं हो जाता।"

सत्य के अतिरिक्त अन्य कोई ईश्वर नहीं है, और सत्य की उपलब्धि तथा अनुभव का एकमात्र उपाय प्रेम अथवा अहिंसा है। सत्य का ज्ञान और प्रेम का आचरण आत्मशुद्धि बिना असम्भव है। शुद्ध अन्तःकरण वाले को ही ईश्वर का साक्षात्कार हो सकता है। अन्तःकरण की शुद्धि, राग तथा द्वेष से मुक्ति, मनसा-वाचा-कर्मणा पक्षपात से रहितता, और मिथ्या भय तथा अभिमान से ऊपर उठने के लिए ऐन्द्रियिक प्रवृत्तियों के संघर्ष और मन के तर्क-वितर्कों पर विजय पाना आवश्यक है। और इसका मार्ग है यम-नियमों का साधन और तपस्या। तप से आत्मा धुलकर शुद्ध होजाता है। हिन्दू पुराणों में लिखा है कि देवताओं द्वारा समुद्र का मथन किये जाने पर जो विष ऊपर आया उसे शिवजी निगल गये। ईसाइयों के गॉड ने मनुष्यमात्र की रक्षा के लिए

१. 'हरिजन'; १४ मई १९३८.

अपने ख़ास बेटे को निछावर कर दिया। ये सब यदि कोरी कपोल-कल्पित कथायें हों, तो भी प्रश्न यह है कि इनसे यदि मनुष्यों की किन्हीं दृढ़मूल अन्तःप्रेरणाओं की अभिव्यक्ति नहीं होती तो इनकी सृष्टि ही क्यों की गई ? जितना आप प्रेम करेंगे, उतने ही आप कष्ट-सहिष्णु बनते जायँगे। अनन्त प्रेम का अर्थ है अनन्त कष्ट सहिष्णुता। "जो कोई अपना जीवन बचावेगा वह उसे खो बैठेगा।" हम यहाँ ईश्वर का काम कर रहे हैं। हमें अपने जीवन का उपयोग उसकी इच्छाओं की पूर्त्ति के लिए करना है। यदि हम ऐसा नहीं करते और अपना जीवन खर्चने की बजाय उसे बचाने का प्रयत्न करते हैं तो हम अपनी प्रकृति के विपरीत आचरण करते और अपने जीवन को खो देते हैं। यदि हमें जहाँतक हमारी दृष्टि जा सकती है वहाँतक पहुँचने के योग्य बनना हो, यदि हमें दूरतक की पुकार पर अमल करना हो, तो हमें सांसारिक अभिलाषा, यश, सम्पत्ति और ऐन्द्रियिक विषयों का परित्याग करना ही पड़ेगा। निर्धनों और जाति-बहिष्कृतों से एकता प्राप्त करने के लिए हमें भी वैसा ही निर्धन तथा बहिष्कृत बनना पड़ेगा। निन्दा-स्तुति की परवा न करके, बेधड़क सत्य कहने तथा करने में और निःशंक होकर सबके प्रति प्रेम तथा क्षमा का बर्ताव करने के लिए, वैराग्य की परम आवश्यकता है। ऐसी स्वतन्त्रता (मुक्ति) उन बन्धन-रहितों के लिए है जो तृण-मात्र का भी स्वामी हुए बिना निखिल जगत का उपभोग करते हैं। इस सम्बन्ध में गांधीजी सन्यासी के उस उच्च आदर्श का पालन कर रहे हैं जो उसे कहीं भी टिककर रहने और जीवन को कोई भी एक प्रणाली स्वीकार करने की इजाज़त नहीं देता।

परन्तु जब कभी तपश्चर्या के इस मार्ग पर पूर्णतया अमल करने का उपदेश, केवल सन्यासियों को ही नहीं, मनुष्यमात्र को किया जाता है, तब कुछ अतिशयोक्ति से काम लिया जाता है। उदाहरणार्थ, जननेन्द्रिय का संयम सबके लिए आवश्यक है, परन्तु आजन्म ब्रह्मचारी कुछ ही रह सकते हैं। स्त्री-पुरुष के संयोग का प्रयोजन केवल शारीरिक अथवा ऐन्द्रियिक सुख ही नहीं है, प्रत्युत प्रेम प्रकट करने और जीवन-शृंखला को जारी रखने का भी एक साधन है। यदि इससे दूसरों को हानि पहुँचे अथवा किसीकी आध्यात्मिक उन्नति में बाधा हो तो यह काम बुरा हो जाता है, वरना स्वयं काम में इन दोनों बुराइयों में से कोई भी वर्तमान नहीं है। जिस काम द्वारा हम जीते हैं, प्रेम प्रकट किया जाता है और जीवन-शृंखला बढ़ती है, वह लज्जा अथवा पाप का काम नहीं होसकता। परन्तु जब अध्यात्म के उपदेशक ब्रह्मचर्य पर ज़ोर देते हैं, तब उनका अभिप्राय यह होता है कि मन की एकता को ऐन्द्रियिक वासनाओं द्वारा नष्ट होने से बचाया जाय।

गांधीजी ने अपना जीवन यथासम्भव सीमातक संयत बनाने में कुछ भी उठा नहीं रक्खा, और जो उनको जानते हैं वे उनके इस दावे को मान जायँगे कि वह "सगे सम्बन्धियों और अजनबियों, स्वदेशियों और विदेशियों, गोरों और कालों, हिन्दुओं

और अन्य धर्मावलम्बी मुस्लिम, पारसी, ईसाई, यहूदी आदि भारतीयों में कोई भेद नहीं करते।" वह कहते हैं, "मैं यह दावा नहीं करता कि यह मेरा विशेष गुण है, क्योंकि यह तो मेरे किसी प्रयत्न का परिणाम होने की अपेक्षा मेरे स्वभाव का ही अंग रहा है, जबकि अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि अन्य परम धर्मों के विषय में मैं खूब जानता हूँ कि मुझे उनकी प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहना पड़ा है।"[१]

केवल शुद्ध हृदयवाला ही ईश्वर से और मनुष्य से प्रेम कर सकता है। सहनशीलता-युक्त प्रेम आध्यात्मिकता का एक चमत्कार है। इसमें यद्यपि दूसरों के अन्याय हमें अपने कन्धों पर झेलने पड़ते हैं, तथापि उससे एक ऐसे आनन्द का अनुभव होता है जो शुद्ध स्वार्थमय सुख की अपेक्षा भी अधिक वास्तविक तथा गहरा होता है। ऐसे अवसरों पर ही ज्ञात होता है कि संसार में इस ज्ञान से बढ़कर मधुर अन्य कुछ नहीं कि हम किसी दूसरे को क्षणभर सुख दे सकें, इस भावना से बढ़कर मूल्यवान अन्य कुछ नहीं कि हमने किसी दूसरे के दुःख में भाग बँटाया। अहंकार-रहित, गर्व-शून्य, भलाई करने के गर्व से भी शून्य, पूर्ण दयालुता ही धर्म का सर्वोच्च रूप है।

## मानवता की भावना

यह स्पष्ट होगया कि आध्यात्मिकता की कसौटी प्राकृतिक संसार से पृथक् हो जाना नहीं, प्रत्युत यहीं रहकर सबसे प्रेम रखते हुए कर्म करना है। **यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद् विजानतः।"** अपने पड़ोसी से अपने समान ही (आत्मैव) प्रेम करो। यह शर्त निरपवाद है। जीव-मात्र को स्वतन्त्रता और स्थिति की समानता प्राप्त होनी चाहिए। इस शर्त की पूर्ति के लिए विश्वभर में स्वतन्त्र मनुष्य-जाति की स्थापना तो परम आवश्यक है ही, जो इसे स्वीकार करेंगे उनके लिए जाति और धर्म, धन और शक्ति, और वर्ग और राष्ट्र के कृत्रिम बन्धनों को छिन्न-भिन्नकर देना भी आवश्यक होगा। यदि एक गिरोह या राष्ट्र दूसरे को बरबाद करके आप सुरक्षित होने का, जर्मन चैकों को बरबाद करके, जमींदार काश्तकारों को बरबाद करके और पूंजीपति मजदूरों को बरबाद करके, आप सुखी होने का यत्न करें तो वह उपाय प्रजातन्त्र-विरोधी होगा। इस प्रकार के अन्याय की हिमायत केवल शस्त्र-बल से ही की जा सकती है। अधिकारारूढ़ वर्ग को सदा अधिकार छिन जाने का भय रहता है और पीड़ित वर्ग स्वभावतः हृदय में क्रोध का संग्रह करता रहता है। इस अप्राकृतिक अवस्था का अन्त न्याय द्वारा ही हो सकता है—न्याय भी ऐसा जो मनुष्य-मात्र के समानाधिकार को स्वीकार करता हो। गत कुछ शताब्दियों में मानव-जाति का प्रयत्न मानवी बन्धुता की स्थापना करने की दिशा में हो रहा है। संसार के विविध भागों में आगे बढ़ने के जो प्रयत्न होते देखे गये हैं वे न्याय, समानता तथा शोषण से छुटकारा पाने के

१. 'महात्मा गांधी—हिज ओन स्टोरी'; पृष्ठ २०९.

आदर्श, जिनका कि मनुष्यों को अधिकाधिक बोध होता जा रहा है और उनका तक़ाज़ा या मतालबा, ये सब उन विघ्न-बाधाओं के विरुद्ध सर्वसाधारण मनुष्य के विद्रोह के चिन्ह हैं, जो उसे रोक रखने और पीछे खींचने के लिए अर्से से जमा हो रही थीं। स्वतन्त्रता के लिए अधिकाधिक जागरूक होते जाना मानवीय इतिहास का सार है।

हम बहुधा अपवाद-स्वरूप घटनाओं को, उनके बिगड़े हुए रूप में देखकर, आवश्यकता से अधिक महत्त्व दे देते हैं। हम भलीभांति यह नहीं समझते कि कभी-कभी व्यतिक्रम हो जाने की घटनायें, अन्धेरी गलियाँ और घोर आपत्तियाँ सदियों से चली आ रही साधारण प्रवृत्ति का एक अंग-मात्र हैं, और इनको उक्त प्रवृत्ति के पृष्ठ-भाग पर रखकर ही देखना चाहिए। यदि हम मानव-जाति के सतत प्रयत्न का कहीं एकान्त अवलोकन कर पाते तो हम अत्यन्त चकित और प्रभावित रह जाते। ग़ुलाम आज़ाद हो रहे हैं, काफ़िरों को अब जिन्दा जलाया नहीं जाता, जागीरदार अपने परम्परागत अधिकारों को छोड़ते जा रहे हैं, ग़ुलामों को लज्जापूर्ण जीवन से मुक्ति मिल रही है, सम्पत्तिशाली अपनी सम्पन्नता के लिए क्षमा-याचना कर रहे हैं, सैनिक साम्राज्य शान्ति की आवश्यकता बतला रहे हैं, और मानव-जाति की एकता तक के स्वप्न देखे जा रहे हैं। हाँ, आज भी हम शक्तिशालियों का ऐश्वर्य-भोग, धूर्तों की ईर्ष्या, मक्कारों की दग़ाबाज़ी, और दर्पपूर्ण जातीयता तथा राष्ट्रीयता का उदय देख रहे हैं। परन्तु जिस किसी को प्रजातन्त्र की महती परम्परा आज सर्वत्र व्याप्त होती दृष्टिगोचर न हो, वह अन्धा ही होगा। उन लोगों के प्रयत्न और परिश्रम अथक हैं जो एक ऐसा नया संसार निर्माण करने में लगे हुए हैं जिसमें ग़रीब-से-ग़रीब आदमी भी अपने घर में पर्याप्त भोजन, प्रकाश, वायु और धूप का तथा जीवन में आशा, प्रतिष्ठा व सुन्दरता का उपभोग कर सकेगा। गांधीजी मानव-जाति के प्रमुख सेवियों में से हैं। बिलकुल सामने ही खड़ी आपत्तियों को देखते हुए वह सुदूरवर्ती भविष्य की कल्पना से सन्तुष्ट नहीं हो सकते। वह तो बुराइयों के सुधार और आपत्तियों के निवारण के लिए दृढ़ विश्वासवाले व्यक्तियों के साथ मिलकर, यथासम्भव प्रत्यक्ष तथा सीधे उपायों द्वारा काम करना पसन्द करते हैं। प्रजातन्त्र उनके लिए वाद-विवाद की वस्तु नहीं, एक सामाजिक वास्तविकता है। दक्षिण अफ़्रीका और भारत की तमाम सार्वजनिक कार्रवाइयाँ तभी समझ में आ सकती हैं जब हम उनके मानव-प्रेम को जान लें।

यहूदियों के साथ नाज़ियों के व्यवहार से समस्त सभ्य संसार बिलकुल हिल गया है, और उदार राजनीतिज्ञों ने जाति-पक्षपात के पुनः फूट पड़ने पर गम्भीरतापूर्वक अपना खेद तथा विमति प्रकट की है। किन्तु यह एक विचित्र परन्तु आश्चर्यजनक सचाई है कि ब्रिटिश साम्राज्य और अमेरिका के संयुक्त-राज्यों-जैसे प्रजातन्त्री देशों में भी अनेक जातियों को केवल जातीय कारणों से राजनैतिक तथा सामाजिक रुकावटों का सामना करना पड़ रहा है। गांधीजी जब दक्षिण अफ़्रीका में थे

तब उन्होंने देखा कि नाम को तो भारतीय ब्रिटिश साम्राज्य के स्वतन्त्र नागरिक थे, परन्तु उनको भारी रुकावटों का सामना करना पड़ता था। धर्माधिकारी और राज्याधिकारी दोनों ही ग़ैर-यूरोपियन जातियों को समानाधिकार देने को राज़ी नहीं थे, तब गांधीजी ने इन अत्याचारपूर्ण पाबन्दियों का प्रतिवाद करने के लिए सामूहिक-रूप से अपना निष्क्रिय प्रतिरोध आन्दोलन आरम्भ कर दिया। उनका मूलभूत सिद्धान्त यह था कि मनुष्य मनुष्य समान हैं और जाति तथा रंग की बिना पर कृत्रिम भेदभाव करना तर्क तथा नीति के विरुद्ध है। उन्होंने भारतीय समाज को बतलाया कि उसका सचमुच कितना पतन हो चुका है और उसमें आत्म-प्रतिष्ठा तथा आत्म-सम्मान की भावना जाग्रत की। उनका प्रयत्न भारतीयों के सुख तक ही सीमित नहीं रहा। उन्होंने अफ्रीका के मूल-निवासियों के शोषण को और भारतीयों के साथ, उनकी ऐतिहासिक संस्कृति के आधार पर, कुछ अच्छे व्यवहार को भी उचित नहीं माना। भारतीयों के विरुद्ध अधिक आपत्तिजनक भेदभावपूर्ण क़ानून तो उठा दिये गये, परन्तु आज भी भारतीयों पर ऐसी अनेक अपमानकारक पाबन्दियाँ लगी हुई हैं, जो न तो उनके सामने झुक जानेवालों के लिए प्रशंसा की वस्तु हैं और न उन्हें लागू करनेवाली सरकार की शान को ही बढ़ाती हैं।

भारत में उनकी महत्वाकांक्षा यह थी कि देश के आन्तरिक भेदभावों और फूट को मिटाकर जनता को स्वाश्रय के लिए एक नियम में लाया जाय, स्त्रियों को उठाकर पुरुषों के बराबर राजनैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक धरातल पर बिठाया जाय, राष्ट्र को विभक्त करनेवाले धार्मिक घृणा-द्वेषों का अन्त किया जाय, और हिन्दू-धर्म को अस्पृश्यता के सामाजिक कलंक से मुक्त किया जाय। हिन्दुत्व पर से यह धब्बा धोने में उनको जो सफलता प्राप्त हुई है, वह मानव-जाति की उन्नति को उनकी एक महत्तम देन के रूप में स्मरण की जायगी। जबतक अछूतों की पृथक् श्रेणी रहेगी, गांधीजी उसीमें रहेंगे। "यदि मेरा पुनर्जन्म हो तो मैं अछूत के घर जन्मना चाहूँगा, ताकि मैं उनके दुःख-दर्द में, उनके अपमान में भाग ले सकूँ, और अपने आपको तथा उनको उस दयनीय अवस्था से छुड़ाने का यत्न कर सकूँ।" यह कहना कि हम अदृश्य ईश्वर को प्रेम करते हैं और साथ ही उसके जीवन द्वारा अथवा उससे प्राप्त जीवन द्वारा जीने-वाले मनुष्यों से क्रूरता का बर्ताव करना, अपनी बात को आप ही काटना है। यद्यपि गांधीजी कट्टर हिन्दू होने का अभिमान करते हैं, तथापि जात-पाँत की कठोरताओं व कठिनताओं की, अस्पृश्यता के अभिशाप की, मन्दिरों के अनाचार की, और पशुओं तथा प्राणि-जगत् पर होनेंवाली क्रूरता की तीव्र आलोचना करनेवाला भी उनसे बढ़-कर कोई नहीं हुआ। "मैं सुधारक तो पूरा-पूरा हूँ. परन्तु मैंने जोश में आकर हिन्दुत्व के एक भी मूल तत्त्व का निषेध नहीं किया।"

आज वह भारतीय राजाओं की स्वेच्छाचारिता का विरोध कर रहे हैं। और

इसका कारण इन राजाओं की करोड़ों प्रजा के प्रति उनका प्रेम है : उदारतम निरीक्षक भी यह नहीं कह सकता कि रियासतों में सब कुछ ठीक है। मैं यहाँ कलकत्ता के एक ब्रिटिश स्वार्थों के प्रतिनिधि पत्र "स्टेट्समैन" से कुछ वाक्य उद्धृत कर दूँ—"कई रियासतों की दशा भयंकर है, यह कहकर हम व्यक्तियों की निन्दा नहीं कर रहे, केवल मनुष्य की प्रकृति को प्रकट कर रहे हैं। अच्छे और बुरे, दोनों ही प्रकार के जागीरदार किसी क़ानून के पाबन्द नहीं हैं। ज़िन्दगी और मौत की ताक़त उनके हाथ में है। यदि वे लालची, ज़ालिम और पापी हों तो उनके लालच, पाप और ज़ुल्म के रास्ते में कोई भी रुकावट नहीं। यदि छुटभैये अत्याचारियों की रक्षक सन्धियाँ नहीं बदली जायँगी, यदि अरक्षणीय की रक्षा करनें की सर्वोच्च सत्ता की ज़िम्मेदारी केवल एक सम्मान की वस्तु रहेगी, तो एक न एक दिन एक अनिरोध्य शक्ति की टक्कर एक अचल वस्तु से होकर रहेगी और इस समस्या के शास्त्रोक्त उत्तर के अनुसार कोई वस्तु धूल में मिले बिना न रहेगी।" विकास की मन्दगति सब क्रान्तियों का कारण होती है। गांधीजी राजाओं के परममित्र हैं। इसी कारण वह उनको जागने और अपना घर ठीक कर लेने के लिए कह रहे हैं। मुझे आशा है कि वे समय बीतने से पहले ही समझ लेंगे कि उनकी सुरक्षितता तथा स्थिरता, उत्तरदायित्वपूर्ण शासन-पद्धति का शीघ्र सूत्रपात कर देने में ही है। सर्वोच्च सत्ता (ब्रिटिश सरकार) तक को, अपनी सब शक्ति के रहते, ब्रिटिश भारत के प्रान्तों में इसे जारी कर देना पड़ा है।

भारत में ब्रिटिश शासन पर गांधीजी का सबसे बड़ा आक्षेप यह है कि इससे ग़रीबों का उत्पीड़न होने लगा है। इतिहास के आरम्भ से ही भारत अपनें धन और सम्पत्ति के लिए सर्वविदित रहा है। हमारे पास अत्यन्त उपजाऊ भूमि के विस्तृत क्षेत्र हैं, प्राकृतिक साधनों की अक्षय्य प्रचुरता है, और यदि उचित सावधानता तथा ध्यान से काम लिया जाय तो हमारे पास एक-एक स्त्री, पुरुष और बालक के भरण-पोषण के लिए पर्याप्त सामग्री है। तो भी हमारे देश में लाखों आदमी निर्धनता के शिकार हो रहे हैं, उनके पास भरपेट खाने को अन्न नहीं और रहने को ठीक-ठीक मकान नहीं; बचपन से बुढ़ापे तक निरन्तर संघर्ष ही उनका जीवन है और अन्त को मृत्यु ही आकर उनके दुखी हृदय को शांत करके उनकी रक्षा करती है। इन अवस्थाओं का कारण प्रकृति की क्रूरता नहीं, परन्तु वह अमानुषिक पद्धति है, जो न केवल भारत के बल्कि समस्त मानव-जाति के लाभ के लिए स्वयं अपने मिट जाने की पुकार कर रही है।

सन् १९३१ में गांधीजी ने लन्दन से अमरीका को जो भाषण ब्रॉडकास्ट किया था, उसमें उन्होंने "उन्नीस-सौ मील लम्बे और पन्द्रह-सौ मील चौड़े भूताल पर छाये हुए सात लाख गाँवों में जगह-जगह बिखरे पड़े करोड़ों अध-भूखों" का भी ज़िक्र किया था। उन्होंने कहा था—

"यह एक दुःखमयी समस्या है कि ये सीधे-सादे ग्रामीण, बिना किसी

अपने क़सूर के, बरस में लगभग छः माह निकम्मे बैठे रहते हैं। बहुत समय नहीं बीता, जब हरेक ग्राम भोजन और वस्त्र की दो प्रारम्भिक आवश्यताओं के मामले में आत्म-निर्भर था। हमारे दुर्भाग्य से जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने उस ग्रामीण दस्तकारी का नाश कर दिया—जिन साधनों से उसने ऐसा किया उनका वर्णन न ही करूँ तो अच्छा—तब करोड़ों कतैयों ने—जो अपनी अँगुलियों की कुशलता से ऐसा सूक्ष्मतम सूत निकालने के कारण प्रसिद्ध हो चुके थे, जैसाकि आजतक किसी वर्तमान मशीन ने नहीं काता—ग्रामों के इन दस्तकार कतैयों ने एक रोज़ सुबह देखा कि उनका शानदार पेशा ख़तम हो चुका है। बस उसी दिन से भारत निरन्तर निर्धन होता जा रहा है। इसके विपरीत चाहे कोई कुछ कहले, यह एक सचाई है।"

भारत ग्रामों में बसता है। उसकी सभ्यता कृषि-प्रधान थी, जो अब अधिकाधिक यान्त्रिक होती जा रही ह। गांधीजी किसानों के प्रतिनिधि हैं, जो कि संसार का भोजन उत्पन्न करते हैं और जो समाज के आधार हैं। उन्हें भारतीय सभ्यता के इस मूल आधार को सुरक्षित रखने और स्थायी बनाने की चिन्ता है। वह देखते हैं कि ब्रिटिश राज में लोग अपने पुरानें आदर्शों को छोड़ते जा रहे हैं और यान्त्रिक बुद्धि, आविष्कार की योग्यता, साहस और वीरता आदि अनेक प्रशंसनीय गुणों को पाकर भी वे आदिभौतिक सफलता के पुजारी, प्रत्यक्ष लाभों के लोभी और सांसारिक आदर्शों के उपासक बनते जा रहे हैं। हमारे औद्योगिक शहर जिस भूमि में बसे हुए हैं, उसके अनुपात से बिलकुल बाहर जा चुके हैं, उनका निरर्थक फैलाव होता जा रहा है, और उनके निवासी नागरिक धन तथा यन्त्रों की उलझन में फँसकर हिंसक, चंचल, अविचारी अनियन्त्रित, और नीति-अनीति के विवेक से शून्य बन गये हैं। कारखाने में काम करने वाले लोगों का नमूना गांधीजी की दृष्टि में वे स्त्रियाँ हैं, जो थोड़ी-सी मज़दूरी के लिए अपना जीवन निष्फल बिताने को मजबूर की जाती हैं; वे बच्चे हैं, जिनको अफ़ीम देकर चुप करा दिया जाता है, ताकि वे रोकर काम में लगी अपनी माताओं को तंग न करें; वे बालक हैं, जिनका बचपन छीनकर उनको छोटी आयु में ही कारखानों में काम पर भेज दिया जाता है, और वे लाखों बेकार हैं, जिनकी बढ़ती रुक गई है, और जो बीमार हो चुके हैं। उनका विचार है कि हम जाल में फँसकर ग़ुलाम बनाये जा रहे हैं और हमारी आत्मायें अत्यन्त तुच्छ मूल्य पर ख़रीदी जा रही हैं। जो सभ्यता और भावना, उपनिषदों के ऋषियों, बौद्ध भिक्षुओं, हिन्दू संन्यासियों और मुस्लिम फ़क़ीरों का आश्रय पाकर उच्च आकाश में उड़ी थी, वह मोटरकारों, रेडियो और धन-दौलत के दूसरे दिखावों से सन्तुष्ट नहीं हो सकती। हमारी दृष्टि धुन्धली हो गई है और हम रास्ता भूल गये हैं। हम ग़लत दिशा में मुड़ गये हैं जिससे हमारी काश्तकार जनता निरधिकृत, निर्धन और दुखी हो गई है, हमारे मज़दूर चरित्र-भ्रष्ट, अशिष्ट और अंधे बन गये हैं, और जिसके कारण हमारे लाखों बालक, भावहीन चेहरा, मुरदा आँखें तथा

झुकी हुई गर्दन लेकर संसार में आये हैं। हमारी वर्तमान निष्फलता, निराशा और परेशानी के नीचे जनता का बड़ा भाग आज भी वास्तविक स्वतन्त्रता व सच्चे आत्म-सम्मान के पुराने स्वप्न की पूर्ति का तथा ऐसे जीवन का भूखा हो रहा है जिसमें न कोई अमीर होगा न ग़रीब, जिसमें सुख व फ़ुरसत की अतिशयता की समाप्ति करदी जायगी और जिसमें उद्योग तथा व्यापार सीधे-सादे रूप में रहेंगे।

गांधीजी का लक्ष्य ऐसा किसान-समाज नहीं है, जो मशीन के लाभों का सर्वथा परित्याग कर देगा। वह बड़े पैमाने पर उत्पादन के भी विरोधी नहीं हैं। उनसे जब यह प्रश्न किया गया कि क्या घरेलू उद्योग-धंधों और बड़े कल-कारख़ानों में समन्वय हो सकता है, तब उन्होंने कहा, "हाँ, यदि उनका संगठन ग्रामों की सहायता के लिए किया जाय। बुनियादी-व्यवसाय, ऐसे व्यवसाय जिनकी राष्ट्र को आवश्यकता है, एक जगह केन्द्रित किये जा सकते हैं। मेरी योजना के अनुसार तो जो वस्तु ग्रामों में भली-भाँति उत्पन्न हो सकती है, वह शहरों में पैदा नहीं करने दी जायगी। शहरों को तो गाँव की पैदावार की बिक्री का केन्द्र रहना चाहिए।" खादी पर बार-बार ज़ोर देने में और शिक्षण की अपनी योजना का आधार दस्तकारी को बनाने में भी उनका प्रयोजन ग्रामों का पुनरुद्धार ही है। वह बार-बार चेतावनी देते हैं कि भारत उसके कुछ शहरों में नहीं, उसके अनगिनत गांवों में ही मिलेगा। भारत की भारी जनता को पुनः लौटकर भूमि का ही सहारा लेना चाहिए, भूमि पर ही रहना और भूमि की ही पैदावार से अपना निर्वाह करना चाहिए, ताकि उसके परिवार स्वावलम्बी बन जायँ। जिन औज़ारों से वे काम करते हैं, जिस खेत को वे जोतते हैं और जिस घर में वे रहते हैं उन सबके वे स्वयं मालिक हों। देश के सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक और राज-नैतिक जीवन पर घर-बार से बिछुड़े क जगह पड़े रहनेवाले कारख़ानों के मज़दूर-वर्ग का नहीं, अधकचरे तथा लालची महाजन या व्यापारी समाज का नहीं, बल्कि ज़िम्मेदार ग्रामीण जनता का और छोटी-छोटी देहाती मण्डियों के स्थायी व दुरुस्त-दिमाग़ लोगों का प्रभुत्व होना चाहिए जिससे उनके द्वारा उसमें नीति-बल का सदाचार का और उच्च ध्येयों का प्रवेश हो। इस सब का अर्थ पुरातन युग में लौट जाना नहीं, इसका अभिप्राय केवल यह है कि भारत जीवन की ऐसी प्रणाली को ग्रहण करले जो उसके लिए स्वाभाविक है, और जो किसी समय उसको एक उद्देश्य, विश्वास तथा अर्थ प्रदान करती थी। हमारी जाति को सभ्य रखनें का एकमात्र यही उपाय है। जब भारत के जीवन की विशेषतायें उसके काश्तकार और गाँव, ग्राम-पंचायतें, अरण्यों के ऋषि-आश्रम और अध्यात्म-चिन्तन के एकान्त-निवास थे, तब उसने संसार को अनेक महान् पाठ पढ़ाये थे, परन्तु किसी इन्सान का बुरा नहीं किया था, किसी देश को हानि नहीं पहुँचाई थी और न किसी पर शासन करने की कोशिश की थी। आज तो जीवन का वास्तविक उद्देश्य ही भ्रष्ट हो गया है। निराशा के इस गर्त से भारत का छुटकारा

किस प्रकार हो ? जनता सदियों की पराधीनता के पश्चात् अपने आपको उससे मुक्त करने का संकल्प या इच्छा ही खो बैठी जान पड़ती है । उन्हें अपनी विरोधी शक्तियाँ अत्यन्त प्रबल दीखती हैं । उनमें पुनः आत्मविश्वास, आत्मसम्मान और स्वाभिमान उत्पन्न करना और फिर उठाकर खड़ा करना सुगम कार्य नहीं है । तो भी गांधीजी ने एक सुप्त पीढ़ी को अपने अन्तःकरण में सुलगती हुई अग्नि और स्वतन्त्रता की अपनी कामना से पुनः जाग्रत तथा चेतन करने का यत्न किया है। स्वतन्त्र अवस्था में स्त्री और पुरुष अपनी उत्कृष्टता को प्रकट करते हैं; परतन्त्रता में वे निकृष्ट हो जाते हैं। स्वतन्त्रता का उद्देश्य ही, साधारण मनुष्य को, उन आन्तरिक तथा बाह्य बन्धनों से मुक्त करना है जो उसकी वास्तविक प्रकृति को संकुचित किये रहते हैं। गांधीजी मानवीय स्वतन्त्रता के महान् रक्षक हैं, इसीलिए वह अपनें देश को विदेशी बन्धन से मुक्त करने का यत्न कर रहे हैं। देशभक्ति, जब इतनी शुद्ध हो तब वह, न अपराध रहती है न अशिष्टता। वर्तमान अस्वाभाविक अवस्थाओं के विपरीत लड़ना प्रत्येक भारतीय का पवित्र कर्तव्य है । गांधीजी आध्यात्मिक शस्त्रों का प्रयोग करते हैं, वह तलवार खींचने से इन्कार करते है, और ऐसा करते हुए वह लोगों को स्वतन्त्रता के लिए तैयार कर रहे हैं, उन्हें उसे पाने और क़ायम रख सकने के योग्य बना रहे हैं। सर जार्ज लॉयड ( अब लार्ड लॉयड ) ने, जो तब बम्बई प्रान्त के गवर्नर थे, गांधीजी के आन्दोलन के विषय में कहा था—"गांधीजी का प्रयोग संसार के इतिहास में सबसे विशाल था और इसकी सफलता में केवल इंच-भर का अन्तर रह गया था ।"

ब्रिटिश सरकार को हिला देने के अपने प्रयत्न में चाहे वह सफल न हो पाये हों, फिर भी उन्होंने देश में ऐसी शक्तियाँ उन्मुक्त कर दी हैं जो अपना काम सदा करती रहेंगी। उन्होंने लोगों को जड़ता से जगा दिया है, उन्हें नया आत्म-विश्वास और उत्तरदायित्व देकर स्वतन्त्र होनें के अपनें संकल्प में एक कर दिया है। जहाँतक आज देश में एक नई भावना की जाग्रति का, एक नये प्रकार के राष्ट्रीय सम्मिलित जीवन की तैयारी का और दलित जातियों के साथ व्यवहार में एक नई सामाजिक भावना का सम्बन्ध है, वहाँतक इस सबका अधिकतर श्रेय गांधीजी के आन्दोलन की आध्यात्मिक प्रेरक शक्ति और गति को है।

गांधीजी के दृष्टिकोण में साम्प्रदायिकता अथवा प्रान्तीयता तनिक भी नहीं है। उनका विश्वास है कि भारत की प्राचीन संस्कृति से संसार की संस्कृति के विकास में सहायता मिल सकती है। नीचे पड़ा छटपटाता हुआ भारत मानव-जाति को आशा का सन्देश नहीं दे सकता; जाग्रत और स्वतन्त्र भारत ही पीड़ित संसार की सहायता कर सकता है। गांधीजी कहते हैं कि यदि ब्रिटिश लोग न्याय, शान्ति और व्यवस्था के अपने आदर्श के प्रति सच्चे हों तो उनके लिए आक्रामक शक्तियों को दबा देना और वर्तमान परिस्थिति को ही क़ायम रखना पर्याप्त नहीं है। यदि स्वतंत्रता और न्याय के प्रति

हमारा प्रेम सच्चा है तो उसमें हमारे घोषित आदर्शों के विपरीत जो परिस्थिति हो उसे सुधारने से इन्कार करने की इस निष्क्रिय हिंसा को कोई स्थान न होना चाहिए। यदि साम्राज्यों का निर्माण मनुष्य की तृष्णा, क्रूरता और घृणा ने किया है तो, संसार को न्याय तथा स्वतन्त्रता की शक्तियों का साथ देने के लिए कहने से पहले, हमें उनको बदलना होगा। हिंसा या तो सक्रिय होगी या निष्क्रिय। आक्रामक शक्तियाँ इस समय सक्रिय हिंसा कर रही हैं; वे साम्राज्यवादी शक्तियाँ भी हिंसा की उतनी ही अपराधिनी और स्वातन्त्र्य तथा प्रजातन्त्र की विरोधिनी हैं, जो भूतकाल की हिंसा द्वारा प्राप्त अन्यायपूर्ण लाभों का उपभोग करने में आज भी संलग्न हैं। जबतक हम इस मामले में ईमानदारी से काम न लेंगे तबतक हम अब से अच्छी संसार-व्यवस्था स्थापित नहीं कर सकेंगे, और संसार में युद्ध तथा युद्धों का भय जारी रहकर, यहाँ अनिश्चितता की अवस्था बनी रहेगी। भारत को स्वतन्त्र कर देना ब्रिटिश ईमानदारी की अग्नि-परीक्षा है। गांधीजी अब भी प्रति सोमवार को चौबीस घण्टे का उपवास करते हैं, ताकि सब सम्बद्ध लोगों को मालूम रहे कि स्वराज अभी नहीं मिला। और फिर भी यह गांधीजी का ही प्रभाव ह, जो एक ओर जनता की उचित आकांक्षाओं और दूसरी ओर ब्रिटिश शासकों के हठ के विरोध में छिन्न-विच्छिन्न तथा अधीर भारत को नियन्त्रण में रख रहा है। भारत में सबसे बड़ी शान्ति-रक्षिणी शक्ति वही हैं।

दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह की समाप्ति के पश्चात्, जब वह इंग्लैण्ड पहुँचे तब उन्होंने देखा कि जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की जा चुकी थी। उन्होंने लड़ाई के मैदान में 'एम्बुलेन्स' ( घायलों की सहायता ) काम करने के लिए, जबतक युद्ध चले तबतक, अपनी सेवायें बिना शर्त पेश कीं। उनकी सेवा स्वीकार कर ली गई और उन्हें एक भारतीय टुकड़ी के साथ एक ज़िम्मेदारी के पद पर नियुक्त किया गया। परन्तु अपना काम करते हुए ठण्ड लग जाने के कारण, उनको प्लुरसी का रोग हो गया और उनका जीवन जोखिम में होने का सन्देह किया जाने लगा। अच्छा होने पर उनको डाक्टरों नें भारत की गरम आब-हवा में लौट जाने की आज्ञा दी। उन्होंने युद्ध के लिए रंगरूटों की भरती में अमली मदद पहुँचाई—उनका यह काम उनके अनेक मित्रों तक के लिए पहेली बन गया था। युद्ध के पश्चात्, भारतीयों का सर्वसम्मत विरोध होते हुए भी, रौलट-एक्ट पास होगया। पंजाब में फ़ौजी शासन के मातहत ऐसी कार्रवाइयां की गईं जिनको देख-सुनकर देश स्तब्ध होगया। पंजाब के दंगों पर कांग्रेस की जाँच-कमेटी ने जो रिपोर्ट तैयार की, उसके लेखकों में गांधीजी भी एक थे। यह सब होते हुए भी, दिसम्बर १९१९ में, उन्होंने अमृतसर की कांग्रेस को सलाह दी कि शासनसुधारों को स्वीकार करके उनपर वैध उपायों द्वारा अमल करना चाहिए। सन् १९२० में जब हण्टर-कमीशन की रिपोर्ट में सरकारी कार्रवाई की आलोचना हिचकते-हिचकते की गई, और जब ब्रिटिश पार्लमेण्ट की लार्ड-सभा ने जनरल डायर की निन्दा

करने से इन्कार कर दिया, तब उन्होंने ब्रिटिश सरकार से सहयोग न करने का अपने जीवन का महान् निश्चय प्रकट किया। और सितम्बर सन् १९२० में कांग्रेस के कलकत्ता विशेषाधिवेशन ने उनका अहिंसात्मक असहयोग का प्रस्ताव पास कर दिया।

यहाँ उनके अपने ही शब्दों को उद्धृत करना उचित होगा। १ अगस्त १९२० को उन्होंने वाइसराय को एक पत्र में लिखा :

"अफ़सरों के अपराधों के प्रति आपकी अवहेलना, आपका सर माइकेल ओडवायर को निरपराध कहकर छोड़ देना, मि० माण्टेगु का ख़रीता और सबसे बढ़कर ब्रिटिश लार्ड-सभा की पंजाब की घटनाओं से निर्लज्जतापूर्ण अनभिज्ञता तथा भारतीय भावनाओं की हृदयहीन उपेक्षा, इन घटनाओं ने साम्राज्य के भविष्य के विषय में मेरे हृदय को गम्भीर संशयों से भर दिया है तथा मुझे वर्तमान शासन का कट्टर विरोधी और जैसा मैं अबतक पूर्ण हृदय से सरकार को सच्चा सहयोग देता आया हूँ उसे निभाने में असमर्थ बना दिया है।

"मेरी विनम्र सम्मति में, जो सरकार अपनी प्रजा के सुख की तरफ़ से ऐसी सख़्त लापरवाह हो जैसी कि भारत-सरकार साबित हुई है, उसे पश्चात्ताप करने के लिए दरख़्वास्तों, डेपूटेशनों और इसी क़िस्म के आन्दोलन करने के दूसरे मामूली तरीक़ों से प्रेरित नहीं किया जा सकता। यूरोपियन देशों में, ख़िलाफ़त और पंजाब सरीखे भारी अन्यायों की निन्दा तथा प्रतिवाद के परिणाम में जनता रक्त-मय क्रान्ति कर उठती। उसने सब उपायों से, राष्ट्रीय मान-मर्दन का विरोध किया होता। आधा भारत हिंसामय विरोध करने में असमर्थ है, और शेष आधा वैसा करना नहीं चाहता। इसलिए मैंने असहयोग का उपाय सुझाने का साहस किया है। इसके द्वारा, जो चाहें वे, अपने आपको सरकार से अलहदा कर सकते हैं। यदि इस उपाय पर बिना हिंसा के और व्यवस्थित रूप में अमल किया गया, तो यह सरकार को अपना क़दम वापस लेने को और किया हुआ अन्याय धोने को ज़रूर मजबूर कर देगा। परन्तु असहयोग की नीति पर चलते हुए, और जहाँतक मैं जनता को अपने साथ ले जा सकता हूँ वहाँतक जाते हुए भी, मैं यह आशा नहीं छोड़ूँगा कि आप अब भी न्याय के मार्ग पर चल पड़ेंगे।"

यद्यपि उनकी राय है कि वर्तमान ब्रिटिश शासन ने भारत को "धन, पौरुष तथा धर्म में और उसके पुत्रों को आत्मरक्षा के सामर्थ्य में पहले से निर्बल" बना दिया है, तो भी उनको आशा है कि यह सब परिवर्तित हो सकता है। ब्रिटिश शासन के विरुद्ध आन्दोलन करते हुए भी, वह ब्रिटिश सम्बन्ध के विरोधी नहीं हैं। असहयोग-आन्दोलन की पराकाष्ठा के दिनों में भी, उन्होंने ब्रिटेन से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद कर देने के आन्दोलन का दृढ़ता से विरोध किया था।

ब्रिटिशों के साथ मित्रों और साथियों की तरह काम करने के लिए तैयार होते

हुए भी, उनकी दृढ़ राय थी कि जबतक संरक्षकता और प्रभुता का ब्रिटिशों का अस्वाभाविक रुख़ क़ायम रहेगा, तबतक भारत की अवस्था में कोई सुधार सम्भव नहीं होगा। याद रखना चाहिए कि तीव्रतम उत्तेजना के समय भी उन्होंने ब्रिटिशों का बुरा कभी नहीं चाहा। "मैं भारत की सेवा करने के लिए इंग्लैण्ड या जर्मनी को हानि नहीं पहुँचाऊँगा।"

जब कभी, अमृतसर का हत्याकाण्ड अथवा साइमन-कमीशन की नियुक्ति सरीखे मूर्खता या नासमझी के किसी काम के कारण, भारत अपना धीरज और आत्म-संयम गंवाकर क्रोध से उबल उठा, तब गाँधीजी सदा असन्तोष और क्षोभ को प्रेम और सुलह के शान्त प्रवाह में परिवर्तित करते देखे गये हैं। गोलमेज़ परिषद् में उन्होंने ब्रिटिशों के प्रति अपने अमिट प्रेम, शक्ति के बजाय युक्ति पर आश्रित 'कामनवेल्थ' में विश्वास और मनुष्य-मात्र की भलाई करने की अभिलाषा का परिचय दिया था। गोलमेज परिषदों के फलस्वरूप प्रान्तों को स्व-शासन की एक अपूर्ण मात्रा दी गई थी, और जब जनता के बहुमत ने शासन-विधान को स्वीकार करने का और उसपर अमल करने का विरोध किया, तब भी गांधीजी ही थे कि जिन्होंने अन्य किसीसे भी बढ़कर, काँग्रेस को शासन-सुधारों का यथाशक्य लाभ उठाने की प्रेरणा की। उनका एकमात्र आग्रह ब्रिटेन के साथ शान्ति का सम्बन्ध रखने पर है, परन्तु इस शान्ति का आधार होना चाहिए स्वतन्त्रता और मित्रता। आज भारत का प्रतिनिधित्व एक ऐसा नेता कर रहा है, जिसमें जाति-द्वेष अथवा वैयक्तिक ईर्ष्या का लेश भी नहीं है; जिसका बल-प्रयोग में विश्वास नहीं है, और जो अपने देशवासियों को भी बल-प्रयोग का आश्रय लेने से रोकता है। वह भारत को 'ब्रिटिश कामनवेल्थ' से पृथक् नहीं करना चाहता, बशर्ते कि यह स्वतंत्र राष्ट्रों का सहयोग और संबंध हो। सम्राट् ने २० मई को कनेडियन पार्लमेण्ट के अपने भाषण में कहा था कि ब्रिटिश साम्राज्य की एकता "आज ऐसे राष्ट्रों के स्वतन्त्र सहयोग द्वारा प्रकट हो रही है जो शासन के समान सिद्धान्तों का उपभोग कर रहे हैं और जिनको शान्ति तथा स्वतन्त्रता के आदर्शों से समान प्रेम है और जो समान राज-भक्ति द्वारा परस्पर सम्बद्ध हैं।" गांधीजी इन "शासन के सर्वनिष्ठ सिद्धान्तों" को भारत पर भी लागू कराना चाहते हैं। उनका दावा है कि भारतीयों को अपने घर का मालिक आप होना चाहिए। यह बात न तर्क-विरुद्ध है, न नीति-विरुद्ध। वह दोनों कैम्पों में, सदाभिलाषी पुरुषों के-से सहयोग द्वारा, सुन्दरतर सम्बन्ध स्थापित करके के तीव्र अभिलाषी हैं।

यह खेद की बात है कि उनकी अपील का असर हवा की साँय-साँय से ज्यादा नहीं हो रहा। बरसों के अथक श्रम और वीरता-पूर्ण संघर्ष के पश्चात् भी उनका महान् उद्देश अपूर्ण ही पड़ा है, परन्तु उनका विश्वास और विचार अब भी जीवित है। स्वयं मैं तो यही आशा करूँगा कि ब्रिटिश लोकमत अपनी बात मनवायेगा और ब्रिटिश

सरकार को मजबूर करेगा कि वह, बिना किसी सौदे या टालमटोल के, बिना हिचक या देरी किये, विश्वास भरे स्पष्ट उत्तम संकेत के साथ, कुछ जोखिम उठाकर भी एक अबाध स्व-शासित भारत की स्थापना करे; क्योंकि मेरा ख़याल है कि यदि वह काम गांधीजी की न्याय तथा ईमानदारी की अपील के जवाब में न किया गया तो हम दोनों देशों के पारस्परिक सम्बन्ध और भी कटु हो जायँगे, खाई चौड़ी हो जायगी और यह पारस्परिक कटुता बढ़कर दोनों के लिए ही ख़तरा व रुकावट पैदा कर देगी।

गांधीजी की आलोचना और आरोप का लक्ष्य चाहे दक्षिण अफ़्रीका की सरकार हो चाहे ब्रिटिश सरकार; चाहे भारतीय मिल-मालिक हों चाहे हिन्दू पुरोहित, और चाहे भारतीय राजा हों, इन सब विभिन्न कार्रवाइयों में उनकी आधार-भूत भावना एक ही रहती है। "इन लाखों-करोड़ों गूँगों के हृदयों में जो ईश्वर विराजमान है, मैं उसके सिवा अन्य किसी ईश्वर को नहीं मानता। वे उसकी सत्ता को नहीं जानते; मैं जानता हूँ। और मैं इन लाखों-करोड़ों की सेवा-द्वारा उस ईश्वर की पूजा करता हूँ जो सत्य है अथवा उस सत्य की जो ईश्वर है।"[१]

## सत्याग्रह

**"अहिंसा परमो धर्मः"** यह महाभारत का वाक्य सर्व-विदित है। ज़िन्दगी में इसका अमली इस्तेमाल ही सत्याग्रह या आत्मशक्ति है। इसका आधार यह कल्पना है कि "संसार सत्य की सुदृढ़ नींव पर ठहरा हुआ है। असत्य का अर्थ असत् अर्थात् अभाव (न रहना) भी है, और सत्य का अर्थ है सत्, भाव, जो है। जब असत्य का भाव यानी हस्ती ही नहीं तब उसकी विजय का तो प्रश्न ही नहीं उठ सकता। और सत्य, का तो अर्थ ही है वह 'जो है' (जिसकी हस्ती है) इसलिए उसका नाश नहीं हो सकता"[२]—**"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।"** ईश्वर एक सचाई है। स्वातन्त्र्य और प्रेम की इच्छा सचाई अर्थात् वास्तविकता के अनुकूल है। जब मनुष्य अपने स्वार्थ के लिए इस इच्छा का निषेध कर देता है तब वह अपने 'स्व' का ही निषेध करता है। इस निष्फल कार्य द्वारा वह स्वयं वास्तविकता के विरोध में अपनेको खड़ा करता है, उससे पृथक् होकर अपने आपको अकेला कर लेता है। इस निषेध का अभिप्राय है मनुष्य का अपने से ही विरुद्ध हो जाना, अपने विषय में ही सत्य से इन्कार कर देना। परन्तु यह काम निर्णयात्मक या अन्तिम नहीं हो सकता। इससे वास्तविक इच्छा-शक्ति का विनाश नहीं हो सकता। वास्तविकता अपना खंडन आप नहीं कर सकती। "नरक का द्वार सदा खुला नहीं रहेगा।" ईश्वर का पराजय नहीं हो सकता। विनम्र लोग इस भूमि के स्वामी बनेंगे, वे बलवान नहीं जो अपने बचाव करने के प्रयत्न में

१. **'हरिजन'; ११ मार्च १९३९.**

२. **'महात्मा गांधी—हिज ओन स्टोरी'; पृष्ठ २२५.**

अपना ही विनाश करने लगते हैं, क्योंकि उन लोगों का विश्वास धन-दौलत और घातक शस्त्रास्त्रों जैसी अनात्मिक अथवा अवास्तविक वस्तुओं में है। अन्ततोगत्वा, मानव-जाति पर वे शासन नहीं करते जिनका विश्वास निषेध, घृणा और हिंसा में होता है, प्रत्युत वे करते हैं जिनका विश्वास समझदारी, प्रेम और आन्तरिक तथा बाह्य शान्ति में होता है।

सत्याग्रह की जड़ वास्तविकता की शक्ति में, आत्मा के आन्तरिक बल में, जमी हुई है। सत्याग्रह में हिंसा से केवल बचते रहने का निष्क्रिय धर्म ही नहीं; बल्कि भलाई करने का सक्रिय धर्म भी है। "यदि मैं अपने विरोधी को मारूँ तो वह तो हिंसा है ही; परन्तु सच्चा अहिंसक बनने के लिए मुझे उससे प्रेम करना चाहिए और वह मुझे मारे तो भी उसके लिए प्रार्थना करनी चाहिए।" प्रेम एकता है। इसकी बुराई से टक्कर होती रहती है, जिसके विभिन्न रूप पृथकता, लिप्सा, घृणा, मार-पीट और हत्या हैं। प्रेम बुराई से, अन्याय से, अत्याचार से अथवा शोषण से मेल नहीं कर सकता। यह बुराई के प्रश्न को टालता नहीं; बल्कि निडरता से बुराई करनेवाले का सामना करता और उसकी बुराई को प्रेम तथा सहनशीलता की प्रबल शक्ति से रोकता है। क्योंकि शक्ति द्वारा लड़ना मानवीय प्रकृति के विरुद्ध है। हमारे झगड़े तो समझदारी, नेक़नीयती, प्रेम और सेवा के मानवोचित उपायों द्वारा हल होने चाहिएँ। इस गोलमाल दुनिया में बचाव की एकमात्र वस्तु है मनुष्य बनने का महान् प्रयास। नित्य के विनाश या मृत्यु में से जीवन सदैव प्रस्फुटित होता ही रहता है। इस समस्त भय तथा शोक के होते हुए भी, मानवता का व्यवहार, किसान और जुलाहा, कलाकार और दार्शनिक, कुंज में बैठा फ़कीर और रसायनशाला में बैठा वैज्ञानिक युवक और वृद्ध सब करते हैं, जबकि वे प्रेम करते और कष्ट उठाते हैं। जीवन विशाल है—**'प्राणो विराट्'**

शक्ति-प्रयोग के समर्थक डारविन साहब की जीवन-संघर्ष-सम्बन्धी कल्पना का हवाला एक भद्दे तरीक़े पर देते हैं। वे पशु-जगत् के मौलिक भेद की उपेक्षा करके पशु-जीवन के सामान्य सिद्धान्तों को मानव-जीवन के अन्तिम सिद्धान्तों की महत्ता तक पहुँचाते हैं। यदि हिंसा द्वारा निरोध का व्यवहार उस जगत् में भी ठीक माना जाने लगेगा जिससे इसका सम्बन्ध नहीं तो मानव-जीवन के भी नीचे उतर कर पशु-जगत् की सतह पर पहुँचने की आशंका हो जायगी। महाभारत में परस्पर लड़ते हुए मनुष्य की तुलना कुत्तों से की गई ह। "पहले वे पूँछ हिलाते हैं, फिर भौंकते हैं, जवाब में विरोधी कुत्ते भौंकते हैं, फिर एक-दूसरे के चारों तरफ़ घूमते हैं, फिर दाँत दिखाते हैं, फिर ग़ुर्राते हैं, और फिर लड़ाई शुरू हो जाती है। मनुष्यों की अवस्था भी यही है, भेद कुछ नहीं।"[१] गांधीजी कहते हैं कि लड़ना-झगड़ना कुत्तों और बन्दरों के लिए छोड़कर, परस्पर मनुष्यों की भांति बर्ताव करो और चुपचाप कष्ट सहकर सत्य व

**१. एवमेव मनुष्येषु विशेषो नास्ति कश्चन।**

न्याय की प्रतिष्ठा करो। प्रेम और सहनशीलता शत्रु को जीत लेते हैं,—परन्तु उसका विनाश करके नहीं, उसको बदल कर,—क्योंकि आखिर उसके हृदय में भी तो हम सरीखे ही राग-द्वेष आदि के भाव हैं। गांधीजी के पश्चात्ताप तथा आत्म-ताड़न के कार्य नैतिक साहस, प्रायश्चित्त और त्याग से परिपूर्ण हैं।

प्रेम-प्रणाली का प्रयोग अबतक कहीं-कहीं कुछ व्यक्तियों ने निजी जीवन में ही करके देखा था। परन्तु गांधीजी की परम सफलता यह है कि उन्होंने इसे सामाजिक तथा राजनैतिक मुक्ति की योजना बनाकर दिखा दिया है। उनके नेतृत्व में दक्षिण अफ़्रीका और भारत में संगठित समुदायों ने इसे अपनी शिकायतें दूर करने के लिए बड़े पैमाने पर प्रयोग में लाकर देखा है। राजनैतिक उद्देश्यों की सिद्धि के लिए शारीरिक हिंसा का सर्वथा परित्याग करके, राजनैतिक क्रान्ति के इतिहास में उन्होंने इस नई योजना का विकास करके दिखाया है। यह योजना या विधि भारत की आध्यात्मिक परम्परा को हानि नहीं पहुँचाती, बल्कि उसीमें से जन्मी है।

इसने निष्क्रिय प्रतिरोध, अहिंसात्मक असहयोग और सविनय आज्ञा-भंग के विविध रूप धारण किये हैं। इन सबका आधार बुराई से घृणा, परन्तु बुराई करनेवाले से प्रेम रहा है। सत्याग्रही अपने विरोधी से सदा वीरोचित बर्ताव करता है। क़ानून का भंग सदा सविनय होता है, और "सविनय का अर्थ केवल उस अवसर पर ऊपर से मीठा बोलना नहीं; बल्कि आन्तरिक मृदुता और मधुरता और विरोधी का भी भला करने की इच्छा है।" अपने सब आन्दोलनों में जब कभी गांधीजी ने शत्रु को कष्ट में देखा, वह उसकी सहायता को दौड़े गये। शत्रु की कठिनाई से फ़ायदा उठाने के सब प्रयत्नों की वह निन्दा करते हैं। यूरोप में ब्रिटेन को कठिनाई में फँसा हुआ देखकर हमें उससे सौदा नहीं करना चाहिए। गत महायुद्ध के समय उन्होंने भारत के वाइसराय को लिखा था—"यदि मैं अपने देशवासियों से क़दम वापस करा सकता तो उनसे कांग्रेस के सब प्रस्ताव वापस करवा लेता और महायुद्ध जारी रहने तक किसीको 'होम रूल' या 'उत्तरदायी शासन' का नाम भी न लेने देता।" जनरल स्मट्स तक गांधीजी के उपायों की ओर आकृष्ट हुए थे और उनके एक सेक्रटरी ने गांधीजी से कहा था—"मैं आपके देशवासियों को नहीं चाहता और मैं उन्हें मदद भी बिलकुल नही देना चाहता। परन्तु मैं क्या करूँ? आप हमारी ज़रूरत में हमारी मदद करते हैं। आप पर हम हाथ कैसे उठावें? मैं बहुधा चाहता हूँ कि आपने भी अंग्रेज़ हड़तालियों की भाँति हिंसा का सहारा लिया होता और तब हम आपको देख लेते। परन्तु आप तो शत्रु को भी हानि नहीं पहुँचाते। आप तो स्वयं कष्ट सहकर ही जीतना चाहते हैं और भद्रता तथा शौर्य की लगाई हुई पाबन्दियों से बाहर कभी नहीं जाते और इसीके कारण हम एकदम असहाय हो जाते ह।"[१]

१. **'महात्मा गान्धी—हिज़ ओन स्टोरी'; पृष्ठ २४०.**

युद्धों की समाप्ति के लिए लड़े गये महायुद्ध के बीस वर्ष पश्चात् आज फिर करोड़ों आदमी हथियार बाँधे हुए हैं और शान्ति-काल[1] में भी सैन्य-संग्रह जारी है, जहाज़ी बेड़े समुद्र को नाप रहे हैं और वायुयान आकाश में एकत्र हो रहे हैं। हम जानते हैं कि युद्ध से समस्याओं का हल नहीं होता; बल्कि उनका हल कठिनतर हो जाता है। युद्ध के पक्ष-विपक्ष के युक्ति-जाल से अनेक ईसाई स्त्री-पुरुष असमंजस में पड़ रहे हैं। शान्तिवादी पुकार रहे हैं कि युद्ध एक ऐसा अपराध है जो मानवता को अपमानित करता है, और बर्बरता के हथियारों से सभ्यता की रक्षा करने का न्यायतः समर्थन नहीं किया जा सकता। जिन स्त्री-पुरुषों से हमारा कुछ झगड़ा नहीं उन्हें कष्ट में डालने का हमें कोई अधिकार नहीं। युद्ध में पड़ा हुआ राष्ट्र शत्रु का पराजय तथा विनाश करने के भयंकर संकल्प से अनुप्राणित होता है। वह भय और घृणा के प्रवाह में बह जाता ह। बसे हुए नगर पर मृत्यु या विनाश की वर्षा हम प्रेम और क्षमा से प्रेरित होकर नहीं कर सकते। युद्ध का सारा तरीक़ा शैतान को शैतान से सजा दिलाने का है। यह ईसामसीह के हृदय, उसकी नैतिक शिक्षा और आदर्श के विरुद्ध है। हनन और ईसाइयत में हम मेल नहीं कर सकते।

युद्ध के हिमायती कहते हैं कि यद्यपि युद्ध एक भयानक बुराई है। परन्तु कभी-कभी यह दो बुराइयों में कम बुरी बुराई हो जाती है। सब वस्तुओं के तुलनात्मक मूल्य को ठीक-ठीक समझ लेना ही व्यवहार-बुद्धि कहलाती है। हमारी ज़िम्मेदारी समाज और उसके प्रतिनिधि-रूप राष्ट्र दोनों के प्रति है। और फिर राष्ट्र समाज का ही तो अंग है। जान-माल की रक्षा, शिक्षा और अन्य लाभ हम समाज का सदस्य होने के नाते ही उठाते हैं; और इनसे हमारे जीवन का मूल्य तथा सुख बढ़ता है। इसलिए हमारा कर्तव्य है कि जब राष्ट्र पर आक्रमण हो तब हम उसकी रक्षा करें, हमारी विरासत पर जोखिम आवे तो उसे क़ायम रक्खें।

जिन लोगों से हमारा कोई बैर नहीं उन्हें काटने, मारने, घायल और नष्ट करने को जब हमसे कहा जाता है तब हमारे सामने इसी प्रकार की दलीलें पेश की जाती हैं। नाज़ी जर्मनी कहता है कि मनुष्य का प्रथम कर्तव्य अपने राष्ट्र की सदस्यता है और राष्ट्रीय लक्ष्यों की पूर्ति में ही उसकी वास्तविकता, भलाई तथा सच्ची स्वतन्त्रता है। राष्ट्र को अधिकार है कि वह अपने बड़प्पन के सामने व्यक्तियों के सुख को गौण समझ ले। युद्ध का गुण यह है कि मनुष्य अपनी निर्बलता के होते हुए वैयक्तिक स्वतन्त्रता की जो इच्छा करने लगता है, उसे वह नष्ट कर देता है। फासिस्ट पार्टी की स्थापना के बीसवें वार्षिकोत्सव पर अपने भाषण में मुसोलिनी ने कहा था—"आज की परम्परा तो यही है कि किसी भी खर्च पर किसी भी उपाय से, जिसे नागरिक जीवन कहा जाता है उसे बिलकुल मिटाकर भी, अधिकाधिक जहाज, अधिकाधिक बन्दूकें, और

१. ये पंक्तियाँ यूरोप में युद्ध छिड़ने से पहले लिखी गई थीं।—अनु०

अधिकाधिक वायुयान एकत्र किय जायँ।" "पूर्वेतिहासिक काल से सदियों आज तक यही पुकार चली आ रही है, 'बेहथियारों का बरा हो'।"

"हम चाहते हैं कि आगे भाईचारे, बहनचारे, भतीजा-भानजाचारे और उनके नक़ली माँ-बापचारे की कोई बातें सुनाई न दें; क्योंकि राष्ट्रों के आपसी सम्बन्ध बल तथा शक्ति के सम्बन्ध होते हैं, और बल तथा शक्ति के सम्बन्ध ही हमारी नीति के निर्धारक हैं।" मुसोलिनी ने और भी कहा था, "यदि समस्या का हल नैतिक दावे के आधार पर किया गया तो पहला वार करने का अधिकार किसी को भी नहीं रहेगा।" साम्राज्यों का निर्माण ताश के खेल-सा है। कुछ शक्तियों को अच्छे पत्ते मिल जाते हैं और वे ऐसे ढंग से खेलती हैं कि दूसरों का कहीं ठिकाना तक नहीं रहता। सारा नफ़ा अपनी जेब में भर लेनें के बाद वे मुँह फेर कर कहती हैं कि जुआ खेलना बुरा है और ताज्जुब ज़ाहिर करती हैं कि दूसरे लोग अब भी वही खेल खेलना चाहते हैं! ऊपर की पंक्तियों से ऐसा नहीं समझना चाहिए कि जाति, शक्ति और सशस्त्र सेनाओं की पूजा केवल मध्य यूरोप में ही होती है।

२० मार्च १९३९ को ब्रिटिश लार्ड-सभा में भाषण करते हुए कैण्टरबरी के आर्च-बिशप नें "न्याय की ओर शक्ति का संग्रह" करने की वकालत की। उनकी दलील थी कि "हमें यह इस कारण करना पड़ रहा है कि हमें निश्चय हो गया है कि कुछ वस्तुएँ शांति से भी अधिक पवित्र हैं और उनकी रक्षा होनी चाहिए।..."मैं नहीं समझता कि जिन वस्तुओं का मूल्य मानव-सुख तथा सभ्यता के लिए इतना अधिक है उनकी यदि कुछ राष्ट्र रक्षा करेंगे तो उनका यह काम ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध होगा।" गांधीजी ऐसे दुर्लभतम धार्मिक पुरुष ह जो जोशीले देशभक्तों की सभा में खड़े होकर भी कह सकते हैं कि, यदि आवश्यकता हुई तो, मैं सत्य पर भारत को भी निछावर कर दूँगा। गांधीजी कहते हैं, "मैं जितने धार्मिक पुरुषों से मिला हूँ, उनमें से अधिकतर को मैंने छद्मवेश में राजनीतिज्ञ ही पाया। परन्तु मैं राजनीतिज्ञ का वेश धारण करके भी हृदय से धार्मिक व्यक्ति हूँ।"

धार्मिक पुरुष का लक्ष्य अपने आदर्श को व्यावहारिक माँग तक उतार देना नहीं, बल्कि व्यवहार को आदर्श के नमूने तक चढ़ा देना होता है। हमारी देशभक्ति ने मानव-परिवार की आध्यात्मिक एकता को छिन्न-भिन्न कर दिया है। अपनी वृहत् मानव-समाज-भक्ति की रक्षा, हम युद्ध में पड़ने से इन्कार करके, और अपनी राष्ट्र-भक्ति की रक्षा, हम धार्मिक तथा मानुषिक उपायों से करना चाहते हैं। कम-से-कम धार्मिक व्यक्तियों को, ईसाई 'अपोज़लो'[१] की भांति, "मनुष्यों के स्थान पर ईश्वर का आज्ञा-कारी होना चाहिए।" हमारी दिक्क़त यह है कि सब देशों में समाज का नियंत्रण ऐसे व्यक्तियों के हाथ में है जो युद्ध को अपनी नीति का साधन मानते हैं और उन्नति का

१. ईसाइयत के बारह खास धर्म-प्रचारक जो ईसामसीह के शिष्य थे।

विचार दिग्विजय के ही शब्दों में करते हैं।

आदमी यदि मनहूस ही न हो तो वह नम्रता और दया दिखा करके प्रसन्न होता है। निर्माण में सुख और विनाश में दुःख है। साधारण सिपाहियों को अपने शत्रुओं से घृणा नहीं होती, परन्तु शासक-वर्ग उनके भय, स्वार्थ और अभिमान के नाम पर अपीलें कर-करके उन्हें मनुष्यता के मार्ग से भ्रष्ट कर देता है। जिन मनुष्यों में बहकाकर घृणा और क्रोध के भाव उत्पन्न कर दिये जाते हैं, वे एक-दूसरे से लड़ पड़ते हैं; क्योंकि वे आज्ञा-पालन करना सीखे हुए हैं। परन्तु तब भी वे अपनें हनन-कार्य में घृणा और द्वेष को नहीं ला सकते। जिस काम से वे नफ़रत करते हैं, वह भी उन्हें अनुशासन के कारण करना पड़ता है। अन्तिम जिम्मेदारी तो सरकार पर रहती है, जिसमें दया, तरस और संतोष नहीं होता। वह सीधे-सादे आदमियों को क़ैद करती है, और उनकी मानवता को तिरस्कृत करती है। जो अन्यथा उत्पादन का कार्य करके प्रसन्न होते उन्हीं को विनाशकारी जल, स्थल और वायु-सेनाओं में संघटित किया जाता है। हम हत्याकाण्ड की प्रशंसा करते हैं और दया को लज्जा की वस्तु मानते हैं। हम सत्य की शिक्षा का निषेध करते हैं और असत्य के प्रसार की आज्ञा देते हैं। हम अपनों और परायों दोनों के सौंदर्य सुख-समृद्धि और प्राणों का अपहरण करते हैं और अपनें-आपको सामूहिक क़त्लों और आध्यात्मिक मृत्यु का जिम्मेदार बना लेते हैं।

जबतक सब राष्ट्र एक-दूसरे से स्वतन्त्रता और मित्रता का व्यवहार न करेंगे, और जबतक हम संगठित और समन्वित सामाजिक जीवन की नई धारणा को विकसित न करेंगे तबतक हमको शान्ति नहीं मिलेगी। इस लोक के मानव-समाज और सभ्यता का भविष्य आत्मा, स्वतन्त्रता, न्याय और मनुष्य-प्रेम की उन गहरी विश्व-भावनाओं के साथ बँधा हुआ है जो गांधीजी का जीवन-प्राण बन चुकी है। हिंसा और द्वेष से पूर्ण इस संसार में गांधीजी की अहिंसा इतने मनोहर स्वप्न-सी प्रतीत होती है कि जिसके कार्यान्वित होनें का विश्वास नहीं होता। लेकिन उनके लिए तो ईश्वर सत्य और प्रेम ही है। और ईश्वर चाहता है कि हम नतीजे की परवा न करके सत्य और प्रेम के अनुयायी बनें। सच्चा धार्मिक पुरुष सत्य की खोज ऐसी ही तत्परता से करता है जैसे कि चतुर व्यापारी अपने लाभ-हानि की। वह अपने प्यारे-से-प्यारे वैयक्तिक, जातीय और राष्ट्रीय हितों को निछावर करके भी यह खोज करता ही है। जो व्यक्ति अपनें वैयक्तिक तथा सामाजिक स्वार्थों का सर्वथा परित्याग कर चुके हैं, उन्हींमें यह कहनें का बल और साहस हो सकता है कि "मेरे स्वार्थों की हानि भले ही हो, परन्तु ईश्वर की इच्छा पूर्ण हो।" गांधीजी इस सम्भावना को भी स्वीकार नहीं करते कि ईश्वर, सत्य और न्याय के प्रेम से कभी किसी की हानि हो सकती है। उनको निश्चय है कि संसार के विजेता और शोषणकर्त्ता अन्ततोगत्वा नैतिक नियमों की चट्टान से टकराकर स्वयं नष्ट हो जायँगे। नीति-हीन होने में भी रक्षा नहीं, क्योंकि बल की

इच्छा ही आत्म-पराजयकारिणी है। जब हम "राष्ट्रीय हित" की बात करते हैं तब हम यह कल्पना कर लेते हैं कि कुछ भू-भाग अपने कब्जे में रखने का हमारा अखण्डनीय और स्थायी अधिकार है। और "सभ्यता"! संसार कई सभ्यताओं को युगों की धूल के नीचे दबती देख चुका है और उनके द्वारा निर्मित हुए नगरों की जगह जंगल खड़े हो चुके हैं और वहाँ चाँदनी रात में सियार हूकते हैं।

धार्मिक पुरुष के लिए सभ्यता और राष्ट्र-हित के विचार अप्रासंगिक है। प्रेम कोई नीति या हिसाब का विषय नहीं है। जो लोग निराश हो चुके हैं कि वर्तमान संसार की हिंसा को रोकनें का बचकर भाग निकलनें या नष्ट हो जाने के सिवाय कोई उपाय नहीं, उनसे गांधीजी कहते हैं कि एक उपाय है, और वह हम सबकी पहुँच में है। वह है प्रेम का सिद्धान्त, जो कि अनेक अत्याचारों में भी मनुष्य की आत्मा की रक्षा करता आया है, और अब भी कर रहा ह। उनका सत्याग्रह चाहे पशु-शक्ति के विशाल प्रदर्शनों की तुलना में प्रभावहीन जँचे, परन्तु शक्ति से भी अधिक विशाल एक वस्तु है; वह है मनुष्य की अमर आत्मा, जो कि विशाल संख्याओं या ऊँची आवाज़ों से नहीं दबती। यह उन सब बेड़ियों को टूक-टूक कर देगी जिनमें अत्याचारी इसे जकड़ना चाहेंगे। गत मार्च के संकट-काल में 'न्यूयार्क टाइम्स' के एक संवाददाता ने जब गांधीजी से संसार के लिए सन्देश मांगा, तब उन्होंने सब प्रजातन्त्र शक्तियों को एकदम निःशस्त्र हो जाने की सलाह दी थी और उसे ही एकमात्र हल बतलाया था। उन्होंने कहा था, "मुझे यहाँ बैठे-बैठे ही निश्चय है कि इससे हिटलर की आंखें खुल जायँगी और वह आप निःशस्त्र हो जायगा।" संवाददाता ने पूछा, "क्या यह चमत्कार नहीं होगा ?" गांधीजी ने जवाब दिया, "शायद! परन्तु इससे संसार की उस क़त्लेआम से रक्षा हो जायगी जो अब सामने दीख रहा है।...कठोरतम धातु काफ़ी आँच से नरम हो जाती है; इसी प्रकार कठोरतम हृदय भी अहिंसा की पर्याप्त आँच लगने से पिघल जाना चाहिए। और अहिंसा कितनी आँच पदा कर सकती है इसकी कोई सीमा नहीं... अपने आधी शताब्दी के अनुभव में मेरे सामने एक भी परिस्थिति ऐसी नहीं आई जब मुझे यह कहना पड़ा हो कि मैं असहाय हूँ और मेरी अहिंसा निरुपाय हो गई।" प्रेम मनुष्य-जीवन का नियम है, उसकी प्राकृतिक आवश्यकता है। हम ऐसी अवस्था के नजदीक पहुँच रहे हैं जब यह आवश्यकता और भी स्पष्ट हो जायगी; क्योंकि यदि मनुष्य इस नियम से बचेंगे और इसकी अवहेलना और उल्लंघन करेंगे तो मनुष्य-जीवन ही असम्भव हो जायगा। हमें लड़ाइयों का सामना इसलिए करना पड़ता है कि हमारा जीवन इतना निस्वार्थ नहीं हुआ कि जिसे युद्धों की आवश्यकता ही न हो। शान्ति का युद्ध तो मनुष्य के हृदय में ही लड़ा जाना चाहिए। उसकी आत्मा अहंकार-बल, स्वार्थ, लालसा और भय को पराजित करने में समर्थ होनी चाहिए। एक नई प्रकार की जीवन-प्रणाली पर राष्ट्रीय जीवन तथा विश्व-व्यवस्था की नींव पड़नी चाहिए। यह जीवन

प्रणाली ऐसी हो जो सब वर्गों, जातियों और राष्ट्रों के सच्चे हितों की वृद्धि, उन्नति और रक्षा करे। जिन मनुष्यों ने अपने-आपको अविद्या की अन्धकारपूर्ण और स्वार्थमयी भावना की पराधीनता से स्वतन्त्र कर लिया है, वे ही शान्ति की स्थापना और रक्षा में समर्थ हो सकते हैं। शान्ति है जीवन में एक सक्रिय प्रदर्शन और कुछ विश्व-व्यापी सिद्धान्तों और आदर्शों का आचरण। हमें इनकी रक्षा के लिए ऐसे हथियारों से लड़ना चाहिए जिनसे नैतिक गुणों का पतन और मानव-प्राणों का विनाश न हो। इस प्रयत्न में हमें जो भी कष्ट हमारे मार्ग में आयें उन सबको सहने के लिए तैयार रहना चाहिए।

मैंने संसार के विभिन्न भागों की अपनी यात्राओं में देखा है कि गांधीजी की ख्याति, बड़े-से-बड़े राजनीतिज्ञों और राष्ट्रों के नेताओं से भी अधिक विश्वव्यापी है और उनके व्यक्तित्व को किसी भी एक अथवा अन्य सबकी अपेक्षा, अधिक प्रेम और आदर की दृष्टि से देखा जाता है। उनका नाम इतना सर्व-परिचित है कि शायद ही कोई किसान या मज़दूर ऐसा होगा, जो उनको मनुष्यमात्र का मित्र न समझता हो। लोग ऐसा समझते प्रतीत होते हैं कि गांधीजी सुवर्ण युग का पुनरुद्धार करेंगे, परन्तु हम उसको (युग को) इस प्रकार बुला नहीं सकते, जिस प्रकार रास्ते चलती किराये गाड़ी को बुला लेते हैं; क्योंकि हम किसी राष्ट्र की अपेक्षा भी अधिक बलवान और किसी पराजय की अपेक्षा भी अधिक अपमानकारक एक वस्तु के अधीन हैं,—और वह है अज्ञान। यद्यपि हमको सब शक्तियाँ जीवन के लिए दी गई हैं, परन्तु हमने भ्रष्ट बनकर उनको मृत्यु के लिए प्रयुक्त हो जाने दिया है। यद्यपि मनुष्य-जाति की उत्पत्ति से ही यह स्पष्ट है कि वह सुख की अधिकारिणी है, परन्तु हमने उस अधिकार की उपेक्षा की है, और अपनी शक्ति का प्रयोग ऐसे धन और बल के संग्रह के लिए होने दिया है, जिसके द्वारा बहुतों का सुख कुछेक के संशयात्मक सन्तोष पर निछावर कर दिया जाता है। जिस भूल के आप और मैं शिकार हैं, सारा संसार भी उसीका ग़ुलाम है। हमें धन और बल की प्राप्ति के लिए नहीं, प्रत्युत प्रेम और मानवता की स्थापना के लिए प्रयत्न करना चाहिए। भूल से मुक्त होना ही एकमात्र सच्ची स्वतन्त्रता है।

गांधीजी बंधन-मुक्त जीवन के मन्त्र-दाता हैं। उनके असाधारण धार्मिक पवित्रता और वीरोचित तेज का कोटि-कोटि मनुष्यों पर गहरा प्रभाव है। ऐसे कुछ लोग सदा मिलेंगे जो ऐसे पावन-जीवन के दुर्लभ उदाहरणों से वह शक्ति पावेंगे और उनमें सत्य की वह झांकी देखेंगे जो उन साधारण साधुतामय जीवन, रूढ़ नैतिकता या अस्पष्ट कला-विचारों और भावों में नहीं मिलती, जिनको आधुनिक काल के बहुत से उपदेष्टा प्रस्तुत किया करते हैं। सच्चे रहो और सरल; हृदय में निर्मल और आर्द्र; दुःख में प्रसन्न और आतंक के आगे स्थिर-बुद्धि और चिरतुष्ट; जीवन में प्रीति रक्खो और मृत्यु के प्रति अभय; सनातन आत्मा की सेवा में समर्पित होओ और गतात्माओं के

भार से निरातंक रहो—सृष्टि के आदि से दी गई और कौन शिक्षा है जो इस शिक्षा से बढ़कर है ? अथवा कहाँ दूसरा उदाहरण है जब उस शिक्षा का अधिक तत्परता से पालन हुआ है ?

: २ :

# महात्मा गांधी : उनका मूल्य

**होरस जी. एलेक्ज़ैण्डर, एम. ए.**

**[ सैली ओक, बर्मिंघम ]**

किसी बड़े आदमी के जीवन-काल में उसका ठीक मूल्यांकन करना सुगम नहीं है। और अगर आपका उससे व्यक्तिगत परिचय है, तब तो वह और भी कठिन है; क्योंकि सही-सही दृष्टिकोण से एक आदमी को देखने के लिए आपको उससे थोड़ा तटस्थ होना चाहिए। गांधीजी से थोड़ा भी तटस्थ मैं नहीं होना चाहता। जबतक वह जीवित हैं तबतक मेरे लिए तो यही प्रयत्न करना सर्वोत्तम है कि प्रत्येक सप्ताह उनके पत्र 'हरिजन' से उनके विचार को समझकर उनके इतना समीप रहूँ जितना रह सकता हूँ।

फिर भी समय-समय पर उन प्रश्नों का सामना करने के लिए आवश्यक रूप से तैयार होना चाहिए जिन्हें उनके बारे में संसार पूछता है और उनके उत्तर देने का प्रयत्न करना चाहिए। मेरा अनुमान है कि इस ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य यही दिखाना है कि अपने समकालीनों में से कुछ पर गांधीजी का क्या प्रभाव पड़ा है।

इसलिए थोड़े में अभी यह कठिनाई प्रकट करके मैं यह बताने का प्रयत्न करूँगा कि वर्तमान संसार-व्यवस्था में उन्हें किस प्रकार देखता हूँ।

हमारे युग में बहुत-से देशों में और विभिन्न रूपों में अपने अधिकारों से बंचित लोगों के विद्रोह हुए हैं। ट्रेड-यूनियन-आन्दोलन और समाजवाद के विभिन्न तरीक़ों ने समस्त पश्चिम में औद्योगिक मज़दूरों के अधिकारों की घोषणा की है। सम्भवतः अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर-संगठन इस हलचल की पहली पराकाष्ठा है; लेकिन रूस में उसने और भी लम्बा क़दम रक्खा है। वहाँ औद्योगिक मज़दूर अब मामूली आदमी नहीं है। आपने यदि उसके साथ कठोर व्यवहार किया तो वह आपको काटने नहीं दौड़ेगा। उसे विशेष अधिकार का स्थान दिया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर-संगठन या सोवियट, मज़दूरों को, कार्य-भार से लदे दुकानदारों को, दीन किसानों, मछुओं और दूसरों को बिलकुल भूलते हों सो नहीं; लेकिन जो कुछ इनके लिए किया गया है, वह किसी क़दर बाद के विचार का परिणाम है।

जर्मनी में कट्टर समाजवादी या औद्योगिक मज़दूर ही नहीं है जिन्होंने बड़ी क्रांति में

सफलता पाई हो। दूसरे चालाक या शायद नीति-सिद्धान्तों का विचार न करनेवाले दल ने तरकीब निकाली कि हमारे समाज के दूसरे बड़े अंग मध्यम वर्ग (Petit bourgeoisie) की सहायता कैसे प्राप्त की जा सकती है। वे भी निराश हो चुके थे। बस एक बार सिक्के का पूर आया और बाज़ार एकदम चढ़ जाने के सबब उसमें उनकी आय मँहगाई में उड़ गई थी और नीचे-ऊपर दोनों तरफ़ से बड़ी शक्तियों—आस्मानी और सुल्तानी—के बीच वे पिस गये थे। अगर कोई ऐसा वर्ग था जिसने दूसरों की अपेक्षा अधिक हिटलर की जीत कराई तो वह यही मध्यम वर्ग था जिसे कार्ल मार्क्स के अनुयायी बहुधा भूल जाते हैं और घृणा करते हैं।

लेकिन भारत से गांधीजी इन पश्चिमी क्रान्तियों को चुनौती देते हैं। औद्योगिक मज़दूर, मध्यम वर्ग, बुद्धिवादी, सम्पत्तिवान्, ये सब दल जो शक्ति के लिए पश्चिम में होड़ लगा रहे हैं, इस बुनियादी बात को भूल जाते हैं कि आदमी का पेट तो भरना ही चाहिए। मशीनों को वह नहीं खा सकता, व्यापार को वह नहीं खा सकता। स्कूल की किताबों को भी वह नहीं खा सकता, न डिवीडेंडों (मुनाफ़ों) को ही खा सकता है। इन सब चीज़ों के बिना भी आदमी जीवित रह सकता है। लेकिन वह रोज़ाना रोटी या चावल पाये बिना जीवित नहीं रह सकता। और अपने दैनिक भोजन के लिए जिसे सभ्य और शहरी आदमी साधारण बात समझते हैं, उसे अन्तिम रूप से हिन्दुस्तान, चीन, पूर्वी यूरोप, कनाडा, अर्जेण्टाइन, ट्रोपीकल अफ़्रीका के लाखों मूक और बहुधा अधभूखे किसानों पर निर्भर रहना पड़ता है। किसान इन तमाम देशों में प्रत्येक वर्ष उस अन्न को पैदा करने के अर्थ, कि जिससे लोग जीवित रहते हैं, धूप, हवा और मेह का उपयोग करने के लिए (जो कितनी बार बहुधा उसे धोखा देते हैं) कितना हाथ-पैर पीटता ह! हज़ारों वर्षों से, पुश्त-दर-पुश्त वे इसी तरह रहते आ रहे हैं। युद्ध और क्रान्तियाँ उनके परिश्रम के फल को थोड़े समय के लिए नष्ट करती हुई गुज़र गई हैं, सूखा और बाढ़ उन्हें नष्ट करते रहे हैं। अन्त में अब उन्हें एक सहारा मिला है: महात्मा गांधी।

भारतवर्ष के करोड़ों आदमियों में ऐसा शायद ही कोई आदमी मिलेगा जो गांधीजी का नाम न जानें। पहाड़ी जातियाँ और मूल-निवासी तक ग़रीबों के इस मित्र और रक्षक को जानते हैं और उससे प्रेम करते हैं।

यद्यपि उन्होंने वकील का शिक्षण प्राप्त किया था, फिर भी वह पुनः किसान बन गये हैं; किसान के मामूली कपड़े पहनकर, और एक कोने में पड़े और पिछड़े हुए, ऐसे गँवार और रूढ़ि-पसन्द गाँव में रहकर कि जिसे ख़ुद महात्मा के प्रयत्न करनें पर भी स्वयं साफ़-सुथरा और आधुनिक ढंग का बनना पसन्द नहीं है, अपने बाहरी जीवन में ही नहीं, बल्कि इससे भी बढ़कर अपनें हृदय और मस्तिष्क से भी वह किसान बन गये हैं। वह संसार को एक किसान, चतुर, बेलिहाज, साफ़, सरल, कभी-कभी कुछ रूखे, विनोद-प्रिय, दयावान और संतोषी की दृष्टि से देखते हैं। वह अगाध

धार्मिक हैं, जीवन को समष्टि रूप से देखते हैं और जानते हैं कि अदृश्य शक्तियाँ अगम्य रीति से काम कर रही हैं, हालाँकि बहुधा हमें उनकी झलक दिखाई पड़ सकती है, अगर हम मौन रहकर उसे देखना और ग्रहण करना चाहें।

जब भारत में छः महीने घूमने के बाद पहली बार १९२८ के वसंत में साबरमती में मैं गांधीजी से मिला था तब उन्होंने जो शब्द मुझसे कहे थे उन्हें मैं कभी नहीं भूल सकता। मैंने उनसे पूछा, "अपने घर इंग्लैण्ड पहुँच कर मैं क्या कहूँ ?" उन्होंने उत्तर दिया, "अँग्रेजों से कहिए कि वे हमारी पीठ पर से उतर जायँ।" सोचिए, इसमें कितना गहरा अर्थ है, ध्येय के बारे में ही नहीं, बल्कि उन साधनों के बारे में भी, जिनसे ध्येय सिद्ध किया जा सकता है।

क्योंकि एक ध्येय-मात्र में ही, जोकि उनके सामने है, गांधीजी हमारे युग के दूसरे क्रान्तिकारी नेताओं से भिन्न नहीं हैं, शायद उससे भी अधिक महत्वपूर्ण वे साधन हैं जिन्हें वह उस ध्येय की पूर्ति के लिए काम में लाते हैं। भारतीय मामलों में सक्रिय भाग लेने से पहले १९०८ में लिखी गई उनकी पुस्तक 'हिन्द-स्वराज'[१] में उन्होंने लिखा है—"बादशाह अपने शाही शस्त्रों को सर्वदा प्रयोग में लायँगे। बल्कि बल-प्रयोग तो उनके रगरग में रमा हुआ है।...किसान तलवार से वश में नहीं हुए हैं। कभी होंगे भी नहीं। तलवार चलाना वे नहीं जानते और न दूसरों द्वारा चलाई गई तलवार से ही वे भयभीत होते हैं।" इसलिए किसान-स्वराज्य, किसान-राज्य या किसान-स्वतंत्रता जोकि गांधीजी का उद्देश्य है, उन्हीं तरीक़ों से मिलनी चाहिए जो उनके सामने के ध्येय के अनुकूल हैं। वे लोग, जिनका ध्येय मनुष्यों का शासक बनना है, तलवार से काम लेते हैं। हरेक शासक वर्ग का यह शस्त्र है। और जब समाजवादी या साम्यवादी, या नाज़ी या फासिस्ट, 'शासक वर्ग' को उसीके शस्त्रों से नष्ट करने को उद्यत होते हैं तो उनकी सफलता केवल एक शासक वर्ग को हटाकर दूसरा शासक वर्ग ला रखती है। धरती के मालिक, बैंकों के मालिक या कारखानों के मालिक-वर्ग के हाथों में रहने की अपेक्षा वह तलवार कम्यूनिस्ट, फासिस्ट या नाज़ी दल के हाथ में चली जाती है। मामूली नागरिक तब भी पद-दलित ही किये जाते हैं और एक नई शासक व्यवस्था लोगों की पीठ पर चढ़ जाती है सो अलग।

लेकिन गांधीजी शासक-जाति या जमात के बोझ को सर्वदा के लिए किसानों की पीठ से हटा देना चाहते हैं। वर्तमान शासकों को इसलिए नहीं हटाना चाहते कि उनके बाद उनके भाई सवार हो जायँ। इसलिए उन्होंने एक ऐसे शस्त्र के निर्माण में अपना जीवन लगाया है, जिसको, क्या शरीर से दुर्बल और क्या मज़बूत, सभी चला सकते हैं। उनसे शिक्षा पाकर वे अपनें पैरों पर सीधे खड़ा होना सीखते हैं और भारी बोझों के नीचे अब झुके नहीं रहते।

१. 'सस्ता साहित्य मण्डल' से प्रकाशित। दाम ≡)

गांधीजी कहते हैं कि किसी को अपनी पीठ से उतारने के लिए उसकी पीठ पर सवार होने की अपेक्षा उसे तबतक सहयोग देनें से इन्कार कर देना उचित ह जबतक वह वहाँ रहे। अन्त में उसे नीचे उतरना पड़ेगा और उसे टेकन या सहारे को कुछ भी नहीं मिलेगा। मगर आप उसकी बराबर सहायता न करेंगे तो वह आपको हर प्रकार के दण्ड की धमकी दे सकता है। अपनी धमकियों को वह कार्य में भी परिणत कर सकता है; लेकिन अगर दण्ड और मृत्यु पर आपने हँसना सीख लिया है तो उसकी धमकियाँ और तलवार तक भी आपको विचलित नहीं कर सकेंगी। दबाव से वह ऐसा काम आपसे नहीं करा सकता है जिसे आपकी आत्मा कहती है कि ग़लत है।

कार्य के इस अहिंसात्मक तरीक़े को सक्रिय रूप से काम में लाने के पहले बहुत भारी कठिनाइयों पर विजय पानी होगी। तोप के गोलों के सामने डटे रहने के लिए तो उस दशा में भी सिपाहियों को तैयार करना कठिन है, जबकि उन्हें जवाब में गोली चलाने का अधिकार है। निश्चय ही उससे कठिन लोगों को यह सिखाना है कि वे बिना अपनी रक्षा किये हर प्रकार का बलात्कार और ज्यादती अपने पर स्वीकार करलें। तीस बरस पहले गांधीजी ने घोषणा की थी कि निष्क्रिय प्रतिरोधक (या जिन्हें अब वह 'सत्याग्रही' कह कर पुकारते हैं, अर्थात् वे जोकि पशु-बल के प्रयोग की अपेक्षा आत्मिक-बल का प्रयोग करते हैं) "ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, सत्य और अभय का पालन करे।" हर युग में ऐसे पुरुष और स्त्रियाँ हुए हैं जिन्होंने इस अजेय अहिंसात्मक जीवन के रहस्य को जान लिया है। जर्मनी के ईवनजैलीकल पादरियों के जेल से हाल ही में आये पत्रों के पढ़ने से प्रमाणित होता है कि पूर्व की भांति पश्चिम में अब भी ऐसे चरित्र का निर्माण किया जा सकता है। और यदि, या जब, बहुसंख्यक लोग ऐसे दृढ़-चरित्र हो जायँगे तो मानव की स्वतंत्रता, और मानव का आदर्श समाज सामने दिखाई देंगे।

यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि गांधीजी जो अपने शान्ति और स्वतंत्रता के सिपाहियों से पूर्ण आत्मानुशासन की आशा करते हैं, 'जनता' की बात नहीं करते। जब आप तोप के गोलों की परिभाषा में सोचते हैं, चाहे साम्राज्य स्थापित करने के लिए या क्रान्ति के लिए, तब स्वभावतः आप मानव-प्राणियों की पशु-समाज में गणना करते हैं। लेकिन गांधीजी के लिए 'लाखों करोड़ों' में से प्रत्येक स्त्री-पुरुष एक-एक व्यक्ति है, जिसका व्यक्तित्व उतना ही पवित्र है, जितना उनका (गांधीजी का) अपना। वह एक बिल्कुल अनजान किसान तक से उतनी ही हार्दिकता के साथ मित्रता करना जानते हैं जितनी कि वह अपनी-जैसी शिक्षा के सतह के व्यक्ति के साथ करते हैं। उनके लिए कोई भी पुरुष या स्त्री साधारण या अस्वच्छ नहीं है। यह केवल एक सुन्दर सिद्धान्त ही नहीं ह कि जिसका वह केवल उपदेश ही देते हैं, बल्कि वह तो उनकी दैनिक क्रिया है।

ऐसे युग में जब कि हिंसा को नित्य नया प्रोत्साहन दिया जा रहा है, जबकि पश्चिम की एकमात्र आशा ऐसे वृहत् शस्त्रीकरण की 'सामूहिक सुरक्षितता' है जिसे कि दृढ़-से-दृढ़ आक्रमणकारी भी पैदा नहीं कर सकता, जबकि एक लाट पादरी (आर्चबिशप) भी यही सलाह देते हैं कि ध्येयगत शान्ति के लिए प्रथम कार्य यह हो कि "शक्ति का संग्रह न्याय के पक्ष में किया जाय", तब हमारी आँखों के सामने—अगर हम उन्हें खोलें और देखें—एक आदमी है, जिसका शरीर दुबला-पतला है, स्वास्थ्य जिसका आशाप्रद नहीं है, बड़ी भारी योग्यतायें भी जिसमें नहीं हैं, जो अपने ही जीवन में अपने भारतीय साथियों पर प्रभाव डालनेवाली अपनी जादू की-सी शांति से दिखा रहा है कि आदमी की आत्मा जब स्वर्गीय तेज से प्रज्ज्वलित हो उठती है तो वह अत्यन्त शक्तिशाली शस्त्रीकरण से भी अधिक मज़बूत होती है।

विनम्र व्यक्ति अब भी संसार में अपने अधिकार प्राप्त कर सकते हैं, यदि वे केवल अपनी विनम्रता में श्रद्धा रक्खें, यदि वे हिटलर या स्टेलिन के भय को छोड़ दें, यदि वे हमारे युग के इस सबसे महान् शिक्षक की ओर आशा से देखें।

## : ३ :

# एक मित्र की श्रद्धाञ्जलि

**सी॰ एफ़॰ एण्डरूज़**

**[ शांतिनिकेतन बोलपुर, बंगाल ]**

इस लेख में मेरा उद्देश्य तीन प्रकार का है। पहिले, मैं अपने पाठकों के सामने महात्माजी के चरित्र के गूढ़तर धार्मिक पहलू की रूपरेखा खींचने का प्रयत्न करूँगा। दूसरे, उनके व्यक्तित्व के मानव-समाज से सीधा सम्बन्ध रखनेवाले पहलू पर प्रकाश डालूँगा। और तीसरे, मैं संक्षेप में उन बातों का ज़िक्र करूँगा जिन्हें मैं वर्तमान युग में मनुष्य-जाति के उत्थान के प्रति महात्माजी की दो मूलभूत देन मानता हूँ।

१

कुछ ऐसे मूल धार्मिक तत्त्व हैं जिनपर महात्माजी सबसे अधिक ज़ोर देते हैं। उनकी मान्यता है कि उनके ज़रिये मरणधर्मा मनुष्य भी परमात्मा के भय से संसार में चिरस्थायी काम कर जा सकता है।

इनमें पहला गुण है, सत्य। वह इसे एक दैवी गुण मानते हैं। वह न सिर्फ़ मनुष्यों के शब्दों और कार्यों में प्रकट होना चाहिए, प्रत्युत अन्तरात्मा में भी उसका प्रकाश चाहिए। झूठ न बोलना ही सत्यपालन के लिए पर्याप्त नहीं यद्यपि यह इसका एक आवश्यक अंग है। उनके विचार के अनुसार सब सत्यों का आदिस्रोत हृदय है।

सत्य कितना महान् है, यह इसी बात से मालूम पड़ सकता है कि वह इसे परमात्मा से नाम के लिए प्रयुक्त करते हैं। अहर्निश उनकी जबान पर एक ही सूत्र रहता है—"सत्य परमात्मा है और परमात्मा सत्य है।" उनका दैनिक जीवन इस बात का प्रमाण है कि वह सत्य की कितने उत्साह से आराधना करते हैं। इसलिए किसी भी अंश में सत्य से परे होनें का अर्थ है दिव्य स्रोत से दूर जा पड़ना और परिणाम-स्वरूप आध्यात्मिक दृष्टि से हमेशा के लिए मर जाना। यह प्रकाश की जगह अन्धकार में चलने के समान है। महात्माजी की यह दैनिक प्रार्थना—

**असतो मा सद्गमय**
**तमसो मा ज्योतिर्गमय**
**मृत्योर्माऽमृतं गमय ।**

इसे तीन रूप में व्यक्त करती है। प्रकाश और अन्धकार तथा अमरत्व और आध्यात्मिक मृत्यु, ये सत्य और असत्य के इसी मूल भेद के दूसरे पहलू हैं।

दूसरा तत्त्व जिसका आदिस्रोत परमात्मा है, अहिंसा है। अगर इसका हम अक्षरशः अनुवाद करना चाहें तो इसे न-सताना कह सकते हैं। मगर महात्मा गांधी के लिये इसका उससे कहीं अधिक अर्थ है। उसमें दूसरों का स्वयं हित करना भी आता है। जहाँतक युद्ध और रक्तपात का प्रश्न है, अहिंसा का अर्थ है इनमें भाग लेनें से एकदम इन्कार कर देना। लेकिन वह अर्थ यहीं समाप्त नहीं हो जाता, वह पूरा तब होता है जब हम अधिक-से-अधिक कष्ट उठाकर उनका हृदय जीतने को तत्पर हो जाते हैं जो हमारे साथ बुराई करते हैं। सार रूप में—यह भी सत्य की तरह ही परमात्मा का अपना स्वरूप है। **'अहिंसा परमो धर्मः'** एक पुरातन और पवित्र मन्त्र है जिसका अर्थ है 'अहिंसा सबसे बड़ा धार्मिक कर्तव्य है।' इसीलिए महात्मा गांधी अपना सारा जीवन इस 'परमधर्म' की सम्भावनाओं का पता लगाने और उनका सत्य के साथ समन्वय करने में बिता रहे हैं। अहिंसा का सिर्फ़ यह अर्थ नहीं कि असत्य के मुक़ाबिले में निष्क्रिय प्रतिरोध किया जाय। इसमें उसका सक्रिय प्रतिरोध भी शामिल है। मगर यह क्रोध, ईर्ष्या और हिंसा के बग़ैर होना चाहिए।

तीसरा महत्वपूर्ण तत्त्व, जिसपर महात्माजी सर्वाधिक ज़ोर देते हैं, ब्रह्मचर्य है। वह बताते हैं कि यह संज्ञा ही संस्कृत के 'ब्रह्म' शब्द से बनी है, जिसका अर्थ है परमात्मा। पुरातन काल से चली आती हुई अन्य मान्यताओं के समान वह मानते हैं कि इन्द्रिय अर्थात् भोगक्रिया के दमन और फिर उस शक्ति के ऊर्जसन ( Sublimation ) से मनुष्य में एक अद्भुत आत्मशक्ति और दैवी तेज प्रकट होता है। सत्य और अहिंसा के सच्चे अनुयायी को ब्रह्मचर्य का भी सच्चा पालक होना चाहिए और उसे संयम के साथ जीवन बिताकर संसार के सामनें आदर्श उपस्थित करना चाहिए। महात्माजी विवाह को भी मानव कमज़ोरी के लिए एक रियायत मानते हैं। दूसरे शब्दों

में यह कहा जा सकता है कि संभोग-कर्म से एकदम दूर रहकर इस विषय में विचार तक भी न करने को महात्माजी आत्मिक जीवन का, जिसे पुरुष और स्त्री दोनों प्राप्त कर सकते हैं, सबसे ऊँचा स्वरूप मानते हैं। यहाँ मैं यह ज़िक्र किए बग़ैर नहीं रह सकता कि वह ब्रह्मचर्य और तपस्या के सिद्धान्त में इतनी दृढ़ता से विश्वास करते हैं कि वह उन्हें अति तक लेगया है। इसी तरह उनका आमरण अनशन, जो तबतक जारी रहता है जबतक कि उन्हें उस अनशन के उद्देश्य में सफलता नहीं मिलती, मेरी समझ से बाहर की चीज़ है। यह मेरी रुचि के विरुद्ध पड़ता है और इस बारे में उनसे कई मर्तबा मैं अपने विचार प्रकट भी कर चुका हूँ।

महात्माजी मुख्यतया एक धार्मिक मनुष्य हैं। वह परमात्मा की कृपा के अतिरिक्त और किसी भाँति बुराई से पूर्ण छुटकारा पाने की कल्पना का विचार तक भी अपनें हृदय में नहीं ला सकते। इसलिए प्रार्थना उनके सब कार्यों का सार है। सत्याग्रही के लिए, जो सत्य के लिए मरना अपना धर्म समझता है, सबसे पहली आवश्यकता इस बात की है कि वह परमात्मा में श्रद्धा रक्खे, जिसका गुण (प्रकृति) है **सत्य** और **प्रेम**। मैंने उनके सारे जीवन को अन्तरात्मा की पुकार के अनुसार, जो उन्हें मूक प्रार्थना में सुनाई देती है, क्षणभर में बदलते पाया है। महान् क्षणों में वह एक विशेष वाणी सुनते हैं जो उनसे बात करती है, और दुर्धर्ष आश्वासन के साथ बात करती है, और जब वह इसे सुन लेते हैं तो कोई भी पार्थिव शक्ति उन्हें इस आवाज़ के, जिसे वह परमात्मा की वाणी समझते हैं, अनुसार कार्य करने से नहीं रोक सकती।

गीता उनकी सार्वजनिक प्रार्थना का एक अंग है। इसका वह हमेशा पाठ करते हैं। और जितना ही वह गीता का पाठ करते हैं उतना ही उसमें आत्मिक जीवन का जो मार्ग कहा गया है, उसपर उन्हें अधिकाधिक विश्वास होता जाता है।

अगर मैं उनके लम्बे और घनिष्ट अनुभव से उनको ठीक तरह समझ सका हूँ तो उनके परमात्मा-सम्बन्धी विचारों में हमेशा एक सहज श्रद्धालुता रहती है, जैसे सदा किसी मालिक की आंख उनपर हो।

## २

अब हम उनके मानवीय रूप पर विचार करें। इसमें कुछ ऐसी मृदुल-मधुर बातें मिलती हैं जो चित्त को प्रेम-मग्न कर देती हैं। इन्हें सदैव उस कठोर तपस्या के साथ रखकर देखना चाहिए जिसका मैंने ऊपर अभी चित्र खींचा है।

कई साल पहले मैं महान् फ्रांसीसी लेखक रोमां रोलां द्वारा महात्माजी के बारे में लिखे गये उस लेख से बहुत प्रभावित हुआ जिसमें उन्होंनें गांधीजी को 'वर्तमान युग का **'सन्त पाल'** बताया था। इसमें मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि जैसे वास्तव में ही एक बहुत बड़ा सत्य निहित हो। क्योंकि गांधीजी संत पाल की भाँति धार्मिक पुरुषों की उस श्रेणी के हैं जो द्विजन्मा होते हैं। उन्होंनें अपनें जीवन में एक विशेष क्षण में

मानव आत्मा के उस भयंकर कम्पन को अनुभव किया जो मानों कायाकल्प कर देता है। अपने प्रारम्भ के दिनों में महात्माजी ने लगन के साथ बैरिस्टरी का जीवन बिताया था, उनकी मुख्य महत्वाकांक्षा थी सफलता। अपने पेशे की सफलता, लौकिक और सामाजिक सफलता, और गहरे जावें तो, राष्ट्र का नेता बनने की सफलता।

वह दक्षिण अफ़्रीका अपने काम पर वकील के रूप में, एक महत्वपूर्ण मुक़दमे में जिसमें दो बड़े भारतीय व्यापारी फँसे हुए थे, पैरवी करने के लिए गये थे। इस समय तक उन्हें काले और गोरे रंग के भेद का बहुत दूर से ही ज्ञान था; लेकिन उन्होंने इस पर यह कभी नहीं सोचा था कि अगर काले भारतीय होनें के कारण किसीने उनके जिस्म पर हमला किया तो उसका क्या अर्थ होगा? मगर जब यह पहली दफ़ा डरबन से मैरित्सबर्ग गये तो उन्हें रास्ते में यह दुःखद अनुभव अपने पूरे नग्न-रूप में हुआ। एक रेलवे के अधिकारी ने उन्हें रेल के डिब्बे में से उठाकर बाहर पटक दिया; और यह सब तब हुआ जबकि उनके पास फर्स्टक्लास का टिकिट था। डाकगाड़ी उनको बिठलाये बिना ही आगे चली गई। रात बहुत चली गई थी और महात्माजी ने देखा कि वह एकदम अजनबी स्टेशन पर थे जहाँ कोई भी व्यक्ति उनको नहीं जानता था। इस अपमान को सहन करने और रातभर ठंड में सिकुड़ने के पश्चात् उनके हृदय में दो भावों में ज़बर्दस्त संघर्ष शुरू हो गया। एक भाव कहता था कि उन्हें इसी समय टिकिट लेकर जहाज से भारत वापस चले जाना चाहिए तथा दूसरा भाव कहता था कि नहीं, उन्हें भी उन कष्टों और मुसीबतों को अख़ीर तक सहना चाहिए जिन्हें उनके देशवासी रोज़ाना सहते हैं। सुबह होने से पूर्व ही उनकी आत्मा में एक प्रकाश उदित हुआ। उन्होंने परमात्मा की दया से मर्द की भाँति बढ़ चलनें की ठानी। अभी तो ऐसे अपमान जाने कितने उन्हें सहनें थे। और दक्षिण अफ़्रीका में उनके मौक़ों की कमी न थी। पर जब चले तो चल ही पड़े, लौटने की बात कैसी?

मैंने गत नवम्बर मास में महात्माजी के मुख से स्वयं इस रात की कहानी सुनी। वह डाक्टर मॉट को सुना रहे थे। उन्होंने साफ़ कहा कि उनके जीवन में यह एक परिवर्तनकारी घटना थी जिसके बाद से उनका एकदम नया ही जीवन प्रारम्भ हुआ।

महात्माजी में और भी कई ऐसे गुण हैं जिनकी तुलना तापसी संतपाल के चरित्र में मिलती हैं। वे हैं—परमात्मा में अगाध निष्ठा, जो उन्हें मनुष्य के सामने झुकने की कभी इजाज़त न देगी, पाप और विशेषकर शारीरिक पापों के विषय में भीषण आतंक की भावना, सबसे अधिक प्रिय जनों के साथ सख़्ती ताकि वह उनसे की गई आशा से कम न उतरें और इसके साथ ही उनमें मन की एक ऐसी सकरुण कातरता है, जो उन्हें ग़लत समझे जाने पर, मानो सहानुभूति की याचना कर उठती है।

उनमें इससे भी अधिक कई गुण हैं, जो उन्हें असीसी के संत फ़्रांसिस के समीप

ले आते हैं। दरिद्रता और ग़रीबी को उन्होंने वरण ही कर लिया है। आज हम उन्हें सचमुच "सेगाँव का एक मामूली दीन" कह सकते हैं, क्योंकि वह वहाँ पददलितों और ग़रीब ग्रामीणों में उनके भार में हिस्सा बँटाते हुए रह रहे हैं। दो अवसरों पर मुझे उनकी संत फ़्रांसिस के साथ की यह समानता प्रकाश की भाँति स्पष्ट हो गई है।

पहिला अवसर तो डरबन के पास फ़िनिक्स में मिला। दिन और रात के मिलने का समय था। अँधेरी संध्या का सर्वत्र राज्य था। हम आश्रम में थे। महात्माजी तमाम दिन ग़रीबों में अथक काम करते रहने के बाद विस्तृत आकाश में, एक वृक्ष के नीचे थके-माँदे, इतने थके हुए कि आदमी इसकी कल्पना भी मुश्किल से कर सकता है, बैठे हुए थे। इतनी थकान में भी उनकी गोद में एक बीमार बच्चा था, जिसकी वह सेवा-परिचर्या कर रहे थे और जो कातर होकर प्यार के मारे उनसे चिपटा जा रहा था। वहीं पर एक जुलू लड़की भी, जो आश्रम के परे की पहाड़ी पर एक स्कूल में पढ़ती थी, बैठी हुई थी। अँधेरा बढ़ता जा रहा था, इसलिए महात्माजी ने इस अवसर पर मुझसे "भगवान प्रकाश दिखाओ" (Lead kindly light)प्रार्थना-भजन गाने को कहा। उस समय यद्यपि महात्माजी इस समय की अपेक्षा पर्याप्त जवान थे, फिर भी उनका दूबला-पतला शरीर दुःखों से, जिन्हें वह एक क्षण के लिए भी टाल नहीं सकते थे, बहुत क्षीण और थका हुआ प्रतीत हो रहा था; लेकिन इस क्षीण और थकित शरीर के भीतर की उनकी आत्मा उस समय एक दिव्य प्रकाश से चमक उठी जबकि प्रार्थना-गीत ने रात्रि की निस्तब्धता को भँग किया।

उस गीत का अन्तिम चरण इस प्रकार था :—

**तबतक जबतक, रात्रि अंधेरी रम्य उषा में आ बदलो।**
**खोये चिरप्रिय देवदूत वे मुसकाते फिर मुझे मिलो॥**[१]

जब गीत समाप्त हुआ तो चारों ओर नीरवता थी। मुझे अब तक याद है कि उस समय हम कितनें चुपचाप बैठे हुए थे। यह भी याद है कि इसके बाद महात्माजी उस चरण को मन ही मन में दोहराते रहे थे।

दूसरा अवसर उड़ीसा में मिला। वह जगह यहाँ से नज़दीक ही थी, जहाँ मैं इस लेख को बैठा लिख रहा हूँ। महात्माजी मरणासन्न हो चुके थे; क्योंकि उनपर यकायक ही हद दर्जे की थकान की पस्ती छा गई थी और ख़ून का दवाव चढ़ इतना गया था कि ख़तरे की बात थी। बीमारी का तार मिलते ही मैं रातोंरात गाड़ी में बैठकर उनके पास मौजूद रहने के लिए चल दिया। पास पहुँचा तो मैंने उन्हें सारी रात बेचैनी से गुज़ारने के बाद उगते सूर्य की ओर मुँह किये हुए लेटे पाया। हमने अभी

**१. मूल अंग्रेजी पद्य इस प्रकार है :—**

And with the morn those angel faces smile,
Which I have loved long since and lost a while.

बातचीत शुरू ही की थी कि दलित जाति की सबसे निचली श्रेणी का एक आदमी अपनी फ़रियाद लेकर उनके पास आया। क्षणभर में ही मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि जैसे उनकी अपनी बीमारी बिलकुल दूर होगई है। आदमी नीचे धरती पर लेटा हुआ था। उस निर्दय अपमान पर जिसने उसे मनुष्य के दर्जे तक नीचे गिराया था, उनका जी वेदना से फटने-सा लगा था।

३

दो बातें हैं, जिनके कारण महात्मा गांधी का नाम आज से सैकड़ों साल बाद भी अमर रहेगा। वे हैं (१) उनका खादी कार्यक्रम और (२) सत्याग्रह का उनका आचरण।

(१) आज के, इस मशीनयुग में महात्माजी पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने संसार के किसानों में ग्रामीण व्यवसायों और घरेलू उद्योगधन्धों को बड़े पैमाने पर पुनर्जीवित किया है उन्होंने इसे इसलिए शुरू किया था कि किसानों को साल के उन दिनों में भी कुछ काम मिल जाय जबकि उनके खेतों पर कोई काम नहीं होता और वह घर पर ख़ाली बैठे रहते है। भारतवर्ष में यह समय हर साल में चार या पांच महीने रहता है। पहले ज़माने में मशीनें नहीं थीं। कातने, बुनने और अन्य ग्रामीण व्यवसायों में परिवार का प्रत्येक आदमी, यहाँ तक कि छोटे-से-छोटे बच्चे भी, लगे रहते थे और रोज़ाना के काम के लिए घर पर ही ख़ासा मज़बूत कपड़ा कात और बुन लिया जाता था।

यह कहना ग़लत नहीं होगा कि मनुष्य-जाति का कम-से-कम आधा भाग ऐसा है जो इस प्रकार की सामयिक बेकारी से पीड़ित है। इसका एक बड़ा कारण मशीन के कपड़े का बड़ी तादाद में पैदा होना है। जिसने अपने सस्तेपन के कारण आहिस्ता-आहिस्ता गृह-व्यवसायों और उद्योग-धन्धों को चौपट कर दिया है।

गांधीजी पहले व्यक्ति हैं जो इस बात में जीता-जागता विश्वास रखते हैं कि घरेलू धंधों का पुनरुज्जीवन अब भी सम्भव है और इनसे ग्रामीणों को न सिर्फ़ शारीरिक प्रत्युत नतिक भूख की पीड़ा से भी बचाया जा सकता है। उन्हें इस दिशा में लाखों हृदयों में आशा का सञ्चार करने में कामयाबी भी मिली है। उनकी प्रतिभा हिंदुस्तान की चहार-दीवारी तक ही सीमित नहीं रही है। चीन में युद्ध के दबाव के कारण किसानों ने स्वयं ही रुई बोना, उसे कातना और बुनना भी शुरू कर दिया है। यह भी बिलकुल सम्भव है कि कनाडा और दूसरे अधिक ठंडे उत्तरी ध्रुव-प्रदेशों में भी सर्दियों के लम्बे और अँधेरे दिनों में इस प्रकार के घरेलू उद्योग-धन्धे फिर चल पड़ें।

(२) अहिंसा का प्रतिपादन महात्माजी ने बड़ मौलिक तौर पर किया है। उसके द्वारा उन्होंने संसार को यह दिखा दिया है कि आज महज़ स्वेच्छापूर्ण कष्ट-सहन के बल पर किये गये सामूहिक नैतिक प्रतिरोध अर्थात् सत्याग्रह, द्वारा युद्ध की हिंसा पर भी विजय हो सकती है। दक्षिण अफ़्रीका में उन्हें इस दिशा में गौरवपूर्ण विजय मिली। ट्रांसवाल में जब उन्होंने ड्रेकन्सबर्ग की पहाड़ियों को पार करके अपनी

सत्याग्रही फौज का संचालन किया तो जनरल स्मट्स ने उनकी वह सब शर्तें मानली जो उन्होंने पेश की थीं। इतना ही नहीं जनरल स्मट्स ने यह भी स्वीकार किया कि नैतिक लड़ाई का यह तरीक़ा, जिसमें कोई भी हिंसात्मक हथियार प्रयुक्त नहीं किया जाता, ऐसा है कि उसका सामना नहीं हो सकता।

यह लेख अब ख़त्म हो रहा है और इन सब विषयों पर विस्तार से विवेचन करना यहाँ सम्भव नहीं है। अन्य लेखक शायद इसपर और प्रकाश डालें। मैं इस लेख को सन्त फ्रांसिस के साथ उनकी समानता का एक और उदाहरण देकर ख़त्म करूँगा। वह भी अपनी रोज़ाना की पोशाक में गांववालों का घर का कता और बुना हुआ मोटा खुरदरा कपड़ा ही पहना करते थे। इस प्रकार अपने युग में लोगों की दृष्टि में घर के कते कपड़े को सम्मान और प्रतिष्ठा दिलाने का श्रेय उन्हें है। सन्त फ्रांसिस भी सार-सीन लोगों की फ़ौज के बीच बिना हथियार लिये बेखटके जा पहुँचते थे कि उन्हें प्रेम का और शांति का सन्देश दें। अहिंसा के ठीक वही विचार सन्त फ्रांसिस में थे जो महात्मा गांधी के हृदय में आज बस रहे हैं इस प्रकार दोनों आत्मायें एक हैं। मगर अब महात्मा गांधी उससे भी आग बढ़ गये हैं और उनके 'सत्य के प्रयोग' दो महान् खद्दर और सत्याग्रह मनुष्य-जाति के जीवन में सामूहिक व्यवहार की वस्तु बन गए हैं। उनका अभी इतने वड़े पैमाने पर प्रयोग किया गया है कि मानव इतिहास में इसकी मिसाल मुश्किल है। इस भाँति वह दूसरे किसी भी महान् जीवित व्यक्ति से बढ़कर शांति के दूत और मनुष्य-जाति के कल्याण के विधाता हैं।

: ४ :

## गांधीजी का जीवन-सार

**जार्ज एस. अरुण्डेल**

**[ अध्यक्ष, थियोसोफ़िकल सोसाइटी, अदियार, मद्रास ]**

यह मैं अपना गौरव मानता हूँ कि गांधीजी के ७१वें जन्म-दिवस पर निकलने वाले अभिनन्दन-ग्रन्थ में योग देने के लिए मुझे कहा गया है। सच यह ह कि कोई ग्रंथ भारत के प्रति उनकी महान् और अनुपम सेवाओं का पूरा मान नहीं कर सकता। भारतवासी भी स्वयं आज उन सेवाओं का यथार्थ यशोगान और मान करने योग्य नहीं हैं। इसका निर्णय अगली सन्ततियों के पास है जबकि गांधीजी को समय के पक्षपात के अभाव में देखना सम्भव होगा। पर तो भी ऐसा ग्रन्थ उनके जीवन की अन्य निष्ठा के विभिन्न पहलुओं पर उपयोगी प्रकाश अवश्य डाल सकता है, फिर चाहे वह उनके समकालीन व्यक्तियों ही के द्वारा लिखा गया हो।

जिस रूप में कि मैं उनके जीवन को चीन्हता हूँ उसमें तीन बातें मुझे प्रधान दिखाई देती हैं। पहली और प्रमुख है उनकी निर्मल सादगी। दूसरी, अपनी मूल मान्यताओं पर प्रेम और तीव्र निष्ठा। और तीसरी, उनकी सहज-सम्पूर्ण निर्भीकता।

जहाँ जिस अवस्था में देखिये, सादा और व्यवस्थित उनका जीवन पाइएगा। और साधारण ऐसा कि हर परिस्थिति में हर को सुलभ। शोहरत की रोशनी सब कहीं हरदम उनको घेरे रहती है। पर उस सब प्रसिद्धि और व्यस्तता के बीच जैसे अनायास और सहज भाव से वह रहते हैं, वैसे यदि कहीं हम भी रह सकते होते तो? आत्मा उनकी संसार के आगे नग्न है। छोटी-से-छोटी आदतें उनकी सधी हैं और वह मौन की शक्ति का उपयोग जानते हैं, जो कि हममें से बहुत ही कम लोग जानते होंगे।

उनका जीवन एक पदार्थ पाठ है। नित्य-प्रति की साधारण-से-साधारण बातों में हम उनसे शिक्षा ले सकते हैं। दुनिया की कृत्रिमता और विषमता उनके पास आकर सुलझ रहती है और उनका व्यवहार सदासहज, अकृत्रिम और ईशनियमाधीन होता है। मानव-परिवार या समस्त जीव-परिवार को अगर कभी शान्ति और समृद्धि प्राप्त होनी है, तो इसी सहज नीति से प्राप्त हो सकेगी।

यह मैं एक क्षण के लिए भी नहीं कहता कि उनकी सब बातों की हूबहू नक़ल करनी चाहिए। लेकिन यह तो साग्रह कहता ही हूँ कि उनके जीवन की स्फूर्ति और भावना को हम अपनायें तो हमारा कल्याण होगा।

अपने एक निजी और विलक्षण रूप में अन्धकार से प्रकाश में आने का मार्ग उन्होंने दिखाया है। वह दूरांत प्रकाश देखते हैं और उधर संकेत करते हैं। हममें से कुछ उस आदि प्रकाश-स्रोत को देख न भी सकें, पर स्वयं उनके व्यक्तित्व का प्रकाश तो देखते ही हैं। और दूसरे के पास का भी प्रकाश, फिर वह हमसे चाहे कितना भी भिन्न हो, पथ-प्रदर्शन में हमारी सहायता ही करता है। आखिर तो प्रकाश सब एक ही है। हम ही उसे नाना रूप और आकार देते हैं।

उनके फैलाये कुछ प्रकाश का मैं उपयोग नहीं कर पाता हूँ। जिन बातों पर मैं ज़ोर देना चाहता हूँ उनके लिए शायद मुझे और कहीं से प्रकाश पाना पड़े। लेकिन जिन बातों पर वे ज़ोर देते हैं वे भी मेरी चुनी बातों को परखने में मुझे मदद देती हैं। इसलिए अपने मूल विश्वासों का इतना प्रत्यक्ष और सूक्ष्म ज्ञान रखने के लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ। क्योंकि जो भी अपने सिद्धान्तों पर निष्ठा से चलता है, जैसे कि गांधीजी चलते हैं, वह दूसरों में भी अपने सिद्धान्तों पर—चाहे वे कितने ही विभिन्न क्यों न हों—निष्ठा से चलने की प्रेरणा करता है। असल में, यह प्रश्न नहीं है कि किस की मान्यता क्या है और कितना उसमें बल है। सारा प्रश्न असल में साधक की निर्मल सत्य-निष्ठा का है।

अन्त में उनकी निर्भीकता, वह तो जैसे उनका सहज स्वभाव हो गया है, ऐसा मैं

कहूँगा। सहज है, इससे वह और भी स्पृहणीय है। उसके लिए कोई भारी तैयारी नहीं की जाती, कमर कसकर स्पर्धा नहीं ठानी जाती। और वहाँ तो कसने को हई क्या ? कोई आठों याम चौकी-पहरा नहीं, न किसी क़िस्म का तमाशा या प्रदर्शन ही नज़र आता है। कोई निर्भीकता का मौक़ा आता है और तत्क्षण अभय का प्रकाश उनके कृत्य में फूटकर चमक उठता है।

और जिसका मेरे मन में सबसे अधिक आदर है, वह तो यह बात है कि वह कभी ज़ोर की आवाज़ देकर, नारा उठाकर, भीड़ को अनुगमन के लिए उभाड़ते और बुलाते नहीं हैं। वह तो जैसे ज़ाहिर भर कर देते हैं कि उनकी निर्भीकता का क्रियात्मक रूप अबके यह होनेवाला ह। मानों उनके द्वारा जो होनेवाला है, उसीका भान उन्हें हो। होनहार के सिवा जैसे कुछ और उनसे हो नहीं सकता। ठीक यही बात मार्टिन लूथर के जीवन में मिलती है। वह भी कहा करता था कि जो मैंने किया उसके अतिरिक्त कुछ और मैं नहीं कर सकता था; और जो होना था वही मैंने किया। और फिर गाँधीजी तो बस आगे चल पड़ते हैं। कोई पीछे आता है तो अच्छा; नहीं आता है तो भी अच्छा ! और क्या हम अक्सर ही यही सच होता नहीं देखते कि जो अकेला चलना जानता है, यानी जो बिना संगी-साथी या अनुयायी की राह देखे अकेला चल पड़ता है, क्योंकि चले बिना वह रह नहीं सकता, उसी पुरुष को विजयश्री मिलती है ? भला उसे सफलता कब मिली है, जो किसी संकल्प के पीछे चल पड़ने से पहले सार्वजनिक आन्दोलन पैदा होगया देखना चाहता है।

गांधीजी की प्रकृति में ही अभय है। निर्भयता उनका सहज भाव है। सहज है, और यही उसका सौन्दर्य है। तभी तो जो राह में बाधक बनकर आते हैं उनका भी वह सत्कार और अभिनन्दन करते हैं। यह निर्भीकता ही है, जो शत्रु को मित्र बना देती है और युद्ध की नहीं शांति की सृष्टि करती है।

गांधीजी की राजनैतिक मान्यताओं और प्रवृत्तियों पर अपना अभिप्राय देनें की कोशिश मैंने की है। सच कहूँ तो मुझे चिन्ता भी नहीं कि वे क्या हैं। आखिर तो वे साध्य से अधिक साधन ही हैं। और सम्भव है कि इसे अपना—कौन कह सकता है कि सही या ग़लत ?—कर्तव्य मानकर उनकी इस या उस राजनैतिक प्रवृत्ति का सचाई और ईमानदारी के नाते मैं विरोध भी कर जाऊँ। क्योंकि असल में जिसकी मेरे निकट क़ीमत है वह स्थूल कर्म नहीं है; वह तो है उनकी सचाई, उनकी निष्ठा, उनका साहस, उनकी निस्वार्थता, लोकमत की स्तुति-निन्दा के प्रति उनकी उदासीनता, उनकी किसी को नुक़सान न पहुँचाने की प्रकृति और उनकी बन्धुत्व-भावना। जो जगत् को इन वस्तुओं का दान करता है, वह उन दाताओं से असंख्य गुना दानी है, जो दुनिया को क़ानून देते हैं, योजनायें देते हैं; सिद्धान्त, नीति या वाद देते हैं।

हमें आज जगत् में ज़रूरत है ऐसे पुरुषों की और ऐसी स्त्रियों की जो

विश्व-बन्धुत्व की भावना से ज्वलंत हों, सरल स्वभाव की महत्ता में जागरूक हों, जिनमें आदर्श की ऐसी अदम्य प्रेरणा हो कि वह आदर्श स्वयं जीवन से भी अधिक अनिवार्य और महत्त्वपूर्ण उनके लिए हो जावे, फिर वे सही माने जावें, या ग़लत मानें जावें,—सही-ग़लत का भेद किसने पाया है ?—लेकिन हृदय जिनका जगद्गर्भ में व्याप्त विराट् करुणा के सुर के साथ बजना जानता हो।

ऐसा पुरुष है गांधी ! और क्या कहूँ ?

: ५ :

# भारत का सेवक

## रेवरेण्ड वी. एस. अज़ारिया, एम. ए., डी. सी. एल.

[ बिशप दोर्णाकल, भारत ]

मुझे हर्ष है कि गांधीजी के ७१वें जन्म-दिवस के अवसर पर औरों के साथ मुझे भी उन्हें बधाई देने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

वर्तमान युग में किसी व्यक्ति का भारतीय जनता के निर्माण में ऐसा महत्त्वपूर्ण भाग नहीं है जैसा कि महात्माजी का है। यूरोप में तो सर्वसाधारण भारत को 'गांधीजी का देश' ही कहकर पुकारते हैं। रोम के पोप के महल के एक इटैलियन दरबान से हुई अपनी छोटी-सी बातचीत को मैं कभी नहीं भूल सकता। जब मैंने उसे अपना नाम और पता लिखकर दिया तो उसने मुझसे कहा—"भारत ?"

मैंने कहा, "हाँ।"

उसने फिर कहा, "गांधी ?"

जब उसके मुँह से एक हल्की मुस्कान के साथ 'गांधीजी' का नाम निकला तो मैं फ़ौरन समझ गया कि इसका अभिप्राय गांधीजी के देश से है और इसीलिए मैंनें इसके जवाब में 'हाँ' कह दिया। यह नौ साल पहले की बात है। मैं इटली में जहाँ भी कहीं गया, वहाँ-वहाँ मुझे लोगों के मुँह से गांधीजी का नाम सुनने को मिला।

दो साल पहले की एक और घटना मुझे इस प्रसंग में याद आ रही है। मैं उस समय संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में था और वहाँ एक हब्शियों के प्राइमरी स्कूल को देखने गया था। स्कूल के हेडमास्टर ने आग्रह किया कि मैं बच्चों को भारत के बारे में कुछ बताऊँ। मैंने उन्हें बताया कि मैं कहाँसे आरहा हूँ और इसी तरह की बच्चों को जानने लायक कुछ और बातें कहीं। मगर उसके बाद मैं खुद पशोपेश में पड़ गया कि इन बच्चों को और मैं क्या कहूँ। मुझे जो कुछ कहना था वह पाँच मिनट के भीतर समाप्त होगया। इसके बाद हेडमास्टर ने कहा कि अब बच्चे आपसे भारत के बारे में कुछ

प्रश्न पूछना चाहेंगे। एक ऊँची जमात की लड़की इसपर उठकर बोली कि गांधीजी के बारे में हमें कुछ बताइए। आप कल्पना कर सकते हैं कि भारत से इतने दूर स्थान पर और बच्चों की तरफ़ से इस प्रकार का प्रश्न पूछे जाने पर मुझे कितना आश्चर्य हुआ होगा! महात्माजी को तमाम संसार में भारत का महत्तम व्यक्ति, उसकी स्वाधीनता का दुर्धर्ष पोषक और उसकी प्रतिभा और आत्मा की श्रेष्ठतम प्रतिमूर्त्ति समझा जाता है।

हम लोग जो भारत में रहते हैं, जानते हैं कि यह आत्मा या भावना क्या चीज़ है। यह है लोकोत्तर सत्ता की अनुभूति और जीवन की सब घटनाओं में मानव की परमात्म-निर्भरता की स्पष्ट स्वीकृति, आधिभौतिक वस्तुओं पर नैतिक एवं आध्यात्मिक भावों की प्रधानता, और नैतिक एवं आध्यात्मिक उद्देश्यों की खोज और प्राप्ति में भौतिक और शारीरिक सुख-भोग के प्रति स्पष्ट उपेक्षा। कोई भी आदमी, जो भारत को जानता है, इस बात में तनिक भी सन्देह नहीं करेगा कि महात्माजी की महत्ता इन्हीं आदर्शों की महत्ता के कारण है।

सारा भारत उनके प्रति इस बात के लिए बहुत अधिक ऋणी और कृतज्ञ है कि उन्होंने उसके पुत्रों को फिर से इन आदर्शों को अपनाने लिए प्रेरणा दी है। समालोचना और उपहास के बावजूद दुनिया के सामने उस समय इन्हें रक्खा है, जबकि सब जगह इन आदर्शों के अपमानित किये जाने और रौंदे जाने का ख़तरा है। इस बढ़ते हुए भौतिकवाद के ज़माने में भी महात्मा गांधी ने लोगों को अध्यात्मवाद का अनुकरण करने और उसे स्वीकार करने की प्रेरणा दी है।

महात्मा गांधी ने भारत की एक और उल्लेखनीय सेवा की ह, जिसके कारण वह भारत-हितैषियों की कृतज्ञता और श्रद्धाञ्जलि के भाजन हैं। यह सेवा है पद-दलितों और नीच मानेजानीवाली जातियों का उद्धार। यद्यपि उनसे पहले भी धार्मिक सुधारकों ने जात-पांत की प्रथा का विरोध किया है मगर उनमें से किसीको भी भारत के विचारशील नर-नारियों के अस्पृश्यता-सम्बन्धी भावों में, इतनी आश्चर्यजनक क्रान्ति करने में सफलता नहीं मिली, जितनी कि महात्माजी को मिली। लेकिन हमें स्वीकार करना चाहिए कि हमारे लिए यह बहुत शर्म की बात है कि भारत का यह बहता हुआ नासूर अबतक उसी तरह बह रहा है। रूढ़िवादी सनातनियों के सम्पर्क के कारण यह ठीक होने नहीं पाता। मगर अब हिन्दू-भारत की आत्मा जाग्रत हो चुकी है, जात-पाँत के गढ़ डाँवाडोल हो चुके हैं, अब तो यह सिर्फ समय की बात रह गई है कि वह कब ढहते हैं और कब मिट्टी में मिलते हैं। महात्मा गांधी ने बुराई पर आक्रमण करने का जो तरीका ग्रहण किया है उसके बारे में मतभेद होसकते हैं। सभी, यहाँतक कि उन जातियों के लोग भी जिन्हें इनसे लाभ पहुँचा है, उसके परिणामों से असहमत हो सकते हैं। तथापि यह तो मानना ही होगा कि पिछले बीस बरस—नहीं दस बरस—

से अस्पृश्यता की समस्या के बारे में भारत का दृष्टिकोण एकदम बदल गया है और इसका बहुत कुछ श्रेय महात्मा गांधी को ही है।

आज हम उन्हें हार्दिक बधाई देते हैं। हम चाहते हैं कि वह हमारा नेतृत्व और प्यारे भारत की सेवा करते हुए और अनेक साल जियें।

: ६ :

# गांधीजी : सेतुरूप और समन्वयकार

**अरनेस्ट बारकर, एम. ए., डी. लिट्.**

**[ प्रोफ़ेसर राजनीतिविज्ञान, केम्ब्रिज विश्वविद्यालय ]**

गांधीजी की मुझे दो स्मृतियाँ याद हैं। क स्मृति नवम्बर १९३१ की एक रात की है जब वह गोलमेज परिषद् में भाग लेने लन्दन आये हुए थे और मेरे घर पधारे थे। दूसरी सन् १९३७ के मध्य दिसम्बर के एक मनोहर प्रात:काल की है। गांधीजी उस समय बीमारी से उठने के बाद बम्बई से कुछ उत्तर जुहू में ताड़ के पेड़ों की सरसराहट के बीच स्वास्थ्य-लाभ कर रहे थ। एक भारतीय मित्र मुझे दर्शन के लिए अपने साथ ले गये थे।

मुझे उनके केम्ब्रिज-दौरे की अबतक बहुत स्पष्ट स्मृति है। प्रार्थना के समय, जो एक कमरे में हो रही थी, उनके तथा कुमारी मीराबेन (मिस स्लेड) के साथ मैं सम्मिलित हुआ था। शाम को भोजन के उपरान्त वह हमारे घर आगये थे। आकर बैठक में चरखा कातते हुए हमसे बातें भी करते जाते थे। हमारी बातों के विषय बहुत ही सामान्य थे (मुझे अबतक ख़ूब अच्छी तरह याद है कि मैंने अँग्रेजी जीवन में फुटबाल के स्थान और रगबी तथा असोसियेशन के खेल के बीच विचित्र सामाजिक विभाजन का जब प्रसंग छेड़ा तो उन्होंने उसमें बहुत दिलचस्पी दिखलाई ); मगर य तो बातें सामान्य थीं। हमारी बातचीत के मुख्य विषय इनसे कहीं गहरे थे। इनमें से एक विषय था प्लेटो। मेरा ख़याल था कि इस बारे में प्लेटो से गांधीजी के विचार मिलते थे कि शासकों और राष्ट्र के प्रबन्धकों को थोड़े वेतन पर ही सब्र करना चाहिए। उन्हें इसी बात से अपनेको सन्तुष्ट कर लेना चाहिए कि उन्हें जो शासक या अधिकारी के रूप में सेवा करने का सौभाग्य मिला है वही क्या कम है? इससे अधिक उपहार या इनाम की इच्छा उन्हें नहीं करनी चाहिए। मैंने उन्हें दलील देकर विश्वास कराने की कोशिश की कि सरकार को अपना रौब और दबदबा रखना होता है और इसे रखने के लिए उसे विशेष परिस्थितियों और शान-शौकत की जरूरत होती है। इसलिए प्लेटो का उक्त सिद्धांत इस अर्थ में ठीक नहीं उतरता। मुझे याद नहीं आता

कि हम इस वादविवाद में किसी भी अन्तिम निर्णय पर पहुँच सके थे। किन्तु मुझे इतना अबतक याद है कि मैंनें उस समय साफ़तौर पर यह अनुभव किया था कि मैं उनसे कहीं नीची सतह पर रहकर दलील कर रहा हूँ।

दूसरा विषय, जिसपर हमारी बातचीत हुई और जो मुझे अबतक याद है, भारत की रक्षा का विषय था। मैं उनसे दलील कर रहा था कि आख़िरकार हिन्दुस्तान में शांति तो रक्खी ही जानी है; बाहर के आक्रमणों और डाकू-लुटेरों की लूट-खसोट का भी प्रबन्ध करना है; इसलिए भारत में उसकी रक्षा के लिए एक फौज का रहना अत्यावश्यक है। फिलहाल इस फ़ौज के आवश्यक ख़र्चों की गारण्टी ही की जानी चाहिए और उन्हें भारतीय असेम्बली के वोटों पर, जो किसी समय उनके एकदम ख़िलाफ़ और किसी समय उन्हें बहुत अधिक काट देने के हक़ में हो सकते हैं, नहीं छोड़ना चाहिए। गांधीजी ने इसका जवाब एक रूपक से दिया। कहा कि कल्पना करो कि कि एक गांव जंगल के जानवरों के उपद्रवों से तंग है। एक दयालु अधिकारी गाँववालों को गाँव के चारों ओर उसकी रक्षा के लिए एक बड़ी दीवार खड़ी करने को कहता है, ताकि गांववालों का जीवन और उनकी सम्पत्ति सुरक्षित रह सके। मगर गांववाले देखते हैं कि दीवार के बनाने के ख़र्च के एवज में उनपर इतना भारी टैक्स लद जाता है कि उनका जीवन-निर्वाह मुश्किल हो जाता है। इस हालत में क्या वह यह नहीं कहेंगे कि हम जंगल के जानवरों के उपद्रव का ख़तरा लेने को तैयार हैं, मगर हम जीवन-यापन को निश्चित करने के इस झमेले में, जो हमारी ताक़त से बाहर है, नहीं पड़ना चाहते?

इन दोनों विषयों पर बातचीत करने से मुझे गांधीजी के उन दो पाठों का ज्ञान हुआ जो उन्होंने संसार को दिये हैं। यह हैं—एक, प्रेम और प्रेम में की गई सेवा तथा दूसरा, अहिंसा। मुझे उस समय ऐसा प्रतीत हुआ जैसे मैं एक पैग़म्बर के सामने बैठा हूँ; मगर इसीके साथ मैंने यह भी अनुभव किया कि मैं एक उत्तरी देश के अंग्रेज़ की स्वाभाविक एवं आंतरिक भावना ( और शायद हरएक अँग्रेज की ही यह स्वाभाविक भावना है ) को नहीं छोड़ सकता, जो कहती है कि अच्छी सेवा का इनाम भी अच्छा दिया जाना चाहिए और उसके लिए जितना पैसा दिया जायगा उतनी ही वह बढ़ेगी; जो सुझाती है कि शांति और व्यवस्था कायम रखने के लिए युद्ध और अव्यवस्था से संघर्ष होना आवश्यक है और जो यह विश्वास करती है कि शांति और व्यवस्था उनकी रक्षा के प्रयत्न से ही कायम की जा सकती है। मगर यदि मैं एक अंग्रेज की इस आंतरिक भावना को नहीं छोड़ सका तो भी मुझे उस समय उस भावना से ऊँची एक हस्ती को स्वीकार करना पड़ा। काश मनुष्य यही स्वीकार करने को तैयार हो रहें—! ( और यदि कोई यह मान सकता है कि मनुष्य इस बात के लिए तैयार हैं तो शायद वह दूसरों में भी अपनी श्रद्धा से यह विश्वास जगादे और फिर मनुष्य सचमुच ही

तैयार हो जावे । जैसे कि मैंने ही स्वीकार तो किया, मगर मैं ही अपनी स्वीकृति और विश्वास को निष्ठा के बिंदु तक नहीं ला सका । )

गांधीजी के चले जाने के बाद मैं उन विभिन्न तत्त्वों के मिश्रण पर ग़ौर करने लगा जो उनमें पाये जाते हैं । मैंने उनमें सन्त फ्रांसिस को पाया, जिसने समस्त विश्व के साथ सामंजस्य और विश्व की सब वस्तुओं के साथ प्रेम अनुभव करते हुए ग़रीबी की सादी ज़िन्दगी बिताने की प्रतिज्ञा कर रक्खी थी । मैंने उनमें सन्त थॉमस एक्विन्स को भी पाया, जो संसार का एक महान् विचारक और दार्शनिक होगया है और जो बड़ी-बड़ी दलीलें देने में समर्थ तथा विचारों के सब तोड़-मोड़ों में उनकी बारीकियों से भली-भांति परिचित था । इन दोनों के अलावा मैंने उनमें एक व्यावहारिक मनुष्य को भी पाया, जिसके पास अपनी व्यावहारिकता को मज़बूत बनाने के लिए क़ानून की शिक्षा भी मौजूद थी और जो अपनी कुशल सलाह से लोगों को पथ-प्रदर्शन करने के लिए पहाड़ की चोटी से घाटी में भी उतर कर आ सकता था । यों तो हम सब मानव जटिल स्वभाववाले होते हैं, मगर गांधीजी तो मुझे हम सबसे अधिक जटिल प्रकृतिवाले मालूम पड़े । उनका एक अत्यंत मोहक और रहस्यमय व्यक्तित्व था । अगर वह केवल सन्त फ्रांसिस होते तो समझने में कठिनाई न थी । मगर वैसा एकांत संतपन क्या उतना मंगलमय और उनके देशवासियों के तथा संसार के लिए इतना लाभकारी और उपयोगी भी हो सकता था ? जब मैंने इस प्रश्न पर विचार किया तो मुझे उत्तर मिला—'नहीं ।' रहस्य है असल में समन्वय । विभिन्न तत्त्वों का मिश्रण ही व्यक्तित्व का सार सत्य है । वह संसार के लिए जो कुछ हैं और संसार के लिए जितना कुछ वह कर सकते हैं उसका कारण है उनका एक ही साथ एक से अधिक बहुत कुछ होना ।

यही बात मुझे इस लेख की अन्तिम और गाँधीजी की एक और मौलिक विशेषता पर ले आती है जिसका ज़िक्र किये बिना मैं नहीं रह सकता । मैंने अभी उन्हें वह मनुष्य बताया है जिसमें सन्त फ्रांसिस और सन्त थॉमस के साथ क़ानूनदां और व्यवहार-कुशल मनुष्य भी मिला हुआ है । इसीको मैं अधिक ठीक और दुरुस्त शब्दों में यों कह सकता हूँ कि वह भक्ति-परक और दार्शनिक धर्म की एक महान् भारतीय परम्परा और जाति के जीवन में नागरिक और राजनैतिक स्वतन्त्रता की पश्चिमी परम्परा—दोनों का एक अद्‌भुत सम्मिश्रण हैं । और क्योंकि गांधीजी में इन भेदों का समन्वय होगया है इसलिए वे एक महासेतु हैं । उन्हें अपने देश की राजनीति को लौकिक दृष्टि से परे की सतह पर प्रस्तुत और संचालन करने में भी खासी कामयाबी मिली है । धार्मिक परम्परायें इसमें पूर्ववत् क़ायम रक्खी गई हैं । वह सफलतापूर्वक ब्रिटिश लोगों को दिखा सके हैं कि न तो वह राजनैतिक आन्दोलनकारी हैं, न भारतीय राष्ट्रीय समस्या निरी राजनैतिक है । और उन्होंने न सिर्फ़ भारतीयों और ब्रिटिश लोगों के दर्मियान ही एक सेतु के रूप में प्रतिष्ठा पाई है प्रत्युत् पश्चिम ( यूरोप ) के तमाम

लोगों का ध्यान अपनी ओर उन्होंने खींच लिया है और सबके लक्ष्य का केन्द्र बन गये हैं। जो आदमी सांसारिक कर्म एवं आध्यात्मिक प्रेरणाओं को बिना परस्पर क्षति पहुँचाये मिला सकता है वह आज के विश्व का महामोहक और विराट् पुरुष हो रहे, तो इसमें सन्देह ही क्या हो सकता है।

इसलिए गांधीजी में तो आज मैं उस पुरुष का दर्शन और अभिनन्दन करता हूँ जिसनें ऐहिक अध्यात्म के साथ समन्वय साधा, जो दोनों में एकनिष्ठ रह सका। उनमें मैं उस व्यक्ति की स्मृति-प्रतिष्ठा भी करूँगा, जो पूर्व और पश्चिम के बीच ऐक्य का सेतु बना और जिसने इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में सद्भाव के प्रसार में सर्वाधिक योग दिया। और न ही मैं उनमें उस मनुष्य को भूल सकता हूँ जो अपने देश के जीवन की घरेलू और घनिष्ट आवश्यकताओं को समझ सका और उनकी घोषणा कर सका है। उनका चर्खा इसका प्रतीक ह। अगर आप किसी भारतीय गाँव को देखें ( और भारत तो गाँवों का एक महादेश ही है ) तो वहाँ आपको ग्रामीणों की अधिक पूर्ण जीवन बिताने और कार्यशक्तियों के अधिक विस्तृत उपयोग होने की आवश्यकता दारुण पुकार करती सुन पड़ेगी। अगर व्यवसायों को, कुछ थोड़ी-सी कपड़े की मिलों को बम्बई के चारों ओर तथा थोड़ी सी जूट-मिलों को कलकत्ता के उत्तर में बसाना-मात्र ही काफ़ी न समझकर इन भारतीय गाँवों में लाया जाय तो गाँवों का आसानी से उद्धार हो सकता है। और क्योंकि भारत का बहुत बड़ा भाग गाँव हैं, अतः गाँवों के उद्धार में समूचे भारत का लौकिक और आर्थिक उद्धार आप ही होगा। गांधीजी ने गाँवों के उद्धार के लिए जो भी कुछ किया है, वह उनकी देश के प्रति अन्यान्य महान् सेवाओं में गणनीय होगा।

ये विचार हैं जो गांधीजी के बारे सें मेरे मन में उस सब संपर्क से उदय होते हैं, जो मैंने उनके बारे में सुन, देख और पढ़कर पाया है। काश कि मैं अधिक जानता होता! अन्त में मैं यह कहकर अपना लेख समाप्त करता हूँ कि मेरे जानकारी के अनुसार गांधीजीने भारत तथा संसार को तीन बातें सिखाने की कोशिश की है। वह हैं (१) प्रीति और प्रीत्यर्थ कर्म (२) कर्ममात्र में हिंसा का परिहार (३) और दिमाग़ से ही नहीं प्रत्युत हाथ से भी काम करके जीवन में संपूर्णता लाने के लिए समस्त प्राप्त शक्तियों का सर्वांगीण समर्पण।

: ७ :

## ज्योतिर्मय स्मृति

**लारेन्स विनयान, सी. एच., डी. लिट्.**

**[ लन्दन ]**

मैं भारत के बारे में बहुत थोड़ा ज्ञान रखता हूँ। जो किंचित् रखता हूँ, वह उसकी कला के द्वारा। और क्योंकि मैं अनुभव करता हूँ कि उस देश की समस्याओं का वहाँ जाकर स्वयं अध्ययन किये बग़ैर कोई उसकी उलझनों के विषय में ठीक निर्णय नहीं दे सकता, इसलिए मैंने गांधीजी के राजनैतिक जीवन के सम्बन्ध में कुछ कहना ठीक नहीं समझा। यह भी कहने का मैं साहस करूँ कि मैं उनकी नीति की छोटी-से-छोटी बारीकियों को भी शायद नहीं समझ सकूँ। मगर इस समय में, जिसे इतिहास मनुष्य-जाति के लिए लाञ्छन के रूप में देखेगा, मैं दिन-प्रतिदिन अधिक तीव्रता से यह अनुभव करता जा रहा हूँ कि, आत्मा और मन की वस्तुएँ, या कि वे घटनायें ही जिनका इनसे उद्भव होकर क्रियात्मक जीवन में व्यवहार होता है, वास्तव में इस अस्तव्यस्त और क्षुब्ध संसार में सबसे क़ीमती और महत्व की है। वे ही सारभूत और वे ही स्थायी हैं। और जैसा मैं समझता हूँ, गांधीजी उन्हींके समर्थन में जीते हैं। और यही कारण है कि उनकी स्मृति ज्योतिर्मय है।

: ८ :

## एक जीवन-नीति

**श्रीमती पर्ल एस. बक**

**[ न्यूयार्क ]**

गाँधीजी का नाम उनके जीवन-काल में ही एक व्यक्ति का पर्यायवाची न रह-कर हमारे वर्तमान दुःखी संसार के लिए एक आदर्श जीवन का पर्यायवाची बन गया है। मेरे लिए उनकी सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इस असंयम और बुराई की शक्तियों के बीच भी वह जीवन के उसी मार्ग पर फिर से ज़ोर दे रहे हैं। गांधीजी ने अपने स्वीकृत मार्ग पर चलने का जो आग्रह रक्खा है उससे, मुझे यहाँ यह कहते हुए प्रसन्नता होती है कि दूसरे लाखों के साथ मुझे भी संसार में बढ़ते हुए अत्याचार

का अजेय और अडिग दृढ़ निश्चय के साथ पूर्ण प्रतिरोध करने का साहस प्राप्त हुआ है। इसलिए इस अवसर पर मैं उनको धन्यवाद देती हूँ और उनके प्रति अपनी अगाध स्तुति के भाव प्रदर्शित करती हूँ।

: ६ :

# गांधीजी के साथ दो भेंट

**लायोनल कर्टिस, एम. ए.**

**[ ऑल सोल्स कालिज, ओक्सफ़ोर्ड ]**

१९०३ में पहली बार मैं गाँधीजी से मिला। उसकी मुझे अबतक अच्छी तरह याद है। तब मैं उस विभाग में काम करता था जिसके ज़िम्मे भारतीय प्रवासियों का पेचीदा और कठिन प्रश्न भी था। उसके बाद से तो अबतक मुझे बहुत से भारतीयों और चीनियों की मित्रता प्राप्त करने का सौभाग्य मिला है, लेकिन मुझे विश्वास है कि गांधीजी पहले ही पूर्व-देशीय व्यक्ति थे जिनसे मैं मिला था। सिरपर हिन्दुस्तानी पगड़ी को छोड़कर वह विलायती ढँग के कपड़े पहने हुए थे और उन्हें देखकर मैंने अनुभव किया कि वह एक सुयोग्य युवा वकील हैं। अपने देशवासियों के चरित्र की ख़ूबियाँ समझाते हुए उन्होंने बातचीत प्रारम्भ की। कहा कि हमारे देशवासी अध्यवसायी हैं, मितव्ययी हैं और सहिष्णु हैं। मुझे याद है कि उन्हें सुनने के बाद मैंने कहा था, "गांधीजी, आप जो समझाना चाहते हैं वह तो मैं पहले ही से मानता हूँ। यहाँ के यूरोपियन हिन्दुस्तानियों के दोषों से नहीं डरते। डर की चीज़ तो उनके गुण हैं।" बाद के व्यवहार में उनकी जिस विशेषता ने मुझे सबसे अधिक प्रभावित किया, वह उनका दृढ़ संकल्प था। उसके बाद से ही मैं यह समझने लगा हूँ कि इस दुनिया में ऐसी विशेषतायें कम ही हैं जिनका मूल्य दृढ़-संकल्प से अधिक है।

बरसों बाद, १९१६ में बड़े दिन के लगभग मैं लखनऊ के काँग्रेस कैंप में दूसरी बार गांधीजी से मिला। जोहान्सबर्ग के तेज़ युवक अटर्नी के रूप में जिन गांधीजी को ट्रान्सवाल में मैं जाना करता था, उनसे इनमें जो परिवर्तन पाया, वह मैं कभी नहीं भूलूँगा। वह हिन्दुस्तान के देहाती के-से कपड़े पहने हुए थे और उनके चहरे पर उम्र के साथ तपस्विता के चिन्ह थे। सवेरे का समय था। ज़ोर का जाड़ा पड़ रहा था। अँगीठी रक्खी हुई थी जिस पर वह बातचीत करते-करते हाथ ताप रहे थे। अँगीठी के सहारे बैठकर हमने बातें कीं। उस समय उन्होंने भरसक वर्ण-व्यवस्था का मर्म, जैसा कि भारतीय समझते हैं, मुझे समझाया।

गांधीजी के अतिरिक्त, यदि हैं तो, थोड़े ही ऐसे आदमी हमारी पीढ़ी में होंगे

जिनके इतने अनुयायी हैं, जिन्होंने घटना-चक्रों में इतना परिवर्तन किया है और जिन्होंने एक से अधिक महाद्वीपों में लोगों के विचारों पर इतना प्रभाव डाला है' १९०३ में मिले सुयोग्य युवा वकील में जो आध्यात्मिक शक्तियाँ छिपी हुई थीं, उनका मैं उस समय अनुमान न कर सका था। उस अपनी असफलता को मुझे नम्रतापूर्वक स्वीकार करना चाहिए।

: १० :

# गांधीजी और कॉंग्रेस

## डा० भगवान्दास, एम. ए., डी. लिट्.

[ काशी ]

वीसवीं शताब्दि के इन अन्तिम चालीस वर्षों का मनुष्य-जाति का तूफ़ानी-इतिहास केवल बीस-बाईस नामों का ही खेल है। इनमें से आधे से कम आज भी जीवित हैं। महात्मा गांधी केवल उनमें से एक ही नहीं है, अपितु उनमें भी अद्वितीय हैं। कारण कि वह स्वयं राजनीति और अर्थशास्त्र के क्षेत्र में अहिंसात्मक आध्यात्मिकता के एकमात्र देवदूत हैं। बुद्ध के पश्चात् भारतीय इतिहास में गांधीजी से अधिक महान् या उनके समान भी कोई नैतिक कल्पना में भी नहीं आ सकते। जब कभी 'वर्तमान' 'भूत' हो जायगा और 'वर्तमान' का निस्सीम महत्त्व कटछँटकर ठीक हो जायगा तब भले ही भावी ऐतिहासिक उनकी बराबरी के नाम गिनाने लगें। निश्चय ही तुलना अत्यन्त भिन्न-व्यवस्था तथा विभिन्न समयों के प्रयोजनों के आधार पर ही होगी। आज तो महात्मा गांधी का व्यक्तित्व अद्वितीय है।

इसलिए यह स्वाभाविक है कि मैं उनका भारी प्रशंसक हूँ। मुझे आदर है उनके तपश्चरण, अन्तःस्फूर्ति और उत्साह, उच्चाकांक्षा, संकल्प की एकाग्रता और एकनिष्ठता तथा "वासनाक्षय और इन्द्रियदमन" में भी (जो कि तप के ही अन्तर्गत हैं)। इस सात्विक और विशुद्ध वासनाक्षय तथा इन्द्रियदमन रूपी तप का स्वरूप प्राचीन भारत में तो प्रचलित था ही; अनंतर प्रारम्भिक और मध्यकालीन खरीस्तीय और बाद में मुस्लिम धार्मिक परम्पराओं में भी निरंतर सजीव रहा है। मेरा यह आदर इस कारण है कि उनका तपःप्राप्त आत्मबल, एकाग्र मन से भारत की उन्नति में सतत प्रयुक्त होते रहने से, उदात्त, बुद्धियुक्त और पवित्र हो गया है।

इसलिए महात्मा गांधी के अद्भुत राजनैतिक नेतृत्व का मैं भारी प्रशंसक हूँ; उनकी तपोगत पवित्रता और 'सर्वभूतहित' के लिए मेरे हृदय में गहरा आदर और उनके अद्भुत आत्म-संयम पर आदर और प्रशंसा दोनों के भाव हैं। उनकी स्थिर

संकल्पयुक्त सतत आत्मपरिचालन की शक्ति 'धीरता' (धियम्+इरयति) ऐसी विलक्षण है कि गम्भीर परिस्थितियों में या परीक्षा के कठिन अवसरों और कष्टों में, जिससे वह घिरे ही रहते हैं, उनका सार्वजनिक वर्तन देखकर कहना होता है कि जब कभी परीक्षा हुई वह ओछे, हलके कृत्य या विचार से मुक्त मिले। उनका अचूक गौरव और सौजन्य, उनकी आत्मा की धीरता, भारत की सेवा में उनकी अपनी आन्तरिक प्रेरणा के अनुसार मन और शरीर की अथक क्रियाशीलता, इन सबके कारण उनके घोर उग्रतम विरोधी भी उनकी प्रशंसा करते रहे हैं और प्राय: उनकी इच्छा के अनुसार काम करने के लिए तैयार हो गये हैं।

यह अनुभव करते हुए, यह उचित है कि इस अवसर पर मैं श्रद्धाञ्जलि के रूप में कुछ फूल भेंट करके ही संतुष्ट न हो जाऊँ। ऐसे सत्कार से तो महात्मा गांधी अब तक ऊब चुके होंगे। इसलिए मैं उनके महान् कार्य के सम्बन्ध में कुछ ऐसे आलोचनात्मक विचार उपस्थित करने का साहस करता हूँ, जैसे मैं पन्द्रह या अधिक वर्षों से कुछ सुझावों के साथ-साथ उनके और भारतीय जनता के सम्मुख रखता आया हूँ। महात्मा गांधी ने भारत में जिस नवजीवन का संचार किया है उसके सम्बन्ध में मैं जो विचार प्रकट करूँगा, वे सब अपनी उत्कृष्ट बुद्धि की धृष्ठता से नहीं उपजे हैं, बल्कि उनका आधार परम्परागत प्राचीनज्ञान ही है।

## सामान्यतः विश्वपरिस्थिति : विशेषतः भारतीय परिस्थिति

मानव-जगत् चार वर्ष के पश्चात् सन् १९१८ में भयानक अग्निकुण्ड से बाहर निकल पाया। पर उसकी आँख नहीं खुलीं। अब भी वह फिर रौरव के तट पर खड़ा है और गिरना ही चाहता है। स्पेन इस युद्ध से नष्ट हो गया और इस युद्ध में फ्रान्को और फासिज्म की विजय हुई। चीन जापान से जीवन-मरण के संघर्ष में फँसा है। भारत—गुलाम, दरिद्र, आत्मिकता से च्युत भारत—एक अहिंसामय राजनैतिक आर्थिक संघर्ष में लगा हुआ है। इसपर बीच-बीच में साम्प्रदायिक दंगों का भी इसे शिकार होना पड़ता है, जो कि अहिंसा के विपरीत स्थिति के द्योतक हैं। भारत के दुष्ट-बुद्धि, धार्मिक, राजनैतिक 'नेताओं' की कुमंत्रणाओं और ब्रिटेन की कूटलराजनीति का यह परिणाम है। धर्म को अपने नफे का पेशा बनाकर रखनेवाले मज़हब के ठेकेदारों ने दोनों मजहबों को उनकी यथार्थता से दूरकर, विरूप, विकृत और कलुषित कर दिया है। इस मूल कारण से ब्रिटिश 'कूटनीतिज्ञ' फ़ायदा उठा रहे हैं। यह कहना कि दोनों जातियों के कोई समान मानवोचित हित नहीं हैं, एक की हानि में ही दूसरे का लाभ है, इस पश्चिमी धारणा की ही हूबहू पर भौंड़ी नक़ल है कि कोई देश, राष्ट्र या वंश दूसरे देश, वंश या राष्ट्र पर आतंक जमाकर या उसे दास बनाकर ही फलफूल सकता है। यह धारणा उस जीवन-संघर्ष के निर्णय का, जिसकी कि बड़ी डींग हाँकी

जाती है, और 'जीवन के लिए सहयोग' के उत्तम और महत्वपूर्ण नियम को भुला देने का स्वाभाविक परिणाम है। इसका नतीजा यह है कि भारत का सारा वातावरण पारस्परिक द्वेष और अविश्वास की विषैली गन्ध से ओतप्रोत है और प्रत्येक शांति-प्रिय, ईमानदार और भले हिन्दू और मुसलमान के लिए जीना चिन्तामय हो गया है। बहुत पहले, स्वर्गीय श्री गोपालकृष्ण गोखले ने कहा था—"हिन्दू, मुसलमान और ब्रिटिश शक्ति त्रिभुज की कोई-सी दो भुजायें मिलकर स्पष्टतया तीसरी से बड़ी हैं।" इसीलिए, लन्दन में सन् १९३० से १९३३ तक हुई तीन गोलमेज परिषदों का परिणाम यही हुआ कि पृथक् चुनाव-पद्धति पर स्वीकृति की मोहर लगाकर और उसे भविष्य में जारी रखकर दोनों जातियों के पृथक्करण की कलुषित पद्धति की व्यवस्था की गई है। फिर यह तो होना ही था कि नौकरियों में साम्प्रदायिक अनुपात और समानुपात को बढ़ावा देकर ऊपर से नीचे तक की राष्ट्र की सब नौकरियों में साम्प्रदायिक भावना ला दी गई। इन नौकरियों पर रहनेवाले स्वभावतः औसत नागरिक से अधिक चतुर और विज्ञ होते हैं, और इनके हाथ में सरकारी अधिकार की भारी शक्ति रहती है; और, आजकल, प्रायः हर जगह शक्ति का अर्थ होता है, निर्बल, भले और ईमानदार को सहायता देने की अपेक्षा उसे हानि पहुँचाना और उसके मार्ग में रोड़े अटकाना।

ब्रिटिश कूटनीति ने जब से पृथक् चुनाव-क्षेत्रों की स्थापना की है, तबसे भारत में साम्प्रदायिक समस्या सब समस्याओं से अधिक तीव्र बन गई है। पहले तो यह पृथक् निर्वाचन नियम इस शताब्दि के दूसरे दशाब्द में म्युनिसिपल और ज़िला बोर्डों में दाखिल हुए, और फिर इस तीसरे दशाब्द में धारासभाओं में प्रवेश पा गये।

२३ मार्च १९३९ को एक अमेरिकन सम्वाददाता ने महात्मा गांधी से प्रश्न किया—"क्या भारत आपकी पसन्द के माफिक ही उन्नति कर रहा है?" महात्माजी विचारमग्न होगये और फिर उत्तर दिया—"हाँ, कर रहा है। कभी मुझे इसमें आशंका तो होती है, लेकिन मूल में उन्नति है और वह उन्नति पक्की है। **सबसे बडी बाधा** हिन्दू-मुस्लिम मतभेद है। यह एक भारी रुकावट है। इसमें मुझे कोई प्रत्यक्ष उन्नति नहीं दिखाई देती। लेकिन इस कठिनाई को भी हल होना ही है। हाँ, जनता का दिमाग़ मुकाम पर है, यदि और नहीं तो इसी कारण कि उसे कोई स्वार्थ नहीं साधना है। दोनों जातियों की राजनैतिक शिकायतें एक ही हैं और आर्थिक शिकायतें भी भिन्न नहीं हैं।"

यह सर्वथा सत्य है कि ये शिकायतें एक ही हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि फिर वह दोनों जातियों को यह बात क्यों नहीं मनवा सके और क्यों उनको एक नहीं कर सके? 'कठिनाई को एक दिन हल होना है'—निस्सन्देह यह हल होगी, परन्तु जैसे स्पेन में हुई वैसे ही, शांति से? क्या यह सम्भव है कि कुछ ऐसा किया जा सके जिससे यह शांति के साथ हल होजाय? "जनता का दिमाग़ मुकाम पर है, यदि और नहीं तो

इसी कारण कि उसे कोई स्वार्थ नहीं साधना है''—क्या यह कथन ज़रा गोल-मोल नहीं है ?

चीन, जापान और शेष एशिया की तरह भारत में भी 'जनता' का अधिकांश किसान है। ये किसान सब जगह अत्यन्त 'व्यक्तिगत परिधि में रहनेवाले' और 'स्वार्थी' होते हैं। परन्तु यह मान भी लें कि ये अपेक्षाकृत ठीक-ठीक और 'निस्स्वार्थ' हैं, तो भी क्या इन्हें धर्म के यथार्थ तत्त्वों और उचित सामाजिक संस्थान के कुछ मुख्य-मुख्य मूलभूत सिद्धान्तों की विधिवत् शिक्षा मिली है ? कठिनाइयों का शांति से हल स्वतः होजानेवाला नहीं है। हममें से कुछ तो यह अनुभव करते हैं कि सब धर्मों के समान मुख्य तत्वों और उचित समाज-व्यवस्था के मूलभूत सिद्धान्तों के ज्ञान का अनवरत प्रचार करने से ही साम्प्रदायिक समस्या का हल सम्भव होगा।

## कांग्रेस की स्थिति

कांग्रेस का राजनैतिक और आर्थिक संघर्ष भी शरीर से तो बहुत-कुछ अहिंसक है, परन्तु मन से वैसा नहीं है। कांग्रेस के भीतर अनेक प्रकार की बुराइयाँ फैली हुई हैं। चुनावों में कांग्रेस के पदों के लिए मत-पेटियाँ लूटी गईं, जलाई गईं, उड़ाली गईं; लाठियां चलीं और कई बार गहरी चोटें भी आईं—एक-दो ऐसी घटनाओं में हत्या भी होगई; जैसा कि ब्रिटेन में भी कुछ दिन पहले तक ही होता था। साप्ताहिक 'हरिजन' में महात्मा गांधी के लेख इसके साक्षी हैं। दूसरे प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं है; यदि पड़े ही तो मार्च १९३९ के त्रिपुरी कांग्रेस के खुले अधिवेशन में निर्विरोध पास हुए "अनीति-विरोधी" प्रस्ताव पर दिये गये भाषणों को पढ़ लेना काफ़ी होगा। लेकिन इस चित्र का सुनहला पहलू भी है। निर्वाचकों की अमित संख्या और निर्वाचन-क्षेत्रों के विस्तार को देखते हुए, तथा यह ध्यान में रखकर कि यह चुनाव का "पहला अनुभव" था, ऐसी-ऐसी दुःखद घटनाओं की संख्या कोई अधिक नहीं कही जा सकती।

## रोग का निदान

कुल मिलाकर इस परिस्थिति में जनता के प्रेम में जाग्रति उत्पन्न करने के लिए जो सर्वोत्तम सुंदर साधन उपलब्ध थे, वे जाग्रति उत्पन्न करने तक तो आश्चर्यजनक रूप से सफल हुए; परन्तु महात्मा गांधी के ये उपाय जितने सफल होने चाहिए थे, उतने सफल क्यों नहीं हुए ? स्पष्ट ही नेतृत्व में कोई **बड़ी गहरी कमी** रह गई है। मैं यहाँ यह दुहरा दूँ कि भारत की वर्तमान परिस्थिति में अहिंसात्मक असहयोग या भद्रअवज्ञा—कुछ भी कहिए—निस्संशय यही एक सर्वोत्तम साधन है। इस तरीक़े से महात्मा गांधी ने भारतीयों में संकल्प की शक्ति भरने में एक जादू-सा किया है। उन्हें एक शान्तिशाली शस्त्र दे दिया है। यह तरीक़ा लोगों की प्राचीन भावना और

परम्परा के अनुकूल है। 'धरना' या धारणा ( अत्याचारी के द्वार पर बुराई दूर न होने तक मरण का निश्चय करके बैठे रहना ) प्रायोपवेशन ( आमरण अनशन ) उपवास, आज्ञाभंग ( भद्रअवज्ञा ) देश-त्याग, राज-त्याग, राजा को छोड़ देना 'राजा तत्र विगर्ह्यते' ( खुलेआम राजा की निन्दा ) आदि ये कुछ प्राचीन पुस्तकों में वर्णित अहिंसामय उपाय हैं जो अधिकार के दुरुपयोग को रोकने के लिए काम में लाये जासकते हैं। हाँ, ख़ास परिस्थितियों में जब शांतिमय उपाय असफल हो जाय तब सशस्त्र युद्ध की न केवल आज्ञा ही है, अपितु इसका विधान भी है।

ये सब उदात्त प्रयत्न यदि फल नहीं दे पाते हैं तो इसका कारण "कोई और कमी" है। किसी अनिवार्य वस्तु के अभाव से ही नुस्खा रोग-निवारण में असफल रहा है। वह अबतक रोग को शान्त भी नहीं कर सका। न महात्मा गांधी ने, न 'हाई कमाण्ड' ने कभी कोई ऐसी योजना बनाई जिसके अनुसार मंत्रिगण मिलकर, एक ढंग से सर्व-साधारण के हितार्थ क़ानून-रचना का काम करें। वे भविष्य के गर्भ में निहित 'वैधानिक असेम्बली' की प्रतीक्षा में हैं कि वह यह काम करेगी। निस्सन्देह कुछ प्रान्तों में यह असंतोष, अन्य प्रान्तों की अपेक्षा, 'अपने ही प्रांत के' मन्त्रियों से अधिक है। है यह सब प्रान्तों में, कहीं एक बात को लेकर तो कहीं दूसरी बात का लेकर। यह कारण प्रान्त-प्रान्त में अलग-अलग है। हम कुछ लोग पिछले वर्षों से काँग्रेस के 'हाई कमांड' और 'लो कमांड' का तथा सामान्य जनता का ध्यान इस भारी कमी की ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करते आरहे हैं और उसकी पूर्ति के लिए कुछ मार्ग-निर्देश भी करते रहे हैं। परन्तु अबतक यह सब व्यर्थ रहा है। अब तो काँग्रेस में जो मतभेद पैदा होगया है, वह शायद 'नेताओं' और जनता का ध्यान हठात् इस ओर आकर्षित करेगा। इस मतभेद का परिणाम अत्यन्त दूरगामी होगा। यदि यह दूर न हुआ तो कांग्रेस ने पिछले बीस वर्ष के आत्म-त्याग और बलिदान से जो कुछ प्राप्त किया है वह सब जाता रहेगा। उसमें यदि सुधार होगा और कलह की जगह एकता लेगी तो यह कार्यक्रम में उस भारी त्रुटि को दूर करनें पर ही सम्भव होगा और जो संकल्प-शक्ति देश ने हाल में प्राप्त की है, वह इसी भांति बाल-रोगों, आंतरिक ज्वरों, और आत्मघात से बचाई जा सकती है। इसी उपाय से इस राष्ट्र-संकल्प को वह ऐक्य प्राप्त होगा, जिसका अभाव उसे अकाल-मृत्यु के मुँह में लिये जा रहा है।

परन्तु ऊपर की आवश्यक बात कहते हुए भी हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि कांग्रेसी-मंत्री बड़ी मिहनत से काम कर रहे हैं और मद्यपान की बुराई मिटाने, साक्षरता फैलाने, किसानों का ऋणभार कम करने, स्थानीय उद्योगों को प्रोत्साहित करने, स्वास्थ्य का सुधार करने और रोगों को रोकनें में बड़ी कोशिशें कर रहे हैं। उन्हें जैसी चाहिए वैसी सफलता इसलिए नहीं मिल रही है कि काँग्रेस के अनुयायियों की निर्बलता के कारण उन्हें स्थायी सरकारी सर्विसों से पर्याप्त सहयोग नहीं मिल रहा है,

और सबसे बढ़कर इसलिए कि जनता को **स्वराज्य, 'स्वशासन' शब्द की उचित व्याख्या नहीं बताई गई।**

न महात्मा गांधी ने, न पं० जवाहरलाल नेहरू ने, न श्री सुभाषचन्द्र बोस ने, न हाई कमांड के किसी सदस्य ने, और न कांग्रेस के किसी दूसरे गण्य-मान्य 'नेता' ने ही जनता के सम्मुख कभी 'स्वराज्य' शब्द की व्याख्या करने का प्रयत्न किया ( स्व० चित्तरंजनदास ने एक बार किया था )। सन् १९३६ या १९३७ तक महात्मा गांधी तो समय पड़ने पर यही कहते थे कि मेरे लिए तो 'औपनिवेशिक राज्य' ही स्वराज्य है। अपनी एक हाल की भेंट में, जिसका पीछे ज़िक्र है, उन्होंने कहा था—"मैं स्वयं ठीक नहीं कह सकता कि मैं इस विषय में कहाँ हूँ।" कुछ भी हो, औपनिवेशिक राज्य तो उसी ब्रिटिश शासन-पद्धति की नक़ल है जिसे माना प्रजातंत्र जाता है, पर मूल में ह 'गुट्टतंत्र'। महात्मा गांधी ने भारत के लिए आवश्यक सामाजिक व्यवस्था के सम्बन्ध में भी, जो निरी शासन-पद्धति से भी कुछ अधिक ज़रूरी चीज़ है—कोई निश्चित विचार प्रकट नहीं किये हैं। एक बार पूना में, यदि मैं भूलता नहीं तो, सन् १९३४ में उन्होंने समाज-व्यवस्था के विषय को लेने से ही स्पष्ट इन्कार कर दिया था। कह दिया था यह तो 'बड़ी बात' है। महात्मा गांधी ने बड़ी स्पष्टवादिता से बार-बार ऐसी बातें दुहराई हैं कि "मुझमें पहले जैसा आत्म-विश्वास अब नहीं रह गया है।" "यदि मेरे पास स्वराज्य की योजना हो तो जनता के सामने लाने में देर न करूँ।" "जनता के द्वारा चुनी जानेवाली भावी वैधानिक असेम्बली ही इसका निर्णय करेगी।" भारत को स्वराज्य मिलेगा या नहीं इसका निर्णय भी यही वैधानिक असेम्बली क्यों न करे! इस सम्बन्ध में महात्मा गांधी के सम्पूर्ण विचारों का संग्रह उनकी 'हिन्द स्वराज' नामक पुस्तक में है। इस पुस्तक का सारांश यह है कि अर्वाचीन सभ्यता की जो विशेषतायें या ख़ास-ख़ास चीज़ें हैं—जैसे यंत्र, रेलवे, जहाज, वायुयान, बिजली का प्रकाश, मोटर-गाड़ी, डाक, तार, छापेखाने, घड़ियाँ, अस्पताल, शिक्षापद्धति, शिक्षणालय, चिकित्सा-पद्धति आदि—ये सब बुरे हैं और इनको केवल सुधार लेना, सही कर लेना, और व्यवस्थित कर लेना ही पर्याप्ति नहीं है, अपितु ये सर्वथा त्याज्य हैं। ज़ाहिरा तौर पर इसी भांति यह भी कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतीय सभ्यता के बहुत से अंश भी—जैसे विशाल मंदिर, नक्काशी के घाट और महल, ललित कलायें, शाल और कमख़ाब, ज्ञान-विज्ञान और साहित्य आदि जीवन की 'शोभा' बढ़ानेवाली सब चीज़ें भी हेय हैं और मिट जानी चाहिएँ; तथा आद्य कृषि-जीवन ही फिर हो रहना चाहिए, क्योंकि परमेश्वर और प्रकृति मनुष्य-जाति से यही चाहते हैं। लेकिन 'सभ्यता' और इसकी कलायें तथा विज्ञान भी तो प्रकृति की उपज हैं।

पर दुर्भाग्य यह है, और महात्मा गांधी निर्मल हृदय से स्वयं खुलकर स्वीकार भी

करते हैं कि वह "केवल सत्य का मार्ग दिखा सकते हैं. परन्तु स्वयं सत्य को नहीं।" और उन्होंने उस पूर्ण सत्य को स्वयं देखा भी नहीं है, जिसको भारत के प्राचीन ऋषियों ने देखा, दिखाया और जिसका मार्ग भी बताया था। व्यक्ति+समष्टि-तंत्र के सत्य का जो सम्पूर्ण दर्शन ऋषियों ने पाया था, वह महात्मा गांधी को प्राप्त नहीं हुआ है। उनके 'हिन्द-स्वराज' में जो सत्य है वह उसी तथ्य का अस्पष्ट आभास-मात्र है जिसका उपनिषदों, गीता और मनुस्मृति ने प्रतिपादन किया है। उपनिषदादि प्रतिपादित तथ्य यह है कि इस सारी पृथक्-पृथक् चेतन सत्ता और सारी जीवन क्रिया का मूलाधार और आदि कारण अविद्या या माया है जिससे हम यह मान लेते हैं कि अनादि-अनन्त आत्मा और हाड़-मांस का पिण्ड, यह सान्त शरीर दोनों एक ही हैं। इसीसे 'अहंकार,' 'स्वार्थ-भावना,' 'राग-विराग,' 'प्रेम और घृणा' का जन्म है, और इसी कारण 'परमार्थ,' 'आत्म-त्याग,' 'दान-दया,' आदि भावनायें सम्भाव्य और यथार्थ बनती हैं, अन्त में सब मानवीय दुःख-सुख भी त्यागकर पूर्ण समाधि अर्थात् चित्शक्ति के सर्वोच्च तत्त्व में फिर से लीन हो जाना चाहिए। लौटकर केवल किसानी जीवन पर पहुँच जाना ही काफ़ी नहीं होगा। इस सचाई पर चलने के लिए हमें और भी पीछे जाना पड़ेगा। राष्ट्रों और व्यक्तियों को इसी प्रकार लौटना पड़ेगा, लेकिन उचित अवसर देखकर, अर्थात् सब पदार्थों का भोग तथा अनुभव करने और अपेक्षाकृत कल्याण-मार्ग पर चलते रहने के और 'स्वार्थ' तथा 'परमार्थ' की अपनी सब तृष्णा-वासनाओं को तृप्त करने के पश्चात्। महात्मा गांधी ने प्रायः 'स्वराज' का अर्थ 'रामराज' किया है; परन्तु यहाँ भी रामराज का निश्चित लक्षण नहीं बताया। लेकिन अगर वाल्मीकि का विश्वास करें तो रामराज तो निरे कृषि-जीवन से बहुत भिन्न था। इसमें कृषि-जीवन को प्रधानता अवश्य थी; लेकिन इसमें केवल गाँव ही नहीं थे, अच्छे शहर भी थे। राम की अयोध्या का वाल्मीकि-कृत वर्णन अधिक रमणीय होते हुए भी रावण की सुनहरी लंका की भांति ही महिमाभय है। और लंका तो 'यांत्रिक' ही अधिक थी।

भारत की वर्तमान अवस्था और इसके अन्दरूनी मतभेदों को देखकर हमारी युवक शिक्षित पीढ़ी की आँखें रूस और उसके बोल्शेविज्म, समाजवाद या साम्यवाद पर जा टिकती हैं—यद्यपि रक्तपात द्वारा जब-तब कीजानेवाली पार्टी-शुद्धि (Purges) की ख़बरों से वे भयभीत भी हैं। दूसरी ओर काँग्रेस के (और उसके बाहर के) पुरानी पीढ़ी के लोगों की आँख, दास-मनोवृत्ति की निन्दा करके भी, ब्रिटेन और उसके उपनिवेशों के, अमेरिका के, और शायद फ्रान्स के भी, प्रजातंत्रवाद—या उसे कुछ भी कहिए—पर जमी हुई हैं। भारत में कोई भी नाज़ीवाद या फ़ासिज्म के 'आदर्श' का सुप्रत्यक्ष समर्थन नहीं करता दीख पड़ता। तो भी हममें से कम-से-कम कुछ तो यह अनुभव करते हैं कि यदि सब 'वाद' अपनी 'अतिशयता' छोड़ दें और

इसके स्थान पर सच्चे आध्यात्मिक धर्म की थोड़ी-सी मात्रा और कुछ मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त ग्रहण कर लें तो वे तत्काल एक-दूसरे से हिलमिल ही नहीं जायंगे, परस्पर आलिंगन भी करने लग जायंगे। इन सब 'विचारधाराओं' और 'वादों' ने भलाई की है और पाप भी कमाया है। वे केवल अपने-अपने पक्ष के गर्म मिजाज़ियों के कारण ही एक-दूसरे को घूर रहे हैं, और यही इनकी गर्मदिली अपने-अपने आदमियों की शक्ति 'युद्ध का संगठन' करने में ख़र्च कर देती है, 'शान्ति की व्यवस्था' करने में नहीं।

दुर्बल जातियों के साथ पश्चिमी सभ्यता ने जो पाप किये हैं वे अब प्रकट हो रहे हैं। भाग्य उसका सूत के धागे से लटकता दीखता है। उस सभ्यता की ऐसे संकट और मरणासन्न हालत देखकर हमारे 'प्रजातंत्री' और 'समाजवादी' नेताओं का अनेक पश्चिमी वादों का मोह और जोश दूर नहीं तो कम तो पड़ना ही चाहिए। क्योंकि इन वादों की स्वयं पश्चिम के ही बहुत से प्रमुख वैज्ञानिक और विचारक प्रबल निन्दा कर रहे हैं। इससे चाहिए कि वे और हम अपने पुराने काल-परीक्षित समाज-व्यवस्था के सिद्धान्तों की ओर जायँ और उन पर गम्भीरता से विचार करें। प्रश्न हो सकता है कि यदि वे सिद्धान्त इतने अच्छे थे तो भारत का पतन क्यों हो गया? उत्तर यह है कि उनके संरक्षकों में शील-चारित्र्य नहीं रहा, उनकी 'स्पिरिट', 'आत्मा' बदल गई, 'दिमाग़' बिगड़ गया, भले सिद्धान्तों का **व्यवहार छोड़ दिया गया,** उनकी **उपेक्षा की गई**; यही नहीं उनके स्थान पर **बुरे सिद्धान्त अपना** लिये गए। भारत के विधि-विधान के संरक्षक 'तप' और सद्ज्ञान दोनों खो बैठे। कोई राष्ट्र, कोई जाति, कोई सभ्यता तब तक पनप नहीं सकती जबतक उसके अंतरंग में ठोस सत्य न हो और दुर्दमनीय हृदय और मस्तिष्क न हो। राष्ट्र का बल होते हैं ऐसे व्यक्ति जो स्वभाव से परमार्थी, त्यागी और ज्ञानी हैं। जो राष्ट्र या जाति 'हृदय और मस्तिष्क' की इस शक्ति को नहीं बना या पाल सकते, वे या तो भ्रष्ट होकर, या किसी प्रचण्ड आकस्मिक घटना से, युद्ध के ध्वंस से अकाल ही काल के ग्रास हुए बिना या ग़ुलाम बने बिना और दूसरों की दया पर जिये बिना नहीं रह सकते। भारत के भाग्य में यह दूसरी बात लिखी थी उनके बुद्धिबल की। परन्तु भारत में अभी तक बहुत कुछ जीवन बच रहा है, और नया जीवन मिलने की भी पूरी सम्भावना है, यदि, महात्मा गांधी के 'तप' में आवश्यक 'विद्या' का मेल हो जाय।

महात्मा गांधी आज हमारी महत्तम नैतिक और तपःशक्ति हैं। बस, आवश्यकता है कि समाज-व्यवस्था-सम्बन्धी पुरातन विद्या और ज्ञान का संयोग प्राप्त हो जाय। गांधीजी तब भारत की रक्षा कर सकेंगे और इसको एक ऐसा ज्वलंत आदर्श बना सकेंगे कि पश्चिम भी अनुकरण करेगा। यह देश तब पश्चिम के आकार-प्रकार की ही एक निस्तेज और विकृति छायामात्र नहीं रहेगा।

यह काम तभी होगा जब कि महात्मा गांधी और कांग्रेस के दूसरे नेता इस

सम्बन्ध में अपने-अपने मस्तिष्क निर्भ्रान्त कर लेंगे और भारतीय जनता के अनुकूल सर्वोत्तम सामाजिक रचना या व्यवस्था के सम्बन्ध में अपने निश्चित विचार बना लेंगे। तब उन्हें हिन्दू, मुसलमान, और ईसाई स्वयंसेवकों का एक मजबूत दल संगठित करना होगा। ये स्वयंसेवक त्यागी, घूमने-फिरने और कड़ा परिश्रम करने के आदी, **बौद्धिक क्षमताओं से** सम्पन्न हों, यदि वह सम्पन्नता न हो तो उसे प्राप्त करने की तत्परता होनी चाहिए। ये स्वयंसेवक ऐसे हों कि जो, मिलकर, भारत के कोने-कोने में निम्न सन्देश सुनाने में अपना जीवन अर्पित कर दें। यह सन्देश दो प्रकार का होगा। प्रथम, केवल भारतीयों के लिए ही नहीं, अपितु जाति, धर्म, रंग, वंश या लिंग-भेद के बिना समग्र मानव-जाति के हित के लिए प्राचीन बुजुर्गों द्वारा प्रतिपादित वैज्ञानिक समाजवादी योजना और संगठन का ज्ञान-प्रसार। दूसरा, एक ही विश्व-धर्म की यह घोषणा कि **मूलतः सब धर्म एक और अभिन्न ही हैं।** कांग्रेस कमेटियाँ प्रत्येक नगर और ज़िले में हैं, और रियासतों में भी हैं। वे स्वयंसेवकों को इस काम में सहूलियत पहुँचा सकती हैं। वे स्वयंसेवक लोकमत को शिक्षण देंगे और लोगों को बतायँगे कि 'स्वतंत्रता' का अर्थ अपने अधिकारों का प्रयोग करने की आज़ादी तो है ही, पर उससे भी अधिक अर्थ है उन कर्तव्यों का पालन जो कि उक्त समाज-रचना की योजना में भिन्न-भिन्न व्यवसाय के लोगों के लिए निश्चित किये गये हों।

## : ११ :

# गांधीजी का राजनेतृत्व

**अलबर्ट आइन्स्टाइन, डी. एस-सी.**

**[ दि इन्स्टीट्यूट ऑव एडवान्स्ड स्टडीज, स्कूल ऑव मैथेमेटिक्स, प्रिंस्टन यूनिवर्सिटी, अमेरिका ]**

गांधीजी राजनैतिक इतिहास में अद्वितीय व्यक्ति हैं। उन्होंने पीड़ित लोगों के स्वातन्त्र्य-संघर्ष के लिए एक बिलकुल नयी और मानवोचित प्रणाली का आविष्कार किया है और उसपर भारी यत्न और तत्परता से अमल भी किया है। उन्होंने सभ्य संसार में विचारवान् लोगों पर जो नैतिक प्रभाव डाला है उसके पाशविक बल की अतिशयोक्ति से पूर्ण वर्तमान युग में बहुत अधिक स्थायी रहने की संभावना है; क्योंकि किसी भी देश के राजनीतिज्ञ अपने व्यावहारिक जीवन और अपनी शिक्षा के प्रभाव से जिस हद तक अपने देशवासियों के नैतिक बल को जाग्रत और संगठित कर सकेंगे, उसी हद तक उनका काम चिरस्थायी रह सकेगा।

हम बड़े भाग्यशाली हैं और हमें कृतज्ञ होना चाहिए कि ईश्वर ने हमें ऐसा प्रकाशमान समकालीन पुरुष दिया है—वह भावी पीढ़ियों के लिए भी प्रकाश-स्तम्भ का काम देगा।

# : १२ :

# गांधीजी : समाज-विज्ञान-वेत्ता और आविष्कर्ता


**रिचर्ड बी. ग्रेग**

**[ सॉउथ नाटिक, मैसाच्युसेट् अमेरिका ]**


यन्त्र सम्बन्धी गांधीजी के विचारों के सम्बन्ध में भारी भ्रम फैला हुआ है जिससे पश्चिम में उनको वैज्ञानिक से ठीक विपरीति समझा जाता है। परन्तु यह भूल है।

वह एक समाज-वैज्ञानिक हैं, क्योंकि वह सामाजिक सत्य का, निरीक्षण-परीक्षण और मानसिक व बौद्धिक कल्पित आधार, इन वैज्ञानिक उपायों द्वारा अनुकरण करते हैं। उन्होंने मुझे एकबार बतलाया था कि मैं पश्चिमी वैज्ञानिकों को बहुत पूर्ण नहीं मानता; क्योंकि उनमें से अधिकतर अपने कल्पित आधारों या स्थापनाओं को अपने ऊपर नहीं परखना चाहते। परन्तु वह और किसीको अपनी कल्पित धारणाओं पर अमल करने के लिए कहने से पहले, उनको अपने ऊपर परखकर देख लेते हैं। वह ऐसा अपनी सभी कल्पनाओं के बारे में करते हैं—चाहे वे भोजन, स्वास्थ्य, चरखा, जात-पांत अथवा सत्याग्रह, किसी भी विषय में क्यों न हों। उन्होंने अपनी आत्म-कथा का नाम ही 'मेरे सत्य के प्रयोग' रक्खा था।

गांधीजी केवल वैज्ञानिक नहीं हैं, वरन् वह सामाजिक सत्य के क्षेत्र में एक महान् वैज्ञानिक हैं। वह, समस्यायों के अपने चुनाव, उन्हें हल करने के अपने उपाय, अपनी खोज में परिपूर्णता और निरन्तर लगन, और मानव-हृदय के ज्ञान की गहराई, इन सब दृष्टियों से महान् हैं। सामाजिक जगत् के एक आविष्कर्ता के रूप में उनकी महत्ता इस बात से भी प्रकट होती है कि उन्होंने अपने उपायों को, जनता की संस्कृति, विचार-दिशा और आर्थिक तथा यांत्रिक सामर्थ्य के अधिक-से-अधिक अनुकूल बनाकर दिखाया है। मेरी राय में उनकी महत्ता का एक प्रमाण यह भी है कि क्या वस्तु रखनी चाहिए और क्या छोड़ देनी चाहिए, इसके चुनाव में उन्होंने कितनी समझदारी से काम लिया है! किसी सुधार पर कब और कितनी शीघ्रता से अमल करना चाहिए, यह परख लेने की उनकी योग्यता भी उनकी महत्ता की साक्षी है। वह जानते हैं कि प्रत्येक समाज किसी भी अवसर पर एक विशेष सीमा तक ही परिवर्तन के लिए तैयार होता है। वह जानते हैं कि कुछ परिवर्तन तो गर्भावस्था में देर तक रहने पर भी एकदम जन्म ग्रहण कर लेते हैं, और दूसरे कई परिवर्तन पूर्ण होने के लिए कम-से-कम तीन

पीढ़ी तक समय ले लेते हैं। वह जानते हैं कि कई मामलों में लोग पुराने जन्म-परम्परागत अभ्यासों और विचारों को त्यागकर, नयों को उनके मुख्य फलितार्थों-सहित शीघ्र ग्रहण नहीं कर लेते हैं। सामाजिक बातों के नूतन आविष्कारों के मामले में उनकी महत्ता का एक और प्रमाण यह है कि वह जब कभी कोई नया सामाजिक सुधार आगे रखते हैं तब उसे पूरा करने के लिए आवश्यक प्रभावशाली संगठन पहले ही कर लेते हैं। संगठन और शासन की सब बारीकियों के वह पूर्ण ज्ञाता हैं। न जाने कितने क्षेत्रों में उनके कामों में परिणाम-स्वरूप उनकी असाधारण महत्ता पहले ही सिद्ध हो चुकी है; और मेरा विश्वास है कि इतिहास उन क्षेत्रों में भी उनकी महत्ता सिद्ध कर दिखलायेगा, जिनमें उनका कार्य प्रारम्भ ही हुआ है।

उन्होंने जिन व्यापक और कठिन सामाजिक समस्याओं को हल करने के लिए विशेष रूप से काम किया है वे हैं, (१) ग़रीबी, (२) बेकारी, (३) हिंसा—व्यक्ति-व्यक्ति, जाति-जाति और राष्ट्र-राष्ट्र के बीच की, (४) समाज के स्थानापन्न वर्गों का पारस्परिक अनैक्य और संघर्ष (५) शिक्षा, (६) और कुछ कम हद तक सफ़ाई, सार्वजनिक स्वास्थ्य, भोजन और कृषि-सम्बन्धी सुधार। ये सब समस्यायें बड़ी हैं, इसे सब मानेंगे। मैं इन पर उलटे क्रम से विचार करता हूँ।

सफ़ाई और सार्वजनिक स्वास्थ्य के क्षेत्र में गांधीजी अनुभव करते हैं कि कई समस्यायें तबतक हल नहीं हो सकतीं जबतक कि लोगों की ग़रीबी कम न होजाय। तो भी उन्होंने अपने आश्रमों में स्वास्थ्य के कई ऐसे सरल उपायों को आजमाया और उनपर अमल किया है जो किसानों को—जोकि आबादी का बहुत बड़ा भाग हैं—सुलभ हो सकते है। उन्होंने कई कार्यकर्ताओं को इन उपायों का प्रयोग सिखलाया है और धीरे-धीरे कई जगहों में उनपर अमल किया जा रहा है।

गांधीजी ने समाज के एक-दूसरे से पृथक् सामाजिक वर्गों का पारस्परिक भेद मिटाने में—विशेषतः हरिजनों के उद्धार में—बड़ी प्रगति की है। मैं और कोई ऐसा देश नहीं जानता जिसमें सामाजिक एकता का स्वेच्छापूर्वक, और इसलिए वास्तविक आन्दोलन आंतरिक और बाह्य दोनों दृष्टियों से इतना अधिक सफल हुआ हो। हिन्दू-मुस्लिम-संघर्ष की समस्या का बहुत बड़ा कारण राजनैतिक परिस्थितियाँ है जिनपर गांधीजी या अन्य कोई भारतीय क़ाबू नहीं पा सकता; तो भी जब भारत स्वतन्त्र हो जायगा तब यह समस्या सुलझ जायगी, और इसे सुलझाने में गांधीजी का उपाय बहुत काम देगा।

सार्वजनिक शिक्षा के क्षेत्र में गांधीजी ने हाल में एक ऐसी योजना आरम्भ की है, जिसमें विद्यार्थियों को सबकुछ किसी-न-किसी दस्तकारी द्वारा सिखलाया जायगा—जो कुछ सिखलाना होगा उसका उस ख़ास दस्तकारी की क्रियाओं से ही प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष संबंध कर दिया जायगा। हम सबको जिन आर्थिक कठिनाइयों का सामना

करना पड़ रहा है, उनमें यह योजना विशेष आशाजनक है। इससे न केवल विद्यार्थी पढ़ते-पढ़ते अपनी पढ़ाई का खर्च कमाने के लायक़ हो सकेंगे, बल्कि यह शिक्षा में से बहुत-से कूड़े-कचरे को साफ़ करके उसे जीवन के लिए उपयोगी बना देगी। एक और बड़ा लाभ यह होगा कि शिक्षा कम-से-कम राष्ट्रीय व्यय में जनता के लिए सुलभ हो जायगी। इसके अतिरिक्त मानव-जाति के विकास में मनुष्य का मन सदा हाथ और आँख का सहारा लेता रहा है—यह योजना इस विचार के भी अनुकूल है।

हिंसा की समस्या और उसे हल करने के गांधीजी के उपाय पर मैंने अपनी पुस्तक 'दि पावर ऑव नॉन-वायलेन्स'[१] में विचार किया है और यहाँ मैं उसपर ज्यादा विवेचन नहीं करूँगा। यद्यपि उनके उपाय से भारतवर्ष को अभी स्वतन्त्रता नहीं मिल सकी, तथापि इसने बड़ी उन्नति करके दिखलाई है, और प्रायः सारी-की-सारी जनता के राजनैतिक और सामाजिक विचारों को परिवर्तित कर दिया है। अधिकांश लोगों ने पहले की भाँति अपनी हीनता को छोड़ दिया है और उनमें आशा, आत्म-विश्वास, राजनैतिक उत्साह आगया है और एक नये प्रकार के नवीन बल का परिचय दिया है। मुझे विश्वास है कि गांधीजी के उपाय से भारत स्वतन्त्र होकर रहेगा। इतना ही नहीं, बल्कि यह तमाम दुनिया का काया-पलट कर देगा।

ग़रीबी और बेकारी की समस्याओं को गांधीजी धुनने, कातने, कपड़ा बुनने और दूसरी दस्तकारियों के पुनरुद्धार द्वारा हल करना चाहते हैं। उनकी इस योजना के औचित्य का पश्चिम में—और पश्चिमी शिक्षा तथा रहन-सहन में दीक्षित भारतीयों द्वारा भारत में भी—इतना अधिक विरोध किया है कि मैं इसकी पुष्टि में पश्चिमी विचार-प्रणाली से ही विस्तार के साथ विवेचन करना पसन्द करूँगा।

भारत में यह अनुभव किया जाता है, परन्तु अन्यत्र प्रायः नहीं, कि भारत की विशेष ऋतु के कारण, वर्षा-ऋतु का समय छोटा और गर्मी तथा सूखे का समय बहुत बड़ा होने के कारण, बहुधा सारे भारत में किसान तीन से छः महीने तक बिलकुल निकम्मा रहता है। बहुत सख्त गर्मी में वह कठोर ज़मीन को जोत नहीं सकता, और न फ़सल बो या काट सकता है। भारत के विशाल भूभाग में खेतों और जंगलों में सचमुच काम करनेवाले मज़दूरों की संख्या लगभग बारह करोड़ ह और इस कारण, देश की सारी आबादी के साथ अपने आपेक्षाकृत और एकान्त रूप से भी खेतिहर ग्रामीणों की इस सामयिक बेकारी का अनुपात और संख्या प्रतिवर्ष बहुत बड़ी रहती है। माली नुक़सान बहुत ज्यादा होता है। इसके कारण होनेवाले नैतिक और मानसिक पतन और ह्रास भी भयंकर हैं। जबतक पश्चिम से मिल का बना कपड़ा भारत में नहीं आया था तबतक किसान इस फालतू समय को कातने, और कपड़ा बुनने और अन्य दस्तकारियों में खर्च करते थे। आज भी हिन्दुस्तान के लिए आवश्यक कपड़े का एक-

१. इसका हिंदी रूपांतर मंडल से 'अहिंसा की शक्ति' के नाम से निकल रहा है।

तिहाई हाथ-कर्घों से बुना जाता है। रुई हिन्दुस्तान के प्राय: सब प्रान्तों में पैदा होती है। इस काम में आनेवाले हाथ-औज़ारों का खर्च छोटी माली हैसियत का किसान भी उठा सकता है, हस्त-कौशल की परम्परा अभी बिलकुल मिट नहीं गई है। हाथ-बने कपड़े की बाज़ारू क़ीमत मिल के कपड़े से बहुत ऊँची नहीं बैठती; और जो अपना सूत आप कातें उनको तो और भी कम पड़ती है। आबादी के ज्यादातर हिस्सों में कपड़े का खर्च रहन-सहन के तमाम ख़र्च के पाँचवें से छठे हिस्से तक बैठता है। जो लोग अपना गुज़ारा बहुत कठिनाई से कर पाते हैं, वे यदि बिना किसी ख़ास मेहनत के अपने तमाम ख़र्च का दसवाँ हिस्सा भी बचा सकें तो उनके लिए यह बड़ी चीज़ है। हाथ का यह काम न केवल आर्थिक दृष्टि से मूल्यवान् है, बल्कि यह आशा, सूझ-बूझ, आत्म-सम्मान और स्वावलम्बन का भी प्रबलता से संचार करनेवाला है। कहने की आवश्यकता नहीं कि बहुत अर्से की बेकारी और ग़रीबी से इन गुणों का नाश हो चुका है। दस्तकारी की इस स्वास्थ्यदायिनी शान्ति को मानसिक रोगों के वर्तमान चिकित्सकों ने भी भलीभाँति स्वीकार किया है। और आजकल 'औक्यूपेशनल थैरापी' ( इलाज-ए-पेशा ) के नाम से दस्तकारी को अनेक मानसिक रोगों के, खासकर निराशा और पागलपन के, इलाज में प्रयुक्त किया जाता है। इन कारणों से भारतीय बेकारी को दूर करने के लिए इस धन्धे को पुनरुज्जीवित करने का प्रस्ताव इतना बेहूदा नहीं है, जैसा कि ऊपर से मालूम पड़ता है।

लेकिन इतने पर भी बहुत-से लोग इस विचार का मज़ाक उड़ाते और यह कह-कर इसस नाक-भौं सिकोड़ते हैं कि यह तो पीछे को लौटना हुआ, यह असामयिक है, यह घड़ी की सुई को पीछे हटाने का यत्न है, यह श्रम-विभाग के अत्यन्त सफल सिद्धान्त का परित्याग और यंत्रों और विज्ञान की अवहेलना करना है।

किसी भी उद्योग-व्यवसाय-पद्धति का मुख्य प्रयोजन उन सब लोगों को लाभ पहुँचाना होता है जो उसके अधीन हों। यदि वह पद्धति जनता की बहुत बड़ी अल्प-संख्या को लाभ न पहुँचाती हो, और वह अल्प-संख्या किसी और ऐसी पद्धति को अपनाले जिससे उसकी माली हालत में सचमुच सुधार हो जाय, तो इसे मूर्खता नहीं कहेंगे। अगर कोई पद्धति करोड़ों लोगों की माली ज़रूरतों को पूरा न करे, तो वह उनके लिए अँधेरी गली के समान होगी, और वे अपना क़दम पीछे हटाकर वहाँ से निकल न जायँ तो वे मूर्ख होंगे। उन्हें कोई ऐसा रास्ता तलाश करना पड़ेगा जिसपर ख़ुद उनका नियंत्रण रहे। उनके लिए तो अपनी आर्थिक घड़ी ठहरी हुई ही मानी जायगी। किसी भी ऐसी पद्धति को, जो किसी भी गति से उनकी-एक भी माली ज़रूरत को पूरा करती हो, अपना लेना घड़ी की सुई को पीछे हटाना नहीं, बल्कि फिर से चलाना ही कहा जायगा। दस्ती औज़ारों के उपयोग की बनिस्बत वर्तमान महायुद्ध घड़ी को अधिक कारगर तौर पर पीछे कर देनें वाले हैं; तो भी आज के

राजनीतिज्ञ, अधिकाधिक बड़े-बड़े इंजिनियरों और 'सुरक्षित' व्यक्तियों की अनुमति से, युद्ध की तैयारियों में खर्च कर रहे हैं।

आधुनिक उद्योगवाद ने काम करके सामाजिक कार्य को उस ज़माने से भी पीछे धकेल दिया है, जबकि दस्तकारी का रिवाज जारी था। हमारी नैतिक एकता की प्रत्यक्ष साधना दस्तकारी के ज़माने में जिस मंज़िल पर थी, उससे ज़रा भी आगे नहीं बढ़ी। 'पीछे क़दम' तो तब हटा जब हमने और हमारे पुरुखों ने मूर्खतावश इतनाभी नहीं समझा और उसके अनुसार आचरण नहीं किया कि मनुष्य-समाज एक इकाई है, और हमें ऐसे तरीक़ों और औज़ारों तथा विनिमय के माध्यमों को अपनाना चाहिए जिससे वह एकता हमारे रोज़मर्रा के विनिमय और काम में व्यक्त हो।

दस्तकारी को अपनाने से श्रम-विभाग के सिद्धान्त का परित्याग नहीं होगा; बल्कि कुछ अंशों में आप-से-आप चलनेवाली या आधी आप-से-आप और आधी हाथ से चलने वाली मशीनों ने ही इस सिद्धान्त को बिगाड़ा है। दूसरी बातों में, इस सिद्धान्त पर अभी हाल तक जो ज़ोर का अमल होता आया था वह अब दो मूलभूत आवश्यक बातों में परिवर्तन हो जाने से नहीं हो सकता, क्योंकि एक तो अब पहले के जितने बड़े-बड़े बाज़ार नहीं रहे, और दूसरे मज़दूर, मैनेजर और मालिक में अब पहले का-सा सहयोग, अन्योन्याश्रय और सामंजस्य का भाव नहीं रहा। श्रम-विभाग में भी लाभ की एक सीमा है और वह सीमा हाल में समाप्त-सी हो गई है।

गांधीजी की तजवीज मशीनों या विज्ञान का परित्याग नहीं करती; बल्कि वह सरल मशीनों को अबतक अप्रयुक्त मानवशक्ति के एक ऐसे विशाल भंडार के सामने पेश करती है, जोकि बेकारों की भारी सेना के रूप में उपस्थित है। वह कुछ खास मशीनों को पसन्द करते हैं, क्योंकि वे जनता की आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों के अनुकूल हैं और क्योंकि उन ख़ास मशीनों के प्रयोग से पहले ही से बड़े परिमाण में मौजूद सामाजिक और आर्थिक कठिनाइयाँ तथा समस्यायें और ज्यादा नहीं बढ़ेंगी।

आजकल सब देशों में सैनिक तैयारियों और कार्रवाइयों के लिए राष्ट्रीय निधियों का अनुपात और परिमाण निरन्तर बढ़ता जा रहा है, और इस कारण लोगों के रहन-सहन का, और शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य आदि सार्वजनिक सेवाओं का दर्जा गिरता जा रहा है। आर्थिक व्यवस्था आज उतार के युग में है। कम-से-कम पश्चिम में सामाजिक अवनति और संगठन निरन्तर बढ़ रहे हैं, जो पागलपन, आत्मघात और अन्य अपराधों की बढ़ती हुई संख्या से प्रकट है। यदि कोई दूसरा विश्व-युद्ध छिड़ गया तो मानव-जाति को बहुत बड़े पैमाने पर 'औक्युपेशनल थैरापी' (इलाज-ए-पेशा या व्यावसायिक चिकित्सा) की आवश्यकता पड़ेगी। खद्दर और सब क़िस्म की दस्तकारियाँ लोगों के लिए सब जगह ज्यादा महत्वपूर्ण होजायेंगी—आर्थिक दृष्टि से भी और चिकित्सा की दृष्टि से भी।

तब भी, हम इस सचाई की भी उपेक्षा नहीं कर सकते कि कल-कारखानों के सब देशों में आबादी जल्दी-जल्दी घट रही है। इस सचाई को कार-सौण्डर्स, कुकज़िन्स्की टी० एच० मारशल, एनिड चार्ल्स, एच० डी० हेण्डरसन, आरनॉल्ड प्लाण्ट और हौगबेन सरीखे अधिकारियों ने प्रमाणित कर दिया है। आबादी की इस घटती का भारी आर्थिक और सामाजिक प्रभाव सारे संसार पर, खासकर पश्चिम पर बहुत करारा और भयंकर पड़ेगा। इस कारण भी, दस्तकारियों और विशेषकर खद्दर का प्रसार अत्यन्त सहायक सिद्ध होगा।

अन्य विचारों के अतिरिक्त इन कारणों से भी मैं इस निर्णय पर पहुँचता हूँ कि गांधीजी एक महान् समाज-वैज्ञानिक और सामाजिक तथ्यों के आविष्कर्ता हैं। उनकी सफलतायें देखकर मुझे एक पुरानी संस्कृत लोकोक्ति याद आती है कि "मनुष्य को चमत्कारिक शक्तियाँ कठिक काम करने से प्राप्त नहीं होतीं, बल्कि इस कारण प्राप्त होती हैं कि वह उन्हें शुद्ध हृदय से करता है।" इसका अभिप्राय यह है कि उच्च, सरल उद्देश्य और उत्कट लगन ही चमत्कार दिखला सकती है। आइए, हम गांधीजी के लिए ईश्वर का धन्यवाद करें।

## : १३ :

# काल-पुरुष

## जेराल्ड हेयर्ड

**[ हॉलीवुड, युनाइटेड स्टेट्स अमरीका ]**

पश्चिमी दुनिया ने जब यह कल्पना करनी शुरू की कि धनवान होना ही सभ्य होना है, तो यह ख़याल रहा होगा कि ज़रूरी तौर पर ज्यों-ज्यों यन्त्र-कौशल उन्नत होगा, त्यों-त्यों कल्याण भी उतना ही बढ़ता जायगा और सुख-समृद्धि भी स्थायी हो जायगी, लोग सब समान माने जानें लगेंगे, क्योंकि बेहद सामान उन्हें समान भाव से मिल सकेगा; और इस तरह उन्नति की सीमा न रहेगी।

अब जब वह थोड़े दिनों की कल्पना उड़ रही ह और वह पश्चिम का वहम साबित हुई है तब यह कहना सम्भव है कि आदमी सब बराबर नहीं हैं। प्रकृति की सबको भिन्न-भिन्न आध्यात्मिक देन है और उनमें छोटे-बड़े भी हो सकते हैं। यह भी ज़ाहिर है कि सभ्यता अनिवार्य रूप में प्रगति ही नहीं करती जाती है, बल्कि उसमें उतार-चढ़ाव दोनों आते हैं। कभी तीव्र ह्रास का युग भी आजाता है, तो कभी किसी विशिष्ट सृजन-शक्तिशाली अकेले व्यक्तित्व की स्फूर्ति-प्रेरणा से आकस्मिक उभार और परिवर्तन भी हो चलता है।

इस नई निःशस्त्र सत्ता के विकास में अगली मंज़िल पहले से भिन्न हुई। इस बार वह किसी निश्चित धर्म-मत की पुनःप्रतिष्ठा का प्रयत्न करनेवाली किसी व्यवस्था रूप में नहीं, बल्कि जीवन की कुछ ख़ास समस्याओं का निराकरण करने की सफलता के रूप में आई, जोकि अबतक हिंसात्मक उपायों से हल न हो सकी थीं। पागलपन की नवीन मानसिक चिकित्सा पद्धति के उदय के साथ हम कह सकते हैं कि एकांगी ही सही, पर अहिंसा की निश्चित विजय के लिए एक नवीन क्षेत्र खुल गया। उन्माद और मस्तिष्क-विकारों का इलाज दमन में नहीं, बल्कि प्रीति में देखा जाने लगा। अहिंसा की इस खुली शक्ति से पागलपन का मिटाना और पागल होने के अवसरों का कम करना शक्य हुआ। पहले के रूढ़ और ग़लत हिंसक साधनों में यह शक्ति कभी नहीं पाई जा सकती थी। ज़बर्दस्ती के विरोध में युक्ति और दमन के विरोध में प्रीति के सिद्धान्त के इस वैज्ञानिक प्रयोग से हमने बहुत-कुछ सीखा है। असभ्य और पिछड़ी जातियों के साथ सम्पर्क की आवश्कता सीखी, मानवता का विस्तार करना सीखा, जंगली जानवरों को साधना सीखा और अपराधी को फिर समाज-योग्य बनाने की शिक्षा ली।

तो भी हिंसक-साधनों से बस में न आनेवाले विशेष श्रेणी के मनुष्यों और पशुओं को सुधारने में उस अहिंसक पद्धति के अपूर्व फल तो दीख पड़े, पर ये फल अधिकतर व्यक्तिगत रूप में घटित और प्राप्त किये गये। जैसे कि अतिशय धर्मशील जीवन बितानेवाले क्वेकर लोगों ने जगह-जगह इसकी सफलता प्रत्यक्ष क्रिया द्वारा दिखलाई थी। पर ये इक्के-दुक्के प्रयोग थे। इनमें कोई वैज्ञानिक एकसूत्रता की प्रतिष्ठा नहीं हुई थी। उन्हें उपयोग में लानेवाले लोग भी युद्ध और शान्ति, या समाज-व्यवस्था अथवा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के सामान्य प्रश्नों की अपने इस अन्वेषण, पद्धति या सफलता से कैसी संगति बैठती है, यह उस समय तक समझ नहीं पाये थे।

पर इस बीच लड़ाई-झगड़े अधिकाधिक भीषण रूप पकड़ते गये। उनकी संहार-शक्ति की नौबत यहाँतक पहुँची कि जिसकी संभावना भी नहीं थी। यहाँतक कि कल्पना भी उसपर थर्रा जाय। और जैसा कि मनुष्य-जाति के विषय में अक्सर होता है, जैसे-जैसे उस युद्ध की विभीषिका और व्यर्थता बढ़ी चली गई, और लोग उनके उन्माद से बच नहीं पाने लगे, वैसे-ही-वैसे वह युद्ध के साधन के बजाय स्वयं साध्य समझा जाने लगा। जिसको पहले कारगर ज़रूरत के तौर पर अनिवार्य कहकर समर्थन करने की कोशिश की जाती थी, वह अपनेआप में ही बड़ी महत्वपूर्ण और सद् वस्तु समझी जाने लगी।

इस प्रकार की दो अतियों और दो उन्मादों के बीच संधि और समन्वय साधने-वाले एक व्यक्ति की आवश्यकता थी ही। लोग थे जो संहारक शस्त्रों की अतुल शक्ति के आगे अंधे होकर झुक पड़े और फिर स्वयं हत्याकारी यंत्रों की तरह अन्धी और उस से भी अधिक विनाशकारिणी विवेकहीन समूह-शक्ति की सत्ता के ताबे आ रहे। ठीक

ऐसे समय आवश्यकता थी उस पुरुष की जो संहार के राक्षसी यंत्रों के आविष्कारकों की बुद्धि से भी पैनी आविष्कारिणी वैज्ञानिक बुद्धि रखता हो, उनसे बढ़कर जो कुशल हो, और पारस्परिक नर-संहार के घमासान में मरने-कटने के लिए अपनी प्रजा को भेज देनेंवाले बल-वेगशाली नेताओं से भी बढ़ी-चढ़ी क्रिया-शक्ति का जो स्वामी हो।

इसमें सन्देह की गुंजाइश नहीं कि इतिहासकारों को ऐसा व्यक्ति मोहनदास करमचन्द गांधी के रूप में मिलेगा। यूरोप, एशिया और अफ़्रीका के तीन महाद्वीप आपस के सम्पर्क में आकर तीनों विक्षिप्त और विलुब्ध हो रहे थे। उस समय भारत ने इस पुरुष का दान अफ़्रीका को दिया। अफ्रीका की उस भूमि पर यूरोप के विरोध में (यूरोप के पक्ष में कहना शायद ज्यादा सही हो) इस व्यक्ति ने अपनी प्रतिभा और सिद्धान्त का पहला व्यापक परीक्षण किया। 'पक्ष में' इसलिए कहा कि गांधी की अहिंसा एक ऐसी नीति है जो स्वभाव से ही पक्ष की भाँति विपक्ष का भी हित-साधन करती और उसे सुसंस्कार देती है। भारत में जन्म लेकर यह योग्य ही था कि गांधी की अहिंसा-नीति का प्रयोग-क्षेत्र अफ्रीका हो। क्योंकि अहिंसा की नीति की शिक्षा एक देश या जाति के लिए नहीं है, वरन् वह समूची मानवजाति का हक़ है। मानव-समाज की भिन्न-भिन्न जातियों के बीच ही नहीं, बल्कि सब सजीव प्राणियों के बीच निस्सन्देह एक यही (अहिंसा का) सम्बन्ध या जोड़नेवाली कड़ी सही और उचित है। अफ्रीका के बाद, जिस भारत ने अपने इस पुत्र को बाहर भेजा था, वही उसके आन्दोलन और इतिहास की रंगभूमि बना। उसी भारत देश के स्वातन्त्र्य-आन्दोलन में उसका व्यक्तित्व तप और साधना से तपता हुआ अब अपनी परिपूर्णता पर आता जा रहा है। भारत वह देश है, जिसे विश्व का प्रतीक कहना चाहिए। महाद्वीप ही उसे कहें। तमाम जातियों के लोगों और समस्याओं की विषमता का तनाव उस देश की परिस्थिति में प्रतिबिंबित और शरीर में अनुभूत होता है। उसी देश को वह पुरुष अपना जीवन होमकर सिखा रहा है कि युग-युग से अपने प्राचीन ऋषियों की शिक्षा के सार का सामूहिक रूप से प्रयोग करके किस प्रकार स्वतन्त्रता को पाना होगा।

भविष्य में क्या है, हम नहीं देख सकते। लेकिन काल अथवा देश के भी हिसाब से यह निश्शंक होकर कहा जा सकता है कि अगली ही पीढ़ी में और हिन्दुस्तान में ही मृत्यु और जीवन की शक्तियों का अन्तिम युद्ध होनेवाला है। एक ओर तो विनाश की शक्तियाँ होंगी जो सुझायेंगी कि भीरु और सम्पन्न लोगों की सुरक्षा केवल उन्हींके हाथ में है। दूसरी ओर विधायक, निर्माणकारी शक्तियाँ होंगी, जिनके कारण ऐसे नये प्रेम-मन्त्र से दीक्षित, व्यवस्थित, जागरूक और अनुशासन-बद्ध सैनिक जाकर मैदान लेंगे जो मानवजाति के त्राता होंगे। वे मनुष्यजाति के हित में ऐसी एक अपूर्व विजय पाने का प्रयत्न करेंगे, जिसमें बरबादी किसीकी भी नहीं होगी। न धन की बरबादी होगी, न समस्त मानवजाति की। हम नहीं कह सकते कि यह परिणाम

कैसे घटित होगा। फल हमारे हाथ नहीं। लेकिन इतना कह सकते हैं कि सफलता हो या असफलता हो, जो अपने दूसरे भाइयों का हित चाहते हैं और उनकी हत्या नहीं चाहते, उनके लिए राह यही और एकमात्र यही है, दूसरी नहीं; और वह राह यदि प्रशस्त होकर आज हमारे आगे खुली हुई है, तो उसका श्रेय सबसे ज्यादा उस व्यक्ति को है जो आज दिन अपने जीवन के और मानवजाति की सेवाओं के शिखर पर खड़ा है।

## : १४ :

# गांधी : आत्मशक्ति की प्रकाश-किरण

### कार्ल हीथ

**[ अध्यक्ष, इण्डिया कन्सिलियेशन ग्रुप, लन्दन ]**

मानवता के इतिहास में अवतारी पुरुष को सदा दुर्धर्ष संघर्ष का सामना करना होता है। किसी की उक्ति है, "प्रकाश की भाँति मैं जग में आया हूँ।" किन्तु प्रकाश-पुत्रों को यह जगत् स्वागत नहीं देता; क्योंकि लोगों को प्रकाश से अधिक अन्धकार प्रिय होता है। अज्ञान, दुराग्रह और उपेक्षा ही जैसे रक्षक बनकर उन्हें बचाये रखते हों। अवतारी पुरुष इसी सुरक्षा के खोल को भंग करते और आत्मा की जय साधते हैं।

जीवनभर इस अन्धकार को छिन्न-भिन्न करके बढ़ते रहना और अज्ञान और दुराग्रह से कभी न हारना, बल्कि सदा उसे परास्त करते रहना—गांधी के चरित्र की विशेषता रही है। यही वजह है कि आज दिन हिन्दुस्तान की सर्वश्रेष्ठ आत्मा और प्रतिभा के रूप में ही उनकी दीप्ति फैली हुई नहीं है, बल्कि तमाम सहृदय मानवता के स्फूर्तिदाता ही आज वह हैं। जीवन उनका सतत साधना, तपस्या, आर्त-कातर प्रार्थना और अनेक उपवासों का लम्बा इतिहास है। ऐसा न होता तो वह इतने महान् नहीं हो सकते थे।

बहुत पहले ही मोहनदास करमचन्द गांधी ने धीरता के परम रहस्य को पा लिया था। थॉमस ए० कैम्पिस ने कहा है, "अपार धैर्य में तू शान्ति प्राप्त कर।" गांधी ने सचमुच ही उस कथन की सचाई को अपने भीतर अनुभूत किया है। जो गांधी के जीवन का अध्ययन करेंगे, उनके सार्वजनिक कृत्यों और सम्बन्धों को बारीकी से देखेंगे, वे यह अनुभव किये बिना नहीं रह सकेंगे कि चाहे दूसरों के आवेश या जोश को देखकर उनके खून का दबाव बढ़कर खतरनाक हो जाय; पर उनका सहज धैर्य भंग नहीं हो सकता। धैर्य उनमें अगाध है। विरोधियों के प्रति, विदेशी सरकार के प्रति, अनगिनती दर्शनार्थियों के प्रति और स्वयं अपने अनुयायियों और शिष्यों के प्रति—

सबके प्रति—धीरज उनका अखण्डित रहता है। यह अनन्त धैर्य-धन उनका स्वत्व है, और दारुण-से-दारुण घटना या जघन्य-से-जघन्य अपराध भी उनके धीरभाव को विचलित नहीं कर सकता। इसका कारण कदाचित् यह हो कि भीतर आत्मा में उनके अखण्ड निष्ठा है कि प्रभु के राज्य में अमंगल की तो कभी कोई आशंका ही नहीं हो सकती। और मोहनदास करमचन्द गांधी उस प्रभु के राज्य के ही सेवक हैं।

और फिर वह सत्य के अनन्योपासक हैं। वह कभी ग़लतियां न करने का ढोंग नहीं रचते और जब-जब भूल उनसे होगई है, अनुपम साहस के साथ उसे उन्होंने स्वीकार किया है और सार्वजनिक आँखों के आगे उसका प्रायश्चित्त किया है। तीन वर्ष हुए, उन्होंने लिखा था, "अब तो मेरे ईश्वर का एक ही नाम और बखान है। वह है सत्य! उससे अधिक सम्पूर्णता मैं और नहीं जानता।" ध्यान रहे कि इस ईश-धर्म में वह काल्पनिक सचाइयों की दुनिया में नहीं जा रमते हैं; बल्कि इस भाँति उनकी कर्मनिष्ठा ही बढ़ती है। "ऐसे धर्म के सच्चे अनुयायी रहनें में व्यक्ति को जीव-मात्र की सतत सेवा में अपने को खो देना होता है।" और यह सेवा ऊपर से की जानेवाली दया-दान की सेवा नहीं है। "यह तो अपनी क्षुद्र बूंद को जीवन के अपार महासागर में पूरी तरह डुबोकर एकाकार कर देना है।" "जीवन के सब विभाग उस सेवा में समा जाने चाहिएँ।" इस तरह सत्य उनके लिए एक जीवन्त तथ्य है।

और इसलिए गांधी में जीवन की एक अखण्डता—परिपूर्णता देख पड़ती है। आत्मिक ऊँचाई में कहीं अलग जाकर वह नहीं खड़े होते। यदि वह महात्मा हैं तो सर्वसाधारण के बीच सर्वाति साधारण भी हैं। दृष्टि स्पष्ट, ईश्वर के समक्ष मौन-मग्न, सच्चे अर्थ में विनय-नम्र! ऐसा यह प्रार्थना, अध्यात्म और ईश-लगन का पुरुष एक ही साथ शरीर के काम में भी अथक और चुस्त है। सबके प्रति सुलभ, अतिशय स्नेही और अत्यंत विनोदी। वह व्यक्ति मानव संघर्ष के निकट घमासान में भी जितना नैतिक और धार्मिक है उतना ही सामाजिक और राजनैतिक भी है।

कभी वह रहस्य की भाँति दुरधिगम्य होते हुए भी अपनी आत्मा की सरलता और विमलता के कारण सबके स्नेह-भाजन भी हैं। फिर अपने अन्दर का मैल तो उन्होंने कोने-कोने से धो डाला है। मैल नहीं तो बाहरी परिग्रह भी उनके पास नहीं ही जितना है। इससे उनके अपने या अन्य देशों के स्त्री-पुरुष बड़ी संख्या में दूर-दूर से खिचकर उनके पास पहुँचते हैं। स्वत्व के नाम सब उन्होंने तज दिया है। थोरो की भाँति वह कुछ न रखकर भी सब पा जाने का आनन्द उड़ाते हैं। और समूची जीव सृष्टि की सेवा के अर्थ सत्य-शोध में अपने को गला देनेंवाले वह गांधी लाखों स्त्री-पुरुषों के आश्वासन और आकांक्षा के केन्द्र-पुरुष बन गये हैं।

दक्षिण अफ़्रीका में अपने राष्ट्रवासियों के हक़ में उनके युद्ध को याद कीजिए। उनकी अपनी हिन्दू-जाति के अछूतों—हरिजनों—के अर्थ किये उनके आन्दोलन का

स्मरण कीजिए, भारतवासियों और उनकी स्वतन्त्रता के लिए किये गये प्रयत्नों को देखिए; दीन, दरिद्र और अपढ़ छितरे-छाये हिन्दुस्तान के गाँवों को देखिए; सरहद के पठानों और कबीलेवालों को देखिए; मुस्लिम-हिन्दू ऐक्य या राजबंदियों के छुटकारे की बात लीजिए; सब वर्गों, जातियों, सम्प्रदायों और धर्मों के स्त्री-पुरुषों को देखिए; गोरक्षा की भावना से व्यक्त होनेवाले पशु-जगत् को लीजिए—गांधी का कर्म सब जगह व्याप्त दीखेगा। और बुराई के प्रति अहिंसात्मक प्रतिरोध की शिक्षा उनकी जीवित और अमर सूझ है। दुनिया में जो लोग युद्ध की जिघांसा से युद्ध करने में प्रवृत्त हैं, उन सबको उनके उदाहरण में आश्वासन और दिशा-दर्शन प्राप्त होगा। अपने समूचे और विविध लौकिक कर्म के बीच उस व्यक्ति ने किसीके प्रति असद्भावना को प्रश्रय नहीं दिया। सदा विकार पर विजय पाई और इस भाँति "भारत के और 'मानवता' के एक विनम्र सेवक" कहलाने का गौरवपूर्ण अधिकार पाया।

सत्याग्रह के सिद्धान्त को ऐसी अविचल निष्ठा के साथ उन्होंने पकड़े रक्खा, यह योग्य ही है; क्योंकि वह स्वयं आत्म-शक्ति के अवतार हैं। अपनी सब सामाजिक और राजनैतिक प्रवृत्तियों से परे वह प्रकृत भाव में सदा आध्यात्मिक पुरुष ही रहे हैं। अतः आधुनिक युग के लिए उनकी वाणी चुनौती की वाणी बनगई है, यही उनका सर्वोत्तम गुण है। इसीमें उनकी अवतारता सिद्ध है। जेल में रहकर, त्रस्त होकर, उपेक्षा, अपमान और उपहास के शिकार बनकर भी वह मानवता की माप में हर पग पर ऊँचे-ही-ऊँचे चढ़ते गये।

मनुष्यों तथा अन्य जीवधारियों के प्रति उनकी मानवोचित सहृदयता के कारण इस धरती पर हर देश और हर जगह उन्हें अनेक स्नेही बन्धु प्राप्त हुए हैं। उनके मन में हिन्दू और मुसलमान, ईसाई, बौद्ध, पारसी, यहूदी धर्मों के लोगों के बीच कोई भेद-भाव नहीं है। सब उनके मित्र हैं और सत्य के इस अनन्त परिवार के अंग हैं, और सत्य ही ईश्वर है। मनुष्य अथवा मनुष्येतर, अर्थात् प्राणिमात्र के प्रति अहिंसा की भावना उनके जीवन में ओतप्रोत है। इस युग में सभ्य और परिपूर्ण मानवता का उन्हें नमूना समझिए।

: १५ :

## मुक्ति और परिग्रह

### विलियम अर्नेस्ट हॉकिंग

[ अध्यापक दर्शनशास्त्र, हारवर्ड-यूनिवर्सिटी ]

आदमी पाता है कि आस-पास की अपनी स्थिति और अपने समाज-संबंधों के कारण गोया कर्म और विचार की उसकी स्वतंत्रता में बाधा पहुँचती है। यह समस्या

सबकी समस्या है। और गांधीजी के जीवन में जबकि इस युग के लिए अनेक शिक्षायें हैं, तब इस समस्या का समाधान भी वहाँ है।

अपनी संस्थाओं पर जब हम विचार करते हैं, तो उसका सबसे पहला असर शायद यह होता है कि हम उसके दोषों या त्रुटियों से परिचित होलें; हमारी पाश्चात्य जातियों में शिक्षित मनुष्य के लिए यह कठिन हो जाता है कि वह अमुक पंथ (चर्च) से अपना सम्बन्ध स्थापित करे, क्योंकि वह प्रचलित मत-पंथों में से किसी के स्वरूप को स्वीकार नहीं कर सकता, अथवा किसी राजनैतिक दल का सदस्य बने, क्योंकि सभी दल बेवक़ूफी और स्वार्थ-भावना से कलंकित हैं। दर्शन-शास्त्र के अध्ययन में एक दृढ़ प्रवृत्ति यह होती है कि वह मनुष्य को इन बन्धनों से और साथ ही कुटुम्ब तथा देश के वन्धनों से भी विमुक्त कर देती है। दार्शनिक को किसी ख़ास पक्ष का होना ही नहीं चाहिए। उसे पक्ष-विपक्ष से परे होना चाहिए। धर्म इस अनासक्ति को एक क़दम और आगे ले जाता है। वह परमात्मा से ऐक्य स्थापित करता है, सर्वात्मैक्य की ओर लेजाता है, भेद-बुद्धियाँ नष्ट हो जाती हैं और सिद्धान्ततः मनुष्य विश्वात्मा होजाता है। साथ ही, वह किसी उपयोग और अर्थ का भी नहीं रहता है।

गांधीजी अपने भगवान् को 'सत्य' के नाम से पुकारते हैं। यह सिद्धान्त विश्व-व्यापी ह और तमाम धार्मिक मत-मतान्तरों से परे है। वह उसे 'राम' भी कहते हैं। राजनीति में भी उनका मार्ग उस एकात्मदेव की ओर ही जाता है। ऐसे लोगों के साथ भी चर्चा का धरातल उन्हें सुलभ है, जो नीति और रुचि में उनसे बहुत अधिक भेद रखते हैं। यह होते हुए भी उनका एक पक्ष है। लगभग यह कहा जा सकता है कि वह स्वतः एक ही हैं। वह प्रस्तुत प्रश्नों की व्याख्या करते हैं, निश्चित योजनायें बनाते हैं और 'हरिजन' तथा दूसरे पत्रों द्वारा उन प्रश्नों के पक्ष में चर्चा चलाते हैं। उपयोग-हीनता और अर्थहीनता के इस तरह वह बिलकुल उलटे हैं।

संक्षेप में, गांधीजी ने यह बतला दिया है कि संन्यासी की अनासक्ति राजनेता की सफलता को किस प्रकार योग दे सकती है; और सांसारिक कर्त्तव्य का अंगीकार और अनेकविध समारम्भों का ग्रहण किस प्रकार वैयक्तिक स्वाधीनता में अधिक-से-अधिक योग दे सकता है। क्योंकि मैं जितने लोगों से मिला हूँ, उनमें से किसी का भी मुझ पर ऐसा प्रभाव नहीं पड़ा कि जिसने नित्य के जीवन में कर्तव्य-कर्म को उतनी परिपूर्ण सहृदयता के साथ करना चाहा हो और उसके करने में अत्यन्त आनन्द प्राप्त किया हो।

उनके लिए तो यह एक साधारण-सी बात है, पर यही एक वस्तु स्पष्टता के अभाव में संसार के अधिकांश क्लेशों और मूढ़ताओं की जड़ बनी हुई है। खुद हमारे अमेरिकन समाज में ऐसे आदमी भरे हुए हैं जो अपनें परिग्रह और तत्संबंधी अपने कर्त्तव्यों से भागकर स्वाधीनता-प्राप्ति का प्रयत्न कर रहे हैं और जिस कौटुम्बिक बन्धन को

स्वीकार कर चुके, उसे तोड़कर स्वाधीनता के लिए आतुर हो रहे हैं। अधिक क्या कहें राजनैतिक कार्यों के संघर्ष से, संगठित धर्म से, और यहाँतक कि अपने खुद के प्रत्यक्ष अस्तित्व से भागकर स्वाधीनता के लिए छटपटा रहे हैं। लोक-सत्ता लड़खड़ाती है, क्योंकि चिन्तन और मनन उसे उन व्यक्तियों की सेवा से वंचित कर देते हैं जो उसके भार को सबसे अच्छी तरह वहन कर सकते हों। 'अपूर्ण की महिमा' हमें अब भी सीखनी है, और सीखना है कि जो विशिष्ट या व्यक्त और एकदेशीय को छोड़कर छूट जाता है, वह स्वयं अस्तित्व से ही मुक्ति प्राप्त कर लेता है, क्योंकि अस्तित्व सविशेष या विशेषतया व्यक्त ही है।

गांधीजी ने हमें यह सिखलाया है कि अपनी जाति के अन्दर मिली अपनी आत्मा की महत्ता के अतिरिक्त दूसरी कोई महत्ता नहीं है। अपने प्रान्त या क्षेत्र के अन्दर जो हमारी सार्वलौकिकता है, उससे परे कोई सार्वलौकिकता नहीं है। स्वपरिग्रह से मुक्ति ही सच्ची मुक्ति है, अन्य मुक्ति नहीं।

: १६ :

## गांधी की महत्ता का स्वरूप

### पादरी जॉन हेन्स होम्स

**[ दि कम्यूनिटी चर्च, न्यूयार्क, अमरीका ]**

कोई बीस वर्ष हुए होंगे, मैंने अमरीका की जनता के आगे यह घोषित किया था कि "गांधीजी संसार में सबसे महान् पुरुष हैं।" उन दिनों मेरे देशवासी गांधीजी के बारे में कुछ नहीं जानते थे। हमारे पाश्चात्य संसार में उनका नाम तब मुश्किल से पहुँच पाया होगा। किन्तु उस समय से उनका नाम इतना अधिक प्रसिद्ध होगया जितना कि किसी भी महापुरुष का हो सकता है। और अमरीकावासी इस बात को जानते हैं कि मैंने गांधीजी को जो सबसे महान् कहा था, सो ठीक ही कहा था।

गांधीजी की महत्ता इस युग में साधारणतः ऐसी किसी वस्तु के कारण नहीं है जिसकी कि साधारणतया महान प्रतिभा या महिमा के अन्दर गणना हुआ करती है। न तो उनके पास बड़ी-बड़ी सेनायें हैं और न उन्होंने किसी देश को ही जीता है। न वह कोई उच्चपदासीन राजनीतिज्ञ ही हैं, जो राष्ट्रों के भाग्यविधाता कहे जा सकें। वह कोई दार्शनिक अथवा ऋषि भी नहीं हैं। उन्होंने न कोई बृहत् ग्रन्थ लिखे हैं, न बड़े-बड़े काव्य। उनमें तो स्पष्ट और विशिष्ट व्यक्तित्व के वे तत्त्व ही नहीं हैं जो कि मनुष्य को, कम-से-कम बाह्यतः, एक प्रभावशाली नेता बनाते हैं। उनकी प्रतिभा तो आत्म-शक्ति के क्षेत्र में सन्निहित है। वहीं उसका होना उन्हें पसन्द भी होगा। यह उनका

'आत्मबल' ही हैं जिसने उन्हें अनुपम प्रभाव और नेतृत्व के पद पर बिठा दिया है, और ऐसी वस्तुओं को प्राप्त कराया है जो इतिहास के थोड़े-से बड़े-से-बड़े व्यक्तियों को छोड़कर सबकी पहुँच और गति से परे हैं।

भारत को अन्त में जब स्वतन्त्रता प्राप्त हो जायगी तब उसका श्रेय जितना गांधी को दिया जायगा उतना किसी दूसरे भारतीय को नहीं मिलेगा। यह भी श्रेय गांधीजी को ही मिलेगा कि उस स्वाधीनता के योग्य अपने देशवासियों को उन्होंने बना दिया है और ऐसा उन्होंने उनकी अपनी संस्कृति का पुनरुद्धार करके, आत्मगौरव और आत्मसम्मान की भावना को उनके अन्दर जाग्रत करके, उनमें आत्मनियंत्रण का अनुशासन विकसित करके, अर्थात् उन्हें आध्यात्मिक तथा राजनैतिक दृष्टि से आज़ाद करके, किया है। इसके अलावा, उनका एक महान् कार्य अस्पृश्यों के उद्धार का है—यह अकेला काम ही उनका इतना महान् है कि जो मानव-जाति के उद्धार के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा। फिर गांधी के जीवन की श्रेष्ठ वस्तु 'अहिंसात्मक प्रतिरोध' का सिद्धान्त है, जिसको उन्होंने विश्व में स्वतन्त्रता, न्याय और शान्ति प्राप्त करने के लिए एक श्रेष्ठ आध्यात्मिक कला में परिणत कर दिया है। दूसरे मनुष्यों ने जिस वस्तु को एक व्यक्तिगत अनुशासन के रूप में सिखलाया है, गांधी ने उसे विश्व के उद्धार के लिए एक सामाजिक कार्यक्रम के रूप में परिणत कर दिया है।

गांधीजी अतीत युगों के तमाम महापुरुषों में भी महान् हैं। राष्ट्रीय नेता के रूप में वह अल्फ़ेड, वालेस, वाशिंगटन, कोसियस्को, लफ़ाइती की कोटि में आते हैं। ग़ुलामों के त्राता के रूप में वह क्लार्कसन, विल्बरफोर्स, गैरिज़न, लिंकन आदि की भाँति महान् हैं। ईसाई धर्मग्रन्थों में जिसे 'अप्रतिरोध' और इससे भी सुन्दर शब्द 'अमोघ प्रेम' कहा है, उसकी शिक्षा देनेवाले के रूप में वह सन्त फ्रांसिस, थोरो और टाल्स्टाय की श्रेणी में आते हैं। युग-युगान्तरों के महान् धार्मिक पैग़म्बरों के रूप में वह लाओज़े, बुद्ध, ज़रथुश्त और ईसा के समकक्ष हैं। सर्वश्रेष्ठ रूप में वह मानव हैं, जिसके विषय में मैंने 'री-थिंकिंग रिलीजन' नामक अपनी हाल की पुस्तक में लिखा है :

"वह विनम्र हैं, मृदुल हैं और बड़े दयालु हैं। उनकी विनोदशीलता अदम्य है। उनके व्यवहार की सरलता मोहक है, उनकी संकल्प-शक्ति को कोई दबा नहीं सकता, उनका साहस मानो लोहा है। यद्यपि उनके तौर-तरीक़े शान्त और मृदुल होते हैं, फिर भी उनकी सच्चाई स्फटिक मणि के समान पारदर्शक है, सत्य के प्रति उनकी निष्ठा अनुपम है, खोने के लिए कुछ न होने के कारण उनकी स्थिति ऐसी है कि उनपर आक्रमण नहीं किया जा सकता। हरेक वस्तु का खुद जिसने उत्सर्ग कर दिया है वह दूसरों से किसी भी वस्तु को त्यागने के लिए कह सकता है। उसके जीवन से सांसारिक विचार, सांसारिक महत्वाकांक्षायें और चिन्तायें कभी की विलुप्त हो चुकी हैं। उसपर तो आत्मा का ही, जो सत्ता और अहिंसा के रूप में व्यक्त है, पूर्ण अधिकार है। गांधीजी

कहते हैं, "मेरा धर्म-सिद्धान्त ईश्वर की सेवा और इसलिए मानव-जाति की सेवा है... और सेवा का अर्थ है शुद्ध प्रेम।"

## : १७ :

# दक्षिण अफ्रीका से श्रद्धांजलि

आर. एफ. अल्फ्रेड होर्नले, एम. ए, डी. लिट्.

[ विटवाटरस्रैंड यूनिवर्सिटी, जोहान्सबर्ग, दक्षिण अफ्रीका ]

गांधीजी की भावना और उनके आदर्शों के प्रति जहां संसारभर से श्रद्धांजलि अर्पित हों, वहाँ कम-से-कम एक तो दक्षिण अफ़्रीका के श्वेतांग की ओर से भी होनी उचित ही है।

कारण कि पहले-पहल सन् १८९३ में दक्षिण अफ्रीका में ही गांधीजी ने भारतीय समाज का नेतृत्व किया। यहाँ रोज़ यूनिवर्सिटी जाते-आते रास्ते में पड़नेवाला जोहान्स-बर्ग का यह 'क़िला' ही उनके और उनके साथियों का पहला कारागार बना था। ट्रान्सवाल को स्वायत्त शासन के अधिकार मिल जाने पर उपनिवेश-मन्त्री के पद पर नियुक्त जनरल स्मट्स से ही उन्होंने दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों के भविष्य के सम्बन्ध में समझौते की बातचीत चलाई। निष्क्रिय प्रतिरोध की नीति को पहले-पहल बरतने और उसका परीक्षण करने का पहला अवसर भी उनको यही वर्णभेद के आधार पर बनाये क़ानूनों के ख़िलाफ़ उठाये गये भारतीयों के आन्दोलन में मिला, दक्षिण अफ्रीका के बहुत-से प्रवासी भारतीयों के घरों और प्रवासी भारतीय समाज की समस्त सार्वजनिक इमारतों में 'महात्मा' का चित्र अपना एक ख़ास आदर का स्थान रखता है। दक्षिण अफ्रीका में आज भी वे स्त्री-पुरुष—श्वेतांग और भारतीय दोनों—जीवित हैं, जिन्होंने उस संघर्ष में गांधीजी का साथ दिया था और कष्ट सहन किये थे। उनका एक पुत्र वहीं रहकर 'इंडियन ओपीनियन' नामक पत्र का सम्पादन करता है। इस पत्र की स्थापना गांधीजी ने ही की थी, और यह अब भी नेटाल की 'फिनिक्स' बस्ती से प्रकाशित होता है। यह बस्ती गांधीजी के भारतीयों की उन्नति सम्बन्धी सपनों को सच्चा करने के उद्देश्य से बसाई गई थी। आध्यात्मिक और राजनैतिक नेतृत्व के अपने स्वाभाविक गुणों का उपयोग अपनी जन्मभूमि और उसके निवासियों के लिए आरम्भ करने से पहले गांधीजी ने, निश्चय ही, दक्षिण अफ्रीका के इतिहास में एक चिरस्मरणीय स्थान बना लिया था।

मैंने गांधीजी के एक श्वेतांग मित्र और समर्थक जोहान्सबर्ग के ईसाई पादरी रेवरेन्ड जोसेफ़ जे० डोक द्वारा लिखित उनका दक्षिण अफ़्रीका का जीवन-वृत्त

(M K. Gandhi : An Indian Patriot in South Africa) पढ़कर यह जानने की कोशिश की कि अपने देशवासियों पर उनके नियंत्रण और बहुत-से श्वेतांग विरोधियों पर भी उनके गहरे प्रभाव का रहस्य क्या है ? मुझे नीचे लिखी बातें विशेष जान पड़ीं :

पहली वस्तु उनकी मानसिक शक्ति है। इस इच्छा-शक्ति द्वारा ही वह ऐसे उत्तेजना के वातावरण में भी जबकि और आदमी लड़ने के लिए तैयार हो जाते और हिंसा के मुक़ाबिले में हिंसा का ही प्रयोग करते, वह अहिंसा के प्रति अपनी श्रद्धा पर अटल रहे। अपनी जाति की उच्चता प्रदर्शित करने और इस 'कुली' को अपनी मर्यादा बनाने के लिए गोरों ने उन्हें कितनी ही बार ठोकरें मारीं, घूँसे जमाये, और गालियाँ भी दीं; लेकिन उन्होंने कभी बल-प्रयोग से बदला नहीं लिया। प्रेसिडेन्ट क्रूगर के घर के सामने की पटरी पर ठोकर मारनेवाले संत्री पर मुक़दमा चलाने से उन्होंने इन्कार कर दिया। और जब उनके अपने देशवासियों में से उनके विरोधियों ने ही उन पर इतना बर्बर हमला किया कि वह लोहूलुहान और असहाय हो गये, तब भी उन्होंने पुलिस से यह अनुरोध किया कि वह उनके हमलावरों को सजा न दें। गांधीजी ने कहा—"उनकी समझ में वे ठीक कर रहे थे, और उनपर मुक़दमा चलाने की मेरी तनिक भी इच्छा नहीं है।" स्पष्ट ही, दूसरों पर उनके आधिपत्य की पहली कुंजी उनका आत्म-नियंत्रण ही है।

दूसरी बात यह कि गांधीजी, दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों को, कड़े प्रतिबन्ध लगाने पर भी, जो विदेशियों की भांति असह्य लगते थे और सिद्धान्ततः नागरिक नहीं समझे जाते थे, अस्पृश्य बनानेवाले वहाँ के क़ानून के विरुद्ध उकसाने और उसके विरोध के लिए उन्हें संगठित करते हुए केवल अधिकार माँगकर ही सन्तुष्ट नहीं थे। भारतीयों में आत्म-सम्मान की भावना पैदा करने की ओर उनका अधिक ध्यान था। उन्होंने देखा कि ये भारतीय निरुत्साह और उदासीन हैं, अपने कष्टों का विरोध तक नहीं करते और चुपचाप सह लेते हैं। गांधीजी ने उन्हें उनके पुरुषार्थ का स्मरण दिलाया और पुरुषार्थ को ही वहाँके गोरों से अपने साथ मनुष्यता का व्यवहार करने की माँग का नैतिक आधार बताया। रेवरेण्ड डोक के शब्दों में वहाँके प्रवासी-भारतीयों के भविष्य के सम्बन्ध में उनकी कल्पना यह थी : "दक्षिण अफ्रीका का भारतीय समाज ऐसा हो जिसके हित और आदर्श एकसमान हों, जो शिक्षित हो, नैतिक हो, विरासत में मिली अपनी प्राचीन संस्कृति का अधिकारी हो, मूलतः भारतीय रहते हुए भी उसका व्यवहार ऐसा हो कि अन्ततः दक्षिण अफ्रीका अपने इन पूर्वीय निवासियों पर अभिमान कर सके, और इन्हें उचित और न्याय्य समझकर वे अधिकार दे जो हरेक ब्रिटिश प्रजा-जन को मिलने चाहिएँ।"

तीसरे, गांधीजी यह भली भांति जानते थे कि नेतृत्व के साथ विनय का मेल कैसे होता है। अपेक्षाकृत अधिक धनी भारतीयों के सामने उन्होंने लोक-भावना का

आदर्श पेश किया। उन्हें जो कुछ मिलता वह उसे खुशी-खुशी भारतीयों के हित खर्च कर दिया करते थे। ग़रीबों में वह ग़रीब की भांति रहते थे। एक भारतीय रियासत के प्रधानमन्त्री के पुत्र; पद, प्रतिष्ठा, अधिकार, और सुशिक्षा में पले परिवार के लड़के; इंग्लैण्ड से बैरिस्टर बनकर आये। शिक्षित यूरोपियनों के साथ बराबरी का अधिकार रखनेवाले होकर भी उन्होंने अपने लिए कोई विशेष रियायतें कभी नहीं चाहीं, बल्कि दूसरे भारतीयों के साथ होनेवाले बर्ताव को ही पसन्द किया। क़ानून के अनुसार हरेक हिन्दुस्तानी को लाज़िमी था कि वह अपनी पहचान के लिए ख़ास रजिस्टर में अपना अँगूठा लगाये। वह इससे बरी किये जा सकते थे, लेकिन अपने भाइयों के सामने उदाहरण रखने के लिए उन्होंने सबसे पहले खुद इसका पालन करना उचित समझा।

और, चौथी बात, हिन्दुस्तानियों को अधिकार मिलने का आन्दोलन करते हुए भी उन्होंने इस बात पर हमेशा ज़ोर दिया कि जो नागरिक अधिकारों के पात्र होनें का दावा करते हैं, उन्हें चाहिए कि वे अपने इस दावे को सिद्ध करने के लिए, आवश्यकता पड़ने पर, सामाजिक कृत्य में भाग लेने की किसी प्रकार की माँग न होते हुए भी स्वेच्छा से अपना कर्तव्य पूर्ण करें। यही कारण था कि उन्होंने बोअर-युद्ध के समय नेटाल की लड़ाई में स्ट्रेचर उठाने के लिए हिन्दुस्तानियों का एक सैनिक-दल बनाना चाहा। प्रस्ताव पहले नामंजूर हुआ, लेकिन पीछे मान लिया गया और हिन्दुस्तानियों ने अमूल्य सेवायें कीं। जनरल रॉबर्ट्स का पुत्र सख़्त घायल हुआ। उसे हिन्दुस्तानियों ने ही सात मील परे शीवेली के अस्पताल में पहुँचाया। १९०६ के जुलू-युद्ध में यही सेवा हिन्दुस्तानियों नें फिर की। और सन् १९०४ में जोहान्सबर्ग में प्लेग फैलजाने के अवसर पर अगर गांधीजी फौरन उद्यम न करते तो जितनी प्राणहानि हुई, उससे कहीं अधिक होती।

जातीय संघर्ष के उस वातावरण में 'निष्क्रिय प्रतिरोध' के अस्त्र का सबसे पहले प्रयोग करनेवाले इस पुरुष में ये गुण और ये भावनायें थीं। उनके ही अपने शब्दों में, उसने भारतीय विवेक-बुद्धि की समझ में न आनेवाले क़ानून को मानने से इन्कार कर दिया। लेकिन एक क़ानून-पाबन्द प्रजाजन की भाँति क़ानून द्वारा दिये गये दण्ड को भुगता। वह जानते थे और कहते थ कि 'निष्क्रिय प्रतिरोध' से उनका आदर्श आधा ही स्पष्ट होता है। "उससे मेरा सारा उद्देश्य व्यक्त नहीं होता। पद्धति तो उससे प्रकट होती है, पर जिस 'प्रयोग' का यह केवल एक अंशमात्र है, उसकी ओर कोई निर्देश प्राप्त नहीं होता। मेरा उद्देश्य तो यह है कि बुराई के बदले भलाई की जाय और इसीमें सच्ची सुन्दरता है।" इस भावना के अनुसार ही उनका यह दावा था कि अपने शत्रुओं से प्रेम करना तथा अपने द्वेषी और पीड़कों की भी भलाई करने की ईसा की आज्ञा भारतीय दूरदर्शी विचारकों और धर्मप्रचारकों के वचनों के सर्वथा अनुकूल ही है।

मैं यहाँ 'निष्क्रिय प्रतिरोध' के 'अस्त्र' के सम्बन्ध में कुछ अपने विचार प्रकट कर दूँ। यह तो साफ़ ह कि यह एक स्थायी सिद्धान्त बन गया है। लोगों ने इसे कई प्रकार से प्रयुक्त किया है और करेंगे। व्यक्ति (जैसे कि युद्ध के समय इसके नैतिक विरोधी) व्यक्ति के रूप में इसका प्रयोग कर सकते हैं। राजनैतिक और सैनिक दृष्टि से असमर्थ जन-समूह इसको एकमात्र सम्भव साधन समझकर इसपर निर्भर रह सकते हैं। नैतिक शस्त्र के रूप में (शारीरिक शस्त्र के रूप में नहीं), यह राजनैतिक युद्ध के धरातल को ऊँचा उठा देता है। इसके प्रयोग करनेवाले योद्धा स्वेच्छा से दुःख और अपमान सहते हैं और उन्हें आत्मनिग्रह और इच्छा-शक्ति असाधारण पैमाने तक बढ़ानी पड़ती है। इसकी सफलता का प्रभाव यही होता है कि जिनके विरुद्ध इसका प्रयोग किया जाता है उनकी विवेक-बुद्धि पर इसका असर पड़ता है। 'सच्चाई उनमें ही है', यह विश्वास उनका जाता रहता ह। शारीरिक शक्ति व्यर्थ हो जाती है तथा दुःख देने में अपना हाथ रहा है, यह अनुभव करने से उत्पन्न अपने दोषी होने की एक प्रकार की भावना उनके संकल्प को ढीला कर देती है। प्रभावित करने के लिए जिनमें विवेक-बुद्धि ही न हो, ऐसे विरोधियों पर भी इस शस्त्र का कोई सफल प्रभाव हो सकता है, इसमें मुझे सन्देह है। जैसा कि समाचारपत्रों में प्रकाशित हुआ है, गांधीजी ने जर्मनी के यहूदियों को 'निष्क्रिय प्रतिरोध' से अपनी रक्षा करने की सलाह दी है। यदि सलाह पर अमल किया जाय, तो शायद यही पता लगेगा कि नाज़ी बवंडर-सेनाओं और उनके नेताओं की विवेक-बुद्धि पर ऐसे नैतिक दबाव का कोई असर नहीं होता।

और भी। चूंकि निष्क्रिय प्रतिरोध एक नैतिक अस्त्र है, इस कारण समूहरूप से लोगों के लिए यह प्रायः सम्भव नहीं होगा कि वे निःस्वार्थ लगन के उस क्षेत्र तक पहुँच सकें, अथवा वहाँ पहुँचकर स्थिर रह सकें, जिस क्षेत्र पर पहुँचने से मनुष्य की स्वभावजन्य कलहेच्छा, क्रोध, प्रतिहिंसा, धैर्य, क्षमा और प्रेम में बदल जाती है। इस 'रीति' का व्यवहार उसे उस 'प्रयोग' से जुदा करके, जिसका कि यह केवल एक अंश-मात्र ह, किया ही नहीं जा सकता। अर्थात् अपने शत्रुओं के प्रति प्रेम और बुराई के बदले में भलाई करने की भावना के बग़ैर इसका प्रयोग हो नहीं सकता।

मिलकर काम करने के लिए नेता चाहिए ही, लेकिन मनुष्य-समूह को इतना ऊँचा उठाने के लिए नेता की और भी अधिक आवश्यकता है। और वह नेता साहस तथा नैतिक दृढ़ता की साक्षात् मूर्ति ही होना चाहिए, ताकि बढ़े-चढ़े प्रचार-साधनों या बवंडर-नेताओं की बन्दूकों की सहायता के बिना भी वह अपने अनुयायियों को अपने आचरण और उपदेश के बल से ही साहसी और दृढ़निश्चयी बना सके। ऐसे नेता बिरले ही होते हैं। किसीके जीवनभर में एक बार भी गांधी पैदा नहीं हुआ करता।

इस समय इस बात का स्मरण दिलाना रुचिकर होगा कि दक्षिण अफ़्रीका के गोरे उन दिनों गांधीजी की आलोचना इसलिए करते थे कि उनको डर था कि

हिन्दुस्तानियों के निष्क्रिय प्रतिरोध की नक़ल कहीं यहाँके आदि-निवासी भी न करने लगें। दक्षिण अफ्रीका को 'श्वेतांगों का देश' बनाने के लिए इन आदि-निवासियों को क़ानून और चलन दोनों के द्वारा हिन्दुस्तानियों की स्थिति से भी नीचे रक्खा जाता था और रक्खा जाता है। गांधीजी उत्तर देते थे कि बलवा हिंसा और ख़ून-ख़राबी से तो नैतिक अस्त्र बेहतर ही है, इसका प्रयोग ही न्यायसंगत प्रयोजन का सूचक है। इसलिए यदि आदि-निवासियों का ध्येय न्यायसंगत है और निष्क्रिय प्रतिरोध के तरीक़े का प्रयोग करने के लिए सभ्यता की उचित मात्रा तक वे पहुँचे हुए हैं, तो वे वस्तुतः 'मत' देने के अधिकारी हैं और दक्षिण अफ़्रीका के अनेक जातीय तानेबाने में उन्हें अपना स्थान नियत करने के लिए आवाज़ उठानें का पूरा अधिकार है।

ये तीन साल पहले की बातें हैं। दक्षिण अफ़्रीका के हिन्दुस्तानी आज भी गांधीजी के नेतृत्व को याद करते हैं, पर जबसे वह हिन्दुस्तान लौटे, आजतक उन लोगों ने निष्क्रिय प्रतिरोध के अस्त्र का प्रयोग नहीं किया। और आदि-निवासी, अनेक बाधाओं की मौजूदगी में भी पर्याप्त आगे बढ़ गये हैं। लेकिन कोई निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकता कि वे इस अस्त्र का प्रयोग कभी करने के लिए तैयार होंगे भी तो कबतक ? क्योंकि उसके लिए प्रयोक्ताओं को ऐसी असाधारण विशेषतायें प्राप्त करनी पड़ती हैं। निरस्त्र वे हैं, पारस्परिक मतभेद उनमें हैं, और असहाय वे हैं। इसलिए अन्त में यही एक अस्त्र उनकी आशा का आधार है। परन्तु आदिनिवासी गांधी का दिन अभी नहीं निकला। इसके निकलने की कभी ज़रूरत भी न हो, परन्तु दक्षिण अफ़्रीका के अल्पसंख्यक गोरे सदा इसी कोशिश में रहते हैं कि यहाँके राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र की उन्नति में किसी ग़ैर की पहुँच हो ही न सके। इन कोशिशों का सम्भाव्य परिणाम यही होगा कि यहाँ की सारी-की-सारी ग़ैर-यूरोपियन जातियाँ इसके विरुद्ध संगठित हो जायँगी। उस अवस्था में हो सकता है कि हिन्दुस्तानियों में से कोई गांधीजी के पद-चिन्हों पर चलता हुआ, ग़ैर-यूरोपियनों के निष्क्रिय प्रतिरोध के मोर्चे का नेतृत्व करे।

## : १८ :

# दक्षिण अफ़्रीका में गांधीजी

### ऑनरेबल जान एच. हाफ़मेयर, एम. ए.

**[ चांसलर, विटवाटरस्रैंड यूनिवर्सिटी ]**

प्रसिद्ध मिशनरी राजनीतिज्ञ डॉ० जॉन आर० मॉट जब पिछली बार ताम्बरम् कान्फ्रेन्स में उपस्थित होने के लिए हिन्दुस्तान गये तो उन्होंनें सेगाँव में महात्मा गांधी

से भेंट की। वहाँ उन्होंने जो प्रश्न गांधीजी से पूछे उनमेंसे एक यह था—"आपके जीवन के वे अनुभव क्या हैं, जिनका सबसे विधायक प्रभाव हुआ ?" इसके उत्तर में यहाँ महात्माजी के उत्तर को ही उद्धृत कर देना ठीक होगा।

"जीवन में ऐसे अनेक अनुभव हुए हैं। लेकिन इस समय आपने पूछा तो मुझे एक घटना ख़ास-तौर पर याद आती है, जिसने कि मेरे जीवन का प्रवाह ही बदल दिया। दक्षिण अफ्रीका पहुँचने के सात दिन बाद ही वह घटना घटी। मैं वहाँ निरे जीविकोपार्जन और स्वार्थ-साधन का उद्देश्य लेकर गया था। मैं अभी इंग्लैण्ड से लौटकर आया हुआ निरा लड़का ही था और कुछ धन कमाना चाहता था। मेरे मवक्किल ने अचानक मुझे प्रिटोरिया से डरबन जाने के लिए कहा। यह यात्रा सुगम नहीं थी। चार्ल्सटाउन तक रेल का रास्ता था और जोहान्सबर्ग तक बग्घी से जाना पड़ता था। रेलगाड़ी का मैंने पहले दर्जे का टिकिट लिया। पर बिस्तर का टिकिट मेरे पास नहीं था। मेरित्सबर्ग स्टेशन पर जब बिस्तर दिये गये, तो गार्ड ने मुझे बाहर निकाल दिया और माल के डिब्बे में जा बैठने के लिए कहा। मैं नहीं गया और गाड़ी मुझे सर्दी में काँपता छोड़कर चल दी। यहाँ वह विधायक अनुभव आता है। मुझे अपनी जान-माल का डर था। मैं अँधेरे वेटिंगरूम में घुसा। कमरे में एक गोरा था। मुझे उससे डर लगा। मैं सोचने लगा कि क्या करूँ ? मैं हिन्दुस्तान लौट जाऊँ या परमात्मा के भरोसे आगे बढ़ूँ और जो मेरे भाग्य में बदा है, उसको सहन करूँ ! मैंने फ़ैसला किया कि यहीं रहूँगा और सहन करूँगा। जीवन में मेरी सक्रिय अहिंसा का आरम्भ उसी दिन से होता है।"

इस घटना का स्मरण दक्षिण अफ़्रीका निवासी को रुचिकर नहीं है; लेकिन गांधीजी के जीवन में दक्षिण अफ़्रीका के महत्त्व पर इससे प्रकाश पड़ता है। क्योंकि उनमें दक्षिण अफ़्रीका में ही सत्याग्रह के सिद्धान्त की लहर उठी और वहीं 'हिंसा-रहित प्रतिरोध' का अस्त्र गढ़ा गया। प्रायः ऐतिहासिक घटनायें भी प्रतिफल देती हैं। हिन्दुस्तान ने, यद्यपि स्वेच्छा से नहीं, दक्षिण अफ़्रीका की सबसे अधिक कठिन समस्या पैदा की और दक्षिण अफ़्रीका ने, वह भी स्वेच्छा से नहीं, हिन्दुस्तान को सत्याग्रह का विचार दिया।

दक्षिण अफ़्रीका में हिन्दुस्तानी इसलिए आये कि गोरों के हित में उनका आना आवश्यक समझा गया। नेटाल के किनारे की भूमि से लाभ उठाना गिरमिटिया ( प्रतिज्ञावद्ध ) मज़दूरों के बिना असम्भव जान पड़ा। इसलिए हिन्दुस्तानी आये और उन्होंने नेटाल को हरा-भरा बनाया। बहुत से वहीं बसकर उपनिवेश को ख़ुशहाल बनाने लगे। फिर और भारतीय भी आते रहे। स्वतन्त्र प्रवासी भी आये और गिरमिटिया लोग भी। लेकिन समय आया और यूरोपियनों को ख़तरा पैदा होगया कि अपने रहन-सहन के निम्नतर मानवाले हिन्दुस्तानी हमारे एकाधिकार के किसी-किसी क्षेत्र

में हमें मात कर देंगे। वर्ण-विद्वेष के लिए इतना ही पर्याप्त था। हिन्दुस्तानियों को लार्ड मिलनर के शब्दों में, "स्वागत के लिए अनिच्छुक समाज पर अपने आपको बलात् लादनेवाले विदेशी" कहा जाने लगा। इस द्वेष भावना का ही मेरित्सबर्ग स्टेशन पर युवक गांधी को अनुभव हुआ और उसका फल हुआ सत्याग्रह का जन्म।

दक्षिण अफ्रीका में महात्माजी के जीवन और कार्य का वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है। यह लम्बा संघर्ष था। इसमें उनके प्रतिद्वन्द्वी जनरल जे० सी० स्मट्स भी आज संसार के प्रसिद्ध पुरुषों में से हैं। दोनों में बहुत-सी समानतायें थीं। कुछ साल पहले मैं एक उच्च सरकारी अफ़सर के साथ जोहान्सबर्ग के बाहर हिन्दुस्तानी और देसी बच्चों के लिए सुधार-जेल (रिफार्मेटरी) देखने गया—यह पहले जेल ही थी। मेरे साथी ने मुझे वह कोठरी बताई जिसमें तीस साल पहले गांधीजी को रक्खा गया था और तब वह एक जूनियर मजिस्ट्रेट की हैसियत से उन्हें दर्शनशास्त्र की पुस्तकें देने आये थे। ये पुस्तकें उनके अफ़सर जनरल स्मट्स ने उपहारस्वरूप भेजी थीं। बड़ी प्रसन्नता की बात है कि अन्त में सारी विनाशकारिणी शक्तियों के ऊपर इन दोनों महापुरुषों के पारस्परिक सम्मान और मित्रता के भावों की विजय हुई और आज भी वह मेल बना हुआ है।

दक्षिण अफ़्रीका में गांधीजी को क्या मिला? वह स्मट्स को उनका मुख्य उद्देश्य पूरा करने से नहीं रोक सके—यह उद्देश्य दक्षिण अफ्रीका में हिन्दुस्तानियों के प्रवास को रोकना था। लेकिन गांधीजी इस बात में सफल हुए कि प्रवासियों के क़ानून में हिन्दुस्तानियों का ख़ासतौर पर जो अपमान होता था, उससे वे बच गये और वहाँ पहले से बसे हुए हिन्दुस्तानियों की छोटी-छोटी शिकायतें भी दूर हो गईं। दक्षिण अफ़्रीका से लौटते समय यदि उन्होंने ऐसी आशा की हो, और निस्सन्देह उन्होंने की थी, कि स्मट्स के साथ हुए उनके समझौते को परिणामस्वरूप एशिया-निवासियों के विरुद्ध होनेवाले वर्ण-विरोध का नाश होजायगा तो उसमें वह ज़रूर निराश हुए हैं। दक्षिण अफ़्रीका में यह पक्षपात आज भी वैसा ही मज़बूत है और इसके कई रूप तो दक्षिण अफ़्रीका का नाम ही बदनाम करते हैं।

फिर भी, दक्षिण अफ़्रीका के हिन्दुस्तानियों पर गांधीजी के नेतृत्व की अमिट छाप है। गांधीजी ने ही उन्हें इस योग्य बनाया कि वे निम्न जाति में पैदा होने से लगी हुई अयोग्यतायें दूर कर सके और उन्हें जातीय स्वाभिमान का ज्ञान हुआ जो अमिट रहा है। दक्षिण अफ़्रीका के प्रवासी हिन्दुस्तानी पृथक्करण के कलंक का विरोध करने के लिए उसी दृढ़ता से तैयार हैं जिस दृढ़ता से कि वे गांधीजी के झंडे के नीचे अपमानजनक क़ानूनों के विरुद्ध लड़े थे। लेकिन सबसे अधिक महत्व की बात तो यह है कि जिन दिनों गांधीजी ने क़ानून तोड़ा, अँगूठा लगाये बिना प्रान्तीय सीमायें पार कीं, जेल गये और आये, उन दिनों वह वस्तुतः आत्मनिग्रह का पाठ पढ़ रहे थे और

इसकी शक्ति तथा शस्त्र के रूप में इसकी साधकता की परीक्षा कर रहे थे ।

इसलिए यह कहा जा सकता है कि दक्षिण अफ़्रीका ने उस महापुरुष के विकास में महत्वपूर्ण भाग लिया है, जो केवल भारत का महात्मा ही नहीं, बल्कि संसार के महान् आध्यात्मिक नेताओं में से एक होनेवाला था ।

हाँ, वहाँके श्वेत शासक उस विशिष्ट परिस्थिति को शायद ही सन्तोष के साथ स्मरण करेंगे, जो उस महान् आत्मा के परिवर्तन में कारणीभूत हुई ।

: १६ :

# गांधी और शांतिवाद का भविष्य

**लारेन्स हाउसमैन**

[ स्ट्रीट, सोमरसेट, इंग्लैण्ड ]

सफल शान्तिवाद के जीवित प्रतिवादकों में महात्मा गांधी का आसन सबसे ऊँचा है । उन्होंने यह दिखला दिया है कि व्यावहारिक शान्तिवाद संसार की राजनीति में एक शक्ति होसकती है । बल और दमन द्वारा शासन करने के हथियार से भी यह हथियार अधिक मज़बूत साबित हुआ है । दक्षिण अफ्रीका में उनको पूरी सफलता मिली । हिन्दुस्तान में उन्हें पर्याप्त सफलता मिली और अगर इसके प्रयोग करनेवालों की संख्या और अधिक होती और वह प्रयोग एकसमान हिंसा-रहित होता, तो महात्मा के इस शांतिमय अस्त्र की अवश्य विजय होती ।

'व्यावहारिक राजनीति' के नाम से प्रसिद्ध क्षेत्र में शान्तिवाद की शक्ति के इस सफल प्रयोग की क़ीमत कूती नहीं जा सकती और स्वाधीनता में प्रयत्नशील राष्ट्रों और जातियों के लिए तो वह भविष्य निर्देश करनेवाला प्रकाश-स्तम्भ ही है ।

अहिंसा की सफलता इसलिए और भी अधिक महत्वपूर्ण माननी चाहिए कि आजतक मनुष्यजाति प्रायः जिन हथियारों का प्रयोग करती आई है, उनसे यह सर्वथा निराला है और अन्याय को दूर करने के लिए हिंसा को ही साधन मानने की युग से चली आई मानवीय परिपाटी के सर्वथा विपरीत है । इस प्रचलित परिपाटी के बावजूद ऐसी कठोर अग्नि-परीक्षा में से गुज़रने के लिए महात्मा गांधी को इतने अधिक और कुल मिलाकर इतने विश्वस्त लोगों का सहयोग मिला, यह बात ही इसका प्रमाण है कि महात्मा गांधी की शिक्षा मानवीय प्रकृति में अंतर्भूत मूल सत्य ही है । और न तो यह सत्य उदाहरण प्रस्तुत करने के बाद साधारण स्त्री-पुरुषों की समझ से और न महान् उद्देश्यों की साधना के लिए उसे अपनाने और व्यवहार में लाने के उनके सामर्थ्य से परे की ही वस्तु है ।

ये सब कारण हैं, जिनसे मेरा विश्वास है कि आज महात्मा गांधी का जीवन अनमोल है। उनकी ७१ वीं जन्म-तिथि पर बधाई भेजते हुए भी इच्छा यही है कि वह कई साल छोटे होते ताकि संसार को उनके प्रकाशमान् नेतृत्व का और अधिक काल तक के लिए ठीक-ठीक आश्वासन मिल पाता।

## : २० :

# गांधीजी का सत्याग्रह और ईसा का आहुति-धर्म

जॉन एस० होयलैण्ड

[ वुडब्रुक बस्ती, सेली ओक, बर्मिंघम ]

सन् १९३८ की शरद् ऋतु के अन्त में, मद्रास में ईसाई राजनेताओं की एक सभा हुई थी। इसमें संसार से सब देशों पर खासकर अफ्रीका और पूर्व के नये गिरजों के प्रतिनिधि इस बात पर विचार करने के लिए कि हज़रत ईसा के सन्देश की दृष्टि से दुनिया की वर्तमान समस्याओं का हल क्या है, एकत्र हुए थे। इस मदरास-कान्फ्रेन्स से पहले एक अपूर्व घटना घटी। धनी-मानी ईसाइयों में प्रतिष्ठित इन प्रमुख ईसाई नेताओं में से कई, रास्ता तय करके, एक हिन्दू-नेता—गांधीजी—के दर्शन और उनके चरणों में बैठकर शिक्षा लेने पहुँचे। इनका उद्देश्य गांधीजी से यह सीखना था कि हज़रत ईसा के उपदेश पर आचरण करने का बेहतर तरीक़ा कौन-सा है। यह तो निर्विवाद है कि पहले की किसी ऐसी ईसाइयों की अन्तर्राष्ट्रीय सभा के समय ईसाई नेताओं ने ऐसी बात नहीं की थी। अब जब उन्होंने ऐसा किया तो इससे पहली बात तो यह प्रकट होती है कि ईसाई ग़लत रास्ते पर चले जा रहे हैं, (आधुनिक यंत्रवाद और साम्राज्य-वाद से समझौता करने का ही यह परिणाम है) यह ख़याल कितना व्यापक और गहरा हो चुका है और दूसरी बात यह कि हिन्दुस्तान का यह महान् ऋषि हज़रत ईसा के मन की बात हमसे अधिक अच्छी तरह समझता है और उसके निर्दिष्ट मार्ग पर चलने में भी हमसे आगे बढ़ा हुआ है, यह विश्वास भी कितना दृढ़ होगया है।

इन ईसाई नेताओं से गांधीजी की जो अत्यन्त महत्वपूर्ण बातचीत हुई उसमें उन्होंने पहले धन का प्रश्न लिया। थोड़े शब्दों में उन्होंने अपना विश्वास प्रकट करते हुए कहा—"मेरे विचार में ईश्वर और लक्ष्मी की सेवा साथ-साथ नहीं की जा सकती। मुझे शंका है कि लक्ष्मी को तो हिन्दुस्तान की सेवा करने भेज दिया गया है, और ईश्वर वहीं रह गये हैं। परिणाम इसका यह होगा कि ईश्वर अपना बदला चुका देगा।... मैंने यह हमेशा अनुभव किया है कि जब किसी धार्मिक संस्था के पास उसकी आवश्यकता से अधिक धन जमा हो जाता है तब यह खतरा भी हो जाता है कि कहीं वह संस्था

ईश्वर के प्रति अपनी श्रद्धा न खो बैठे और धन पर निर्भर न रहने लगे। धन पर निर्भर रहना एकदम छोड़ देना होगा।

"दक्षिण अफ्रीका में जब मैंने सत्याग्रह-यात्रा शुरू की तो मेरी जेब में एक पैसा भी नहीं था और मैं वैसे ही बिना गहरा विचार किये आगे बढ़ा। मेरे साथ तीन हज़ार आदमियों का क़ाफ़िला था। मैंने सोचा, "कुछ फिक्र नहीं, अगर भगवान् की मर्ज़ी हुई तो वही पार लगायेगा।" हिन्दुस्तान से धन की वर्षा होने लगी। मुझे रोक लगानी पड़ी, क्योंकि ज्यों ही धन आया, आफ़त भी शुरू होगई। जहाँ पहले लोग रोटी के टुकड़े और थोड़ी-सी शक्कर में सन्तुष्ट थे, अब तरह-तरह की चीज़ें मांगने लगे।

"और इस नये शिक्षा-सम्बंधी परीक्षण को लीजिए। मैंने कहा कि यह प्रयोग किसी प्रकार की आर्थिक सहायता माँगे बिना ही चलाया जाय। नहीं तो मेरी मृत्यु के बाद सारी व्यवस्था तीन-तेरह होजायगी। **सच बात तो यह है कि जिस क्षण आर्थिक स्थिरता का निश्चय हो जाता है, उसी समय आध्यात्मिक दिवालियेपन का भी निश्चय हो जाता है।**"

यह अन्तिम वाक्य गाँधीजी के आदर्शवाद का सर्वोत्तम नमूना है। उन्होंने बार-बार इस बात पर ज़ोर दिया है कि मुनाफ़े की इच्छा से नियोजित कोष पर अधिकार जमाना और आर्थिक साधनों को हस्तगत करलेना किसी जीवित आंदोलन का आध्यात्मिक विनाश करना है। स्वेच्छा से और स्वार्थत्याग की भावना से बने स्वयंसेवक फिर उस आन्दोलन से लाभ उठानेवाले लोलुप बन जाते हैं और जो इससे मदद पाते और उदात्त बनते हैं, वे दरिद्र हो जाते हैं। आन्दोलन और उसका कोष बार-बार अच्छी तरह और चतुराई के साथ एक ही आदमी से दुही जानेवाली गाय बन जाते हैं। बुराई और पतन तब अनिवार्य हो जाते हैं और सब प्रकार के दंभ और छल चलने लगते हैं।

लेखक को महामारी, दुर्भिक्ष और युद्ध के पश्चात् सहायता में धन-वितरण का कुछ अनुभव है। उसके आधार पर उसे निश्चय है कि गांधीजी ठीक कहते हैं। वस्तुतः जीवित आध्यात्मिक आन्दोलन, धन-संचय करने से जितना अधिक-से-अधिक बचेगा उतना ही उसका बल बढ़ेगा। गांधीजी के इन विचारों की उत्पत्ति 'अपरिग्रह' के सिद्धान्त में विश्वास होने से हुई है। यह सिद्धान्त फ्रान्सिस के अनुयायियों के 'स्वत्व-वाद'—वैयक्तिक सम्पत्ति—को छोड़ने के सिद्धान्त से मिलता-जुलता है। गांधीजी के अत्यन्त समीपस्थ शिष्यों में से एक ने सार-रूप में यह बात यों कही है: "धन उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आयगा जिसके लिए तुम अपना जीवन उत्सर्ग करने को तैयार हो; लेकिन जब धन नहीं होगा तो यदि तुम विमुख नहीं होगे तो उद्देश्य पूरा होता रहेगा, और शायद धन के अभाव में और भी अधिक अच्छी तरह पूरा होगा।"

दूसरा—और बहुत महत्व का—प्रश्न जो ईसाई नेताओं और गांधीजी के इस वार्तालाप में छिड़ा, वह यह था कि 'डाकू' जातियों से कैसा वर्ताव होना चाहिए। हम

अंग्रेज़ों के लिए यह अच्छा है कि ऐसे प्रश्नों पर विचार करते हुए हम मान लें कि बहुत-से लोग हम अंग्रेज़ों की गिनती 'डाकू' जातियों में करते हैं। यह बात, कि ब्रिटिश साम्राज्य में नौ नई आबादियाँ मिलाने के बाद सन् १९१९ के पीछे लूट की अपनी ढेरी को बढ़ाना हमने बन्द कर दिया है और तब से काफ़ी सब्र और शांति से बैठे हैं, दूसरे राष्ट्रों का सन्तोष नहीं करती। इतने से ही वे यह अनुभव नहीं करते कि अन्तर्राष्ट्रीय लूट के नये लोलुपों से हम किसी तरह कम 'डाकू' हैं। जो लोग ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर शासित जातियों की दुःखपूर्ण स्थिति में हैं, वे ख़ासतौर से उत्सुक हैं कि इस अन्तर्राष्ट्रीय डाकूपन से हमारी विवेक-बुद्धि ऊब उठे और जर्मनी, इटली तथा जापान के साथ बदाबदी से हमारा कोई लगाव न रहे।

गांधीजी ने इस बात पर ज़ोर दिया कि जिनकी अहिंसा में श्रद्धा है और इस पर कुछ-कुछ आचरण करना सीखे हैं उन्हें यह मानना होगा कि आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय 'डाकूपन' के इस अत्यन्त अप्रिय और भीषण रूप का मुक़ाबिला भी अहिंसा से किया जा सकता है और किया जाना चाहिए। उन्होंने कहा—"बल का प्रयोग चाहे कितना ही न्यायसंगत क्यों न दीखे, अन्त में हमें उसी दलदल में ला पटकेगा जिसमें कि हिटलर और मुसोलिनी की ताक़त ला पटकती है। केवल भेद होगा तो मात्रा का। जिन्हें अहिंसा पर श्रद्धा है, उन्हें इसका प्रयोग संकट के क्षण में करना चाहिए। चाहे हम इस समय जड़ दीवार से अपना सर टकराते-फिरते अनुभव करें, लेकिन डाकुओं के दिल भी एक दिन पसीजेंगे—यह आशा हमें नहीं छोड़नी चाहिए।"

कुछ देर बाद बातचीत में किसी ऐसे उत्पादक अनुभव पर विचार होने लगा जो पाप के विरुद्ध अहिंसामय कार्य के लिए जीवन को निश्चित सफलता दे सके। गांधीजी ने यहाँ अपना वह कटु अनुभव[१] सुनाया जो १९वीं सदी के अन्तिम दशाब्द में दक्षिण अफ्रीका पहुँचने के सात दिन बाद ही उन्हें हुआ था। इस घटना से गांधीजी की सफलताओं के दो मूल तत्व प्रकट हैं। प्रथम तो भय पर उनकी विजय। पश्चिम के किसी राष्ट्र के निवासी, जो प्रायः परस्पर समान भाव से रहते हैं, उस भय की कल्पना भी नहीं कर सकते जिस भय से औसत हिन्दुस्तानी किसी गोरे को देखता है—अथवा देखता था। किसानों को एक गोरा किसी दूसरे लोक से उतरकर आया प्राकृतिक शक्तियों पर दैवी प्रभुत्व रखनेवाला प्राणी लगता था। उसका आतंक प्रायः गुलामी पैदा कर देता था, उसके सामने काँपना और बिना आनाकानी उसकी आज्ञा मानना होता था। यह बिलकुल ठीक कहा गया है कि गांधीजी ने अपने देशवासियों को जो सबसे बड़ी भेंट दी है वह है गोरों के सामने भयभीत होजाने की भावना पर विजय।

**१. यह घटना रेलगाडी से निकाल दिये जाने तथा बाद में एक गाडीवान के ही होनेवाले हमले की है। वह श्री हाफमेयर के लेख में पृष्ठ ७६ पर विस्तार से उद्धृत की गई है।**

गांधीजी ने हिन्दुस्तानियों को, ख़ासकर किसानों को सिखाया कि गोरों के सामने सीधे खड़े हों, निडर होकर उनसे आँख मिलायें और जब उनकी कोई आज्ञा देश-हित के लिए हानिकर प्रतीत हो, उसका जान-बूझकर उल्लंघन करें। जैसे डर छूत से फैलता है वैसे ही निर्भयता भी। गांधीजी में निर्भयता की भावना है और इसे दूसरों में पहुँचाने की बड़ी-से-बड़ी ताक़त भी। उन्होंने भारतीय किसानों में यह हिम्मत भरदी है कि वे अन्याय से माँगा गया लगान न दें, ज़िले के अफसर उनके विरुद्ध चाहे कुछ भी क्यों न करें। जो हिन्दुस्तान को जानते हैं, उनके लिए यह सिद्ध करने के लिए कि भय पर विजय पानें की गांधीजी के व्यक्तित्व में अनुपम शक्ति है, यही काफ़ी प्रमाण है।

मेरित्सबर्ग रेलवे स्टेशन पर हुई उस तेजपूर्ण घटना से दूसरी बात यह प्रकट होती है कि कष्ट-सहन से अमलन दूसरों का उद्धार किया जा सकता है—गांधीजी अपने सारे जीवन में इसे मानते आये हैं। रेल के डिब्बे से निकाल दिये जाने और गाड़ीवान के हमले की घटना नगण्य प्रतीत होती हो, लेकिन याद रहे कि उस अपमान और पीड़ा को एक संकोचशील और कोमल हृदय युवक ने दूसरों के लिए स्वयं साहस-पूर्वक सहन किया था। उसी दिन व्यवहाररूप में, केवल सिद्धान्त में ही नहीं, गांधीजी के सत्याग्रह का जन्म हुआ। इसका आदर्श यह है कि "कष्ट-सहन से बच निकलने की कोशिश मत करो, साहस से उसमें कूद पड़ो; वाहवाही लूटने या विरक्त बनने या आत्म-बलिदान कर देने के लिए नहीं, लेकिन इसलिए कि अगर तुम दूसरों की सहायता करने की सच्ची भावना से इन कष्टों को झेलोगे तो यह कष्ट-सहन बुराई को भलाई बना देनेवाली विधायक शक्ति बन जायगा।" लगभग तीस साल बाद अपने देश का भविष्य उज्ज्वल बनाने की इच्छा से जिस उल्लास और जोश से ढाई लाख हिन्दुस्तानी जेलों में चले गये, वह इस नवयुवक के उस साहस का ही परिणाम था जिससे कि इस युवा ने नेटाल में अपना यह कठोर प्रयोग किया। कोई कष्ट-सहन या अपमान ऐसा नहीं है, जो सद्भावना से झेला जाय तो उससे दूसरों की भलाई न हो। कारण कि सत्याग्रह किसी देश को स्वतन्त्र कराने या उसमें एकता पैदा कराने, या सैनिकवाद और युद्ध को जीतने, अथवा भ्रष्ट सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था को ठीक करने का ही साधन नहीं है। इसका प्रभाव तो और अधिक गहराई में पहुँचता है। यह आत्म-यज्ञ का, क्रॉस का यानी अमर आहुति-धर्म का सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त संत पाल के इस कथन का स्मरण दिलाता है कि "मैं ईसामसीह के कष्टों की झोली भरता हूँ।" जो मनुष्य सत्याग्रह के इस सच्चे अर्थ को कुछ भी समझ लेता है वह इतिहास के लंबे दृश्यों में, सब जगह, जातियों के धीरे-धीरे होनेवाले विकास में, उस जाति को उन्नत और जीवित रहता देखता है, जिसके अगणित व्यक्तियों नें बलिदान और कष्ट-सहन किया है। वह देखता है कि वात्सल्य जैसा कोई भाव सृष्टि में काम करता है। पीछे वही भाव सामाजिक सहयोग के रूप में प्रगट होता है। आरम्भ में सहयोग धीमे-धीमे

और परीक्षण के रूप में बढ़ता है। बाद में वही निश्चित प्रभाव और बलवाला हो चलता है। लेकिन यह तत्त्व जहाँ किसी भी रूप में काम नहीं करता है, वहाँ दूसरों—उदाहरणार्थ अपने वंशजों और बाद में अपने साथियों—की भलाई के लिए प्रायः स्वेच्छा से स्वीकृत कष्टों और मृत्यु द्वारा व्यक्ति की आत्म-निग्रह की भावना साथ होती है। ज्यों-ज्यों वह मानव-इतिहास के पन्ने उलटता है, यह तत्व जैसे-जैसे समय जाता है अधिकाधिक स्पष्ट तथा प्रकाशित होता जाता है। इतिहास और उन्नति की सारी कुंजी ईसा के आहुति-मार्ग में है।

इस प्रकार सत्याग्रह के जिज्ञासु को यह मानना पड़ता है कि गांधीजी ने अहिंसक रहते हुए दूसरों के लिए स्वेच्छा से कष्ट उठाने के आन्दोलन में अपने देशवासियों को डालकर एक बार विश्व-विदित सिद्धान्त को प्रकट कर दिया है, जो पश्चिम की स्वार्थमय, विलासमय, और लालचभरी भावना से धुँधला पड़ गया था। औद्योगिक क्रान्ति के आरम्भ-काल में लगभग डेढ़ शताब्दि तक ईसाई मज़हब ने क्रॉस (कष्ट-सहन) का बहुतेरा उपदेश दिया, परन्तु सर्वव्यापी स्वार्थपरता की भावना के आगे इसकी एक न चली और यह केवल व्यक्तियों की मुक्ति का एक रूढ़ चिन्हमात्र रह गया है। हमारी संततियों के सामने एक भारी काम है, (और अगर यह पूरा न हो सका तो सभ्य मानवों में हमारी संतति सबसे पिछड़ जायगी) वह काम यह कि वे ऐसे 'क्रॉस' की खोज करें जो केवल रूढ़मात्र न हो; बल्कि अन्याय, युद्ध और हिंसा रोकने में जीते-जागते अमर सिद्धान्त के प्रतीक-रूप में हो। हमें फिर से यह सीखना है कि ईसामसीह के 'क्रास को लेकर मेरे पीछे चलो' शब्दों का असली मतलब क्या था? हमें फिर से यह सीखना है कि जिस प्रकार उसने किया उसी प्रकार हम भी स्वेच्छा से हानि, कष्ट और मृत्यु तक का आलिंगन कर सकें। यह सब हमें सुधार की भावना से—मनुष्य-जाति को पाप और अन्याय से बचाने के लिए—सर्वथा अहिंसक रहकर, पीड़क और अन्यायी के प्रति तनिक भी द्वेष-भावना न रखते हुए, उसके साथ 'जैसा-का-तैसा' ही व्यवहार करने की ज़रा भी कोशिश न करते हुए, करना है। और फिर यह सब नम्रता, धीरता, मित्रता तथा सद्भावना से ही करना है।

लेकिन हज़रत ईसा के जीवन से यह प्रतीत होता है कि ईश्वर का नये रूप में बोध ही हज़रत के क्रॉस उठाने का कारण था। गांधी के सन्देश में भी इसी विश्वास की भनक है। हमें एक फिर ईश्वर की नवीन सत्ता अनुभव करना है। परमात्मा की अपनी कार्यविधि ही क्रॉस और अहिंसा की विधि है। क्रॉस का यह मार्ग केवल कुछ जोशीले शान्तिवादियों के कोरे तरंगित विचार ही नहीं है। पाप और अन्याय की सफल विजय का यही ईश्वरीय अमर मार्ग है। 'क्रॉस' की छाया संसार के सारे इतिहास और व्यक्ति के जीवन पर पड़ती है। मानवीय रंगमंच पर यह ईश्वर की क्रियात्मक इच्छा है। हज़रत ईसा ने हमें बताया कि परमेश्वर फ़िज़ूलखर्च लड़के के बाप

की नाईं ग़लती करनेवाले का भी स्वागत उदारतापूर्वक बिना डाँट-डपट करता है। वह भले चरवाहे की भाँति अपनी एक भी भटकी भेड़ को ढूँढ़ने और बचाने के लिए घर से आराम को छोड़कर जंगलों, पहाड़ों, आंधी और पानी में घूमता-फिरता है। अन्याय या बुराई के विरुद्ध ऐसी कार्यवाही करना परमेश्वर की इच्छा है, उसका अपना स्वभाव और स्वरूप है।

परमेश्वर उद्धार करनेवाली सद्भावना की साधना, और रक्षा में प्रयत्नशील 'प्रेम' है, जो दुखिया की ख़ातिर अपनें ही आप कष्टों, ख़तरों और मौत तक को अपने ऊपर ओढ़ लेता है और तबतक ओढ़ लेता है जबतक कि इस पीड़ित संसार की रक्षा नहीं हो जाती। ईश्वर के इस स्वरूप को हमें हिसाब में लाना है और यदि समय रहते युद्ध-विग्रह और दरिद्रता तथा मानवता के दूसरे अभिशापों को जीतना है तो सारी मनुष्य-जाति को भी उसका हिसाब लगाना होगा।

गांधीजी से एक प्रसिद्ध ईसाई नेता (डा. जॉन आर. मॉट) ने पूछा कि आपत्ति, सन्देह और संशय के समय उन्हें अत्यधिक सतोष किससे हुआ है? उन्होंने उत्तर दिया—"परमात्मा में सच्ची श्रद्धा से।" परमेश्वर किसीको साक्षात् आकर दर्शन नहीं देता, वह तो कर्मरूप में प्रकट हुआ करता है। इस सम्बन्ध में गांधीजी ने अस्पृश्यता-निवारण-विषयक अपने इक्कीस दिन के उपवास का अनुभव बताया। यदि हम परमेश्वर की इच्छा को पूर्ण करने के लिए कृतसंकल्प हैं तो वह स्वयं अपने ही तरीक़े से पथ-प्रदर्शन करेगा। हज़रत ईसा ने एक जगह कहा था—"वह जो परमेश्वर की इच्छा का अनुसरण करता है, उसे सच्चा उपदेश अवश्य मिलेगा।" और क्रूसारोहण से ठीक पहले अपने शिष्यों के पैर धोकर जब उसनें हाथ से तुच्छ-से-तुच्छ सेवा करने के महान्, पर भूले हुए संस्कार को फिर से प्रतिष्ठित किया, तब उसने कहा—"यदि तुम्हारे गुरु ने तुम्हारे लिए यह किया है तो तुम्हें भी यह करना चाहिए। जो आदर्श **मैंने** तुम्हारे सामने पेश किया है उसको समझकर **उसपर चलने से** तुम सुखी रहोगे।" आचरण में ईसा की समानता करने से ही हम अपने जीवन के चरम उद्देश्य को पा सकते हैं, और विश्व के सर्वोपरि ध्येय के साथ ऐक्य अनुभव कर सकते हैं।

महात्मा गांधी ने इस बात पर भी ज़ोर दिया कि अगर असत् को जीतने में जीवन को सचमुच समर्थ बनाना है तो इसके लिए 'मौन' भी बहुत ज़रूरी है। उन्होंने कहा, "मैं यह कह सकता हूँ कि मैं अब सदा के लिए मौन जीवन व्यतीत करनेवाला व्यक्ति हूँ। अभी कुछ ही दिन पहले मैं लगभग दो महीने पूर्णतः 'मौन' में रहा और उस मौन का जादू अभी भी हटा नहीं है।...आजकल शाम की प्रार्थना के समय से मैं मौन ले लेता हूँ और दो बजे जाकर मिलनेवालों के लिए उसे छोड़ता हूँ। आज आप आये तभी मैंने मौन तोड़ा था। अब मेरे लिए यह शरीरिक और आध्यात्मिक—दोनों प्रकार से औषध हो गया है। पहले-पहल यह मौन काम के बोझ से छुटकारा पाने के लिए किया

गया था, तब मुझे लिखनें का समय चाहिए था। पर कुछ दिन के अभ्यास से ही इसके आध्यात्मिक मूल्य का भी मुझे पता लग गया। अचानक मुझे सूझा कि परमेश्वर से नाता बनाये रखने का मौन ही सबसे श्रेष्ठ मार्ग है। और अब तो मुझे यही प्रतीत होता है कि मौन मेरे स्वभाव का ही अंग है।"

गांधीजी के भीतर काम कर रही सत्यपरायणता की सफल शक्ति का दृढ़ आध्यात्मिक आधार क्या है, यह इन शब्दों से बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। परमेश्वर में लवलीन हो जाने के इन धीर क्षणों में ही गांधीजी को पैग़म्बर और ऋषियों की-सी दिव्य शक्ति प्राप्त होती है और इस शक्ति से ही उनका अपने प्रेमियों और अनुयायियों पर असाधारण अधिकार है।

बाद में और एक अवसर पर गांधीजी ने कुछ अन्य ईसाई नेताओं से, जो हाल की मदरास की परिषद् में इकट्ठा हुए थे, हम सभीको फिर से लड़ाई में और इस प्रकार विद्वेष और हिंसा-पूर्ण उन्माद में झोंक देनेवाले भावी अन्तर्राष्ट्रीय महासंकट से मनुष्यजाति को बचाने की समस्या के विविध पहलुओं पर विचार किया। सभ्यता की जड़ों को खा जानेवाली 'नपुंसकता की ज़िल्लत' से सभ्यता की रक्षा कैसे की जा सकती है? पश्चिम की सभ्यता क़रीब दो हज़ार बरस से ईसा का सन्देश सुन रही है, पर इतने अन्तर में भी वह उस सन्देश पर अमल नहीं कर सकी। इसलिए आज वह हमारी आँखों के आगे ही नष्ट हो रही है। आज क्या हो रहा है और क्या-क्या होने वाला है, इसके सम्बन्ध में सारे पश्चिम में गहरी बेचैनी है। इसलिए यह उचित ही था कि ये ईसाई नेता उस व्यक्ति के चरणों में आते जिसने कि ईसा के उपदेश के केन्द्रीय तत्त्व—स्वेच्छा से अंगीकृत कष्टों से उद्धार करनेवाले आत्म-बलिदान—को एक बार फिर से जीता-जागता रखने का प्रयत्न करना स्पष्टरूप से अपना ध्येय बनाया है। और इस प्रकार उस पूर्वकालीन विश्वव्यवस्था की पुनर्सृष्टि की है, जो कई प्रकार से जीर्ण-शीर्ण हो चुकी थी। इस महापुरुष के उद्योग से इस ग़ैर-ईसाई वातावरण और परिस्थिति में भी उत्पादक रूप से विजयी होकर ईसा का 'आत्म बलिदान'—क्रॉस—फिर एक बार जीवित हो उठा है।

क्या हम आशा न करें कि पश्चिम यद्यपि आर्थिक क्रान्ति के शुरू होने के समय से आजतक पीढ़ियों से अबाधित धन-तृष्णा के पीछे दौड़-दौड़ कर पक्का हो रहा है तो भी 'क्रॉस' का सन्देश फिर कुछ कर दिखायगा और क्रॉस का यह पुनर्जीवन समय रहते सर पर मँडराते हुए सर्वनाश से हमें बचा लेगा?

गांधीजी से एक दर्शनार्थी सज्जन ने पूछा कि आपने भारत के लिए जो कुछ किया है उसका प्रेरक उद्देश्य कैसा है? क्या वह सामाजिक है, राजनैतिक है अथवा धार्मिक? गांधीजी का कार्य इन तीनों क्षेत्रों में इतना फैला हुआ है और हिन्दू-समाज की मूल रचना और हिन्दुस्तान की राजनैतिक स्थिति दोनों पर उसका इतना

गहरा रंग चढ़ा हुआ है कि यह प्रश्न स्वाभाविक था।

गांधीजी ने उत्तर दिया--"मेरा उद्देश्य विशुद्ध धार्मिक रहा है।...सम्पूर्ण मनुष्यजाति के साथ एकीकरण किये बिना मैं धार्मिक जीवन व्यतीत नहीं कर सकता; और मनुष्यजाति से एकीकरण राजनीति में हिस्सा लिये बिना सम्भव नहीं। आज तो मनुष्य के सब व्यापारों का समूह एक अखण्ड इकाई है। इन्हें सामाजिक, राजनैतिक या विशुद्ध धार्मिक आदि नितान्त पृथक् भागों में नहीं बाँटा जा सकता। किसी धर्म का मनुष्य के क्रिया-कलाप से पृथक् होना मेरी समझ में नहीं आता। इससे मनुष्य के उन दूसरे कार्यों को नैतिक आश्रय मिलता है जो अन्यथा अनाश्रित रहते हैं। इस नैतिक आधार के अभाव में तो जीवन गर्जन-तर्जन मात्र रह जाता है, जिसका कोई भी मूल्य नहीं होता।"

इस सम्बन्ध में गांधीजी से प्रश्न किया गया कि आपके सेवाभाव का प्रवर्त्तक क्या है—अंगीकृत कार्य के प्रति प्रेम या सेवा की पात्र जनता के प्रति प्रेम? गांधीजी ने बिना हिचकिचाहट के उत्तर दिया, "मेरा प्रेरक कारण तो जनता के प्रति प्रेम ही है। लोक-सेवा के बिना उद्देश्य-सिद्धि कुछ भी अर्थ नहीं रखती।" गांधीजी ने उदाहरण-स्वरूप वर्णन किया कि वह किस प्रकार बचपन से ही अस्पृश्यों से सहानुभूति रखने और उनकी उन्नति का प्रयत्न करनें लग गये थे। एक दिन उनकी माता ने उन्हें एक अंत्यज बालक के साथ खेलनें से रोक दिया था। इससे उनके मन में तर्क-वितर्क उठने लगे और "मेरे विद्रोह का वह पहला दिन था।"

"पश्चिम में तो आपकी अहिंसा का इतना व्यापक या सफल प्रयोग होना सम्भव नहीं दिखाई पड़ता, फिर भी उसके बारे में जो आपका रुख है उसको कुछ अधिक विस्तार से समझायँगे?" यह पूछने पर गांधीजी ने कहा—"मेरी राय में तो अहिंसा किसी भी रूप या प्रकार में निष्क्रियता नहीं है। मैंने जहाँ तक समझा है, अहिंसा संसार की सबसे अधिक क्रियाशील शक्ति है...अहिंसा परम धर्म है। अपने आधी शताब्दि के अनुभव में कभी ऐसी परिस्थिति नहीं आई जब मुझे कहना पड़ा हो कि अब मैं यहाँ असमर्थ हूँ, अहिंसा के पास इसका इलाज नहीं है।

"यहूदियों के ही सवाल को ले लीजिए। इनके सम्बन्ध में मैंने लिखा है। अहिंसा के पथ पर चलनेंवाले किसी यहूदी को अपने आपको असहाय महसूस करने की ज़रूरत नहीं। एक मित्र ने अपनें पत्र में मेरी इस बात पर ऐतराज़ किया है कि मैंने यह मान लिया है कि यहूदियों की भावना हिंसामय थी। यह ठीक है कि उन्होंने शरीर से हिंसा नहीं की, परन्तु उनकी वह अहिंसा व्यवहार में नहीं आई; अन्यथा अधिनायकों (डिक्टेटरों) के कुकृत्यों को देखकर भी वे कहते, 'हमें इनके हाथ से दुःख तो मिलता ही है, इनके पास इससे अच्छा और क्या है! परन्तु यह दुःख उस ढंग से हमें नहीं झेलना जिस ढंग से वह चाहते हैं।' यदि एक भी यहूदी इसपर अमल करता तो वह

अपना स्वाभिमान बचा लेता और एक उदाहरण छोड़ जाता। और वह उदाहरण यदि संक्रामक बन जाता तो सारी यहूदी क़ौम की रक्षा ही नहीं करता; बल्कि मनुष्य-जाति के लिए भारी विरासत भी बन जाता।

"आप पूछेंगे कि चीन के बारे में मेरी क्या राय है? चीनियों की किसी दूसरे राष्ट्र पर आँखें नहीं हैं। राज्य बढ़ानें की उनकी इच्छा नहीं है। शायद यह सच है, कि चीन हमला करने के लिए ही तैयार नहीं है। और शायद जो उसकी यह शान्ति-वृत्ति सी दीखती है वह वस्तुतः उसकी जड़ता हो। हर सूरत में चीन की यह अहिंसा व्यवहार में नहीं आई है। जापान का बहादुरी से मुक़ाबिला करना ही इस बात का काफ़ी प्रमाण है कि चीन कभी इरादतन अहिंसक नहीं रहा। चीन आत्मरक्षा के लिए लड़ रहा है, यह जवाब अहिंसा के पक्ष में नहीं है। इसीलिए जब उसकी व्यावहारिक अहिंसकता की परीक्षा का अवसर आया, तो चीन इसमें असफल हुआ। यह चीन की कोई टीका नहीं है। मैं तो चीनियों की विजय चाहता हूँ। प्रचलित माप से तो उसका बर्ताव बिलकुल सही हो, पर जब परख अहिंसा की कसौटी से की जाय, तो कहना पड़ेगा कि ४० करोड़ जनसंख्या वाले चीन-जैसे सुसभ्य राष्ट्र को, यह शोभा नहीं देता कि वे जापानियों के अत्याचार का प्रतिकार जापानियों के तरीक़े से ही करें। यदि चीनियों में मेरे विचारानुकूल अहिंसा होती, तो जापान के पास विध्वंस के जो नवीनतम यंत्र हैं, चीन को उनका प्रयोग करना ही नहीं पड़ता। चीनी जापान से कहते—"अपनी सारी मशीनरी ले आओ, हम अपनी आधी जन-संख्या तुम्हें भेंट करते हैं, लेकिन बाक़ी २० करोड़ तुम्हारे आगे घुटने नहीं टेकेंगे।" चीनी अगर यह करते तो जापान चीन का ग़ुलाम बन जाता।"

महात्मा गांधी का अपने अहिंसा के विश्वास का इससे और अधिक असंदिग्ध वर्णन क्या हो सकता है? अधर्म के स्थान पर—चाहे फिर वह अधर्म उस प्रकार का भी क्यों न हो, जैसा आज चीन सहन कर रहा है—धर्म-स्थापना करने की युद्ध की पद्धति में दोष यह है कि यह 'शैतान को शैतान से हटाने' का प्रयत्न है। इसमें मनुष्यों को जला देना, गोली मार देना, उनके हाथ-पैर तोड़ देना, यातना देना आदि पाप कृत्यों के प्रयोग से इन्हीं साधनों से काम लेनेवालों का प्रतिकार करना होता है। इस प्रक्रिया से वह पाप-संकल्प मिट नहीं सकेगा जिसने प्रथम आक्रमण होने दिया है। इससे तो पाप-संकल्प और अधिक दृढ़ और अधिक भयानक बनता है। अन्याय को हटाकर न्याय को उसके आसन पर बिठाने के लिए सफल पद्धति यह नहीं है कि शैतान को शैतानियत में मात किया जाय; हिंसा का अन्त करने के लिए और हिंसा की जाय—यह तो मूर्खतायुक्त और मूलतः व्यर्थ पद्धति है। अत्याचार की भावना को मित्रता की भावना में बदलने के लिए स्वेच्छा से कष्ट-सहन करने की सद्भावना ही सफल पद्धति है। गांधीजी ने इस जगह शैली की 'मास्क ऑव अनार्की' कविता की प्रसिद्ध

पंक्तियाँ[१] दोहराईं। काश कि लोग उन्हें और अच्छी तरह समझ पाते !

शांत और स्थिरमति रहकर बन की भांति सघन और निःशब्द खड़े होजाओ। हाथ जुड़े हुए हों, और आँखों में तुम्हारे ही अविजित योद्धा का तेज हो।

और, तब यदि अत्याचारी का साहस हो तो आने दो, मचाने दो उसे मार-काट। बोटी-बोटी करे तो करने दो; उसे मनचाही मचा लेने दो।

और तुम बद्धाञ्जलि और स्थिर दृष्टि से, बिना भय और बिना आश्चर्य, उनकी यह खूँरेज़ी देखते रहो। आखिर क्रोधाग्नि उनकी बुझ जायगी।

तब वे जहाँ से आये थे, वहीं अपना-सा मुँह लिये लौटेंगे। और वह रक्त, जो इस तरह बहा था, लज्जा में उनके चेहरे पर पुता दीखा करेगा।

उठो, जैसे नींद से जगा शेर उठता है। तुम्हारी अमित और अजेय संख्या हो। बेड़ियाँ झिटक कर धरती पर छोड़ दो, जैसे नींद में अपने पर पड़ी ओस की बूँद ऊपर से छिटक देते हो। अरे, तुम बहुत हो, वे मुट्ठीभर हैं।

१. **मूल अंग्रेजी पद्य इस प्रकार है :—**

Stand ye calm and resolute,
Like a forest close and mute,
With folded arms and looks which are
Weapons of unvanquished war.
And if then the tyrants dare,
Let them ride among you there,
Slash, and stab, and maim, and hew—
What they like, that let them do.
With folded arms and steady eyes,
And little fear, and less surprise,
Look upon them as they slay,
Till their rage has died away.
Then they will return with shame
To the place from which they came,
And the blood thus shed will speak
In hot blushes on their cheek.
Rise like lions after slumber
In unvanquishable number—
Shake your chains to earth, like dew
Which in sleep has fallen on you—
Ye are many, they are few.

अब संवाद इसी विषय के एक दूसरे अंग पर चला गया। गांधीजी ने कहा—"यह शंका की गई है कि यहूदियों के लिए तो अहिंसा ठीक हो सकती है, क्योंकि वहाँ व्यक्ति और उसके पीड़क में शारीरिक सम्पर्क सम्भव है। लेकिन चीन में तो जापान दूरभेदी बन्दूकों और वायुयानों से पहुँचता है। आसमान से मृत्यु की बौछार करने-वाले तो कभी यह जान ही नहीं पाते कि किनको और कितनों को उन्होंने मार गिराया है। ऐसे आकाश-युद्धों में जहाँ शारीरिक सम्पर्क नहीं होता, अहिंसा कैसे लड़ सकती है?

"इसका उत्तर यह है कि जीवन-मृत्यु का सौदा करनेवाले बमों को ऊपर से छोड़नेवाला हाथ तो मानवीय ही है और उस हाथ को चलानेवाला पीछे मानवीय हृदय भी तो है। आतंकवाद की नीति का आधार यह कल्पना ही है कि पर्याप्त मात्रा में इसका उपयोग करने से उत्पीड़क की इच्छानुसार विरोधी को झुका देने का अभीष्ट सिद्ध होता है। लेकिन मान लीजिए कि लोग निश्चय कर लेते हैं कि वे उत्पीड़क की इच्छा कभी पूरी न करेंगे, और न इसका बदला उत्पीड़क के तरीक़े से ही देंगे, तब पीड़क देखेगा कि आतंक से काम लेना लाभदायक नहीं है। उत्पीड़क को पर्याप्त भोजन दे दिया जाय, तो समय आयगा कि उसके पास अत्यधिक भोजन से भी अधिक इकट्ठा हो जायगा।

"मैंने सत्याग्रह का पाठ अपनी पत्नी से सीखा। मैंने उसे अपनी इच्छा पर चलाना चाहा। एक ओर तो उसने मेरी इच्छा का दृढ़ प्रतिवाद किया और दूसरी ओर मैंने अपनी मूर्खतावश उसे जो कष्ट पहुँचाये उसने उन्हें शान्ति से सहन किया। इससे मैं अपने से ही लजाने लगा और 'मैं उसपर शासन करने के लिए ही जन्मा हूँ।'—यह सोचने का मेरा पागलपन जाता रहा; तथा अन्त में वह अहिंसा में मेरी शिक्षिका बन गई। जिस सत्याग्रह की नीति का वह सरल भाव ही से अपने में अभ्यास कर रही थी, उसका विस्तारमात्र ही मैंने दक्षिण अफ़्रीका में किया था।"

सत्याग्रह का यह दूसरा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। यह एक ऐसा आन्दोलन और विधायक नियम है, जिसमें स्त्रियाँ पुरुषों के साथ समान भाग ले सकती हैं। इतना ही नहीं, इस आन्दोलन में स्त्रियाँ ही नेतृत्व करने में विशेषरूप से योग्य हैं। अनगिनती सदियों से स्त्रीत्व का उत्कृष्ट शस्त्र धीरता से कष्ट सहन करना और साथ ही हिंसा और अत्याचार के विरुद्ध स्पष्टवादिता और निर्भीकता से डटे रहना रहा है। अब उसको यह भार सौंपा जा रहा है कि वह इसी भावना और पद्धति को संसार के बचाने का मूल साधन बनाये।

आइए, यहाँ हम सत्याग्रह की चार आधारभूत बातों का स्मरण करलें:

(१) संसार में अन्याय खुलकर खेल रहा है।

(२) अन्याय को मिटाना चाहिए।

(३) अन्याय को हिंसा से नहीं मिटाया जा सकता। हिंसा से तो कुत्सित संकल्प और अधिक गहराई तक पहुँचकर ज्यादा मज़बूत होजाता है और इसे निर्दयता से क्यों न कुचला गया हो, एक-न-एक दिन इसका कई गुनी हिंसा के साथ फूट निकलना अनिवार्य होजाता है।

(४) अन्याय का प्रतिकार यही है कि इसे धीरता से सहन किया जाय। इसका अर्थ है सद्भावना से स्वेच्छापूर्वक अन्यायजनित दुःख—मृत्युतक—को भी आमंत्रित करना। सत्य की वेदी पर किसी एक सत्याग्रही का जीवन बलिदान होजाने पर भी ऐसी भावना को अनिवार्यतः पुनर्जीवन मिलता है।

इन चार मूलभूत आदर्शों का जहाँतक सम्बन्ध है, स्त्री अनन्तकाल से इन्हें जानती है और सत्याग्रह का प्रयोग करती रही है। जिस अत्याचार को उसने अपने ऊपर झेला है उसने स्त्री के अन्तःकरण को अन्याय का बलात् अनुभव करवाया है। क्रमशः उसे ज्ञान हुआ और उसने कुछ भी देकर इस अन्याय का अन्त करने के लिए उसे कटिबद्ध कर दिया। वह हिंसक उपायों से इस अन्याय का अन्त नहीं कर सकती। और स्त्री-पुरुष सम्बन्धी समस्यायें ऐसे तरीक़ों से हल हो सकती हैं, इसकी कल्पना भी न करने की समझ तो उसमें है ही। उसने कार्य की दूसरी ही प्रणाली पकड़ी; अत्याचार घर में हो या राष्ट्रीय राजनैतिक क्षेत्र में—उसका अविचल भाव से साहस-पूर्वक प्रतिरोध किया जाय। स्त्री ने—न केवल स्त्री-आन्दोलन की नेत्रियों ने, बल्कि लाखों साधारण स्त्रियों ने भी—दूसरों की ख़ातिर कष्टों को स्वयं वरण करने की भावना से अत्याचार की कठोरतम यंत्रणाओं को उद्धार की दृष्टि से सहन करने की आदत डाली। बच्चों की उत्पत्ति, उनके लालन-पालन आदि प्राणि-विद्या-सम्बन्धी मानवीय स्वभाव के मूलभूत नियम स्त्री का सत्याग्रह की मान्यताओं से केवल घनिष्ट परिचय ही नहीं करा देते, उन्हें अमलन सत्याग्रही भी बना देते हैं, चाहे ईसामसीह या उनके 'क्रॉस' को एकबार फिर से जीवित शक्ति बना देने का प्रयत्न करनेवाले हमारे युग के नेताओं का भले ही उन्होंनें नाम भी न सुना हो। बच्चे का जन्म ही स्वयं वरण किये कष्ट में से होता है और उसका लालन-पालन दूसरों के लिए सबकुछ सहन करनेवाले प्रेम से प्रेरणा पाता है।

इसलिए यीशु के 'क्रास' के सिद्धान्त का हमारे कामों में व्यापक-से-व्यापक रूप में उपयोग करने का गांधीजी का अनुरोध वस्तुतः स्त्रियों के लिए इन आदर्शों के विश्वव्यापी कहे जा सकनेवाले नेतृत्व के लिए आगे बढ़कर मनुष्य जाति के बड़े-बड़े अभिशाप, दरिद्रता, उत्पीड़न, युद्ध-विग्रह का अन्त करने का आमन्त्रण है।

हम दुनिया में जी-भर रहे हैं, यही इसका प्रमाण है कि केवल प्रसव-वेदना के समय ही नहीं, बल्कि हमारे बचपन की प्रतिदिन की हज़ारों भूली हुई घटनाओं में भी हमारी माताओं ने सत्याग्रह किया है, 'क्रॉस' के पथ का अनुसरण किया है। उन्होंने

स्वेच्छा से और खुशी-खुशी हमारे लिए भी कष्ट उठाया; क्योंकि उन्हें हमसे प्रेम था। हमें यही आमन्त्रण है कि हम खुशी-खुशी कष्ट-सहन की इसी भावना से मनुष्य-जाति की रक्षा के लिए आगे बढ़ें। यदि हम मनुष्यों में कुछ भी समझ है तो हमें यह महसूस होगा कि स्त्रियां तो इस दिशा में हमसे बहुत आगे बढ़ चुकी हैं; और इसलिए वे यहाँ हमारा नेतृत्व और पथ-प्रदर्शन कर सकती हैं। उनके नेतृत्व के बिना हम निश्चय ही असफल होंगे।

गांधीजी के एक मुलाक़ाती ने तब उनके सामने अधिनायकत्व (डिक्टेटरशिप) की समस्या पेश की। कहा, "यहाँ तो किसी नैतिक अपील का तनिक भी असर नहीं होता। यदि अधिनायकों से आतंकित जन उनका अहिंसा से मुक़ाबिला करें, तो क्या यह उनका उनके अधिनायकों के हाथ में खेलना नहीं कहलायगा? क्योंकि अधिनायकत्व तो लक्षण से ही अनैतिक है। तो क्या इनके मामले में भी नैतिक परिवर्तन का सिद्धान्त लागू होने की आशा है?"

गांधीजी का इस सम्बन्ध का उत्तर भी अत्यन्त हृदयग्राही था। उन्होंने कहा—"आप पहले ही यह मान लेते हैं कि अधिनायकों का उद्धार नहीं हो सकता। परन्तु अहिंसा की श्रद्धा का आधार ही यह धारणा है कि यथार्थतः मनुष्य-प्रकृति एक है, इसलिए वे अवश्य प्रेम का प्रतिदान प्रेम से ही देंगे। यह स्मरण रखना चाहिए कि इन अधिनायकों ने जब कभी हिंसा का प्रयोग किया है, उसका जवाब तत्काल हिंसा से ही दिया गया है। अबतक उन्हें यह अवसर नहीं मिला कि कभी संगठित अहिंसा से किसीनें उनका मुक़ाबिला किया हो। कभी साधारणतः किया भी हो, तो पर्याप्त परिमाण में ऐसा कभी नहीं हुआ। इसलिए यह केवल वहुत सम्भावित ही नहीं है, मैं तो इसे अनिवार्य समझता हूँ कि वे अहिंसामय प्रतिरोध को हिंसा के अपने भरसक प्रयोग से भी अधिक और उदात्त अनुभव करेंगे। फिर अहिंसा-नीति अपनी सफलता के लिए अधिनायक की इच्छा पर निर्भर नहीं होती। कारण कि सत्याग्रही तो उस परमात्मा की अचूक सहायता पर निर्भर होता है, जो अन्यथा दुस्तर दीख पड़नेवाली विपत्तियों में उसे सहारा देती है। परमात्मा में श्रद्धा सत्याग्रही को अदम्य बना देती है।"

यहाँ फिर हमें पता लगता है कि ईसा के 'क्रॉस के आदर्श' की भाँति गांधीजी का सत्याग्रह आदर्श कितना धर्म-प्रधान है! हमें अत्याचार और दमन से होनेवाले कष्ट की याद मन में लेकर नहीं चलना है, क्योंकि वह कटु होगी। हमें परमात्मा पर निगाह रखकर चलना आरभ करना है। हमें यहाँ सबसे पहले इस प्रश्न का उत्तर देना होगा कि मैं परमात्मा की 'इच्छा' किसे समझता हूँ और परमत्मा को मैं किस प्रकार का मानता हूँ? यदि इस प्रश्न के उत्तर में हम यह मानते हैं कि परमात्मा और वह स्वयं तो मुक्ति और न्याय से चलता ही है, बल्कि उस मुक्ति और न्याय को मानव-प्रकृति में सर्वोच्च आसन भी देना चाहता है, तब हमें इतना ही और करना

रहता है कि हम इस परमपिता परमात्मा का हाथ थाम लें—और हम ईसाई तो संक्षेप में यह कह सकते हैं कि वह परमात्मा और हमारे प्रभु ईसामसीह का पिता है। यदि हम इस प्रकार उसका हाथ पकड़ लें (और थोड़ी ही देर में हमें ऐसा लगेगा कि यथार्थ में उसने ही हमारा हाथ पकड़ा है) तो हमें वह 'क्रॉस' पथ पर लेजायगा—यर्थात् दूसरों को पीड़ा और अन्याय से छुड़ाने की ख़ातिर सदिच्छा; अथवा दूसरे शब्दों में ईश्वरेच्छा, के विरुद्ध होनेवाले उत्पीड़न और अन्याय के निकृष्टतम परिणाम को अहिंसक रहकर, स्वेच्छा से सहन करने का मार्ग दिखायगा।

हमारे मार्ग का उद्गम परमेश्वर है। हमारे सब वाद-संवादों और हमारी सब योजनाओं के पीछे परमात्मा की सत्ता है। यदि हम उसे कुछ गिनें ही नहीं, तो निस्सन्देह हम असफल रहेंगे। और यदि वह एक जीवित परमेश्वर है तो, जैसा कि गांधीजी बताते हैं, मौन में ही उसकी खोज करनी चाहिए। कारण कि अत्यन्त ललित भाषा में उससे कुछ कहना कुछ महत्व नहीं रखता, बल्कि महत्व की बात यह है कि परमेश्वर की इच्छा हम जानें और उससे हमारा मार्ग-दर्शन हो। ऐसा पथ-प्रदर्शन और ईश्वरेच्छा के साथ अपनी इच्छा मिलाने से उत्पन्न बल हमें तभी प्राप्त हो सकता है जबकि मौन होकर हम उसकी शरण जायँ और उसकी वाणी को सुनें। तब भगवान् की उपासना द्वारा उसके संकल्प को समझने से, जैसा कि गांधीजी कहते हैं, हमारे हृदय पर वह ज्वलंत श्रद्धा अंकित होगी जिसकी सहायता से हम सारी विघ्न-बाधाओं को पार कर सकेंगे।

किन्तु हमारा आरम्भ परमेश्वर से होना चाहिए। उसको आत्मसमर्पण करके चलना होगा कि हमारी राजनीति और हमारे कार्य हमारे अपने न रहकर उसके हो जायँ।

अधिनायकों के मुक़ाबिले में क्या करना होगा, इसपर और अधिक विचार करते हुए गांधीजी के एक मुलाक़ाती ने पूछा कि उस हालत में क्या किया जाय जबकि अन्यायी प्रत्यक्ष रीति से बल-प्रयोग तो न करे, पर अपनी अभीष्ट वस्तु पर कब्जा जमाने के लिए उसकी धमकी देकर आतंकित करें?

गांधीजी ने उत्तर दिया—

"मान लीजिए कि शत्रु लोग आकर चेक प्रजा की खानों, कारखानों और दूसरे प्रकृति के साधनों पर क़ब्जा करलें, तो इतने परिणाम सम्भव हैं—

"(१) चेक प्रजा को सविनय अवज्ञा करने के अपराध पर मार डाला जाय। अगर ऐसा हुआ तो वह चेक राष्ट्र की महान् विजय और जर्मनी के पतन का आरम्भ समझा जायगा।

"(२) अपार पशुबल के सामने चेक प्रजा का नैतिक पतन हो जाय। ऐसा प्रायः सभी युद्धों में होता ह। पर अगर ऐसी भीरुता प्रजा में आजाय तो यह हिंसा के

कारण नहीं; बल्कि अहिंसा अथवा यथोचित अहिंसा के अभाव से होगा।

"(३) तीसरे, यह हो कि जर्मनी विजित प्रदेश में अपनी अतिरिक्त जनसंख्या को लेजाकर बसा दे। इसे भी हिंसात्मक मुक़ाबिला करके नहीं रोका जा सकता, क्योंकि हमने यह बात मान ली है कि हिंसात्मक प्रतिरोध हमारे प्रश्न से बाहर है।

"इसलिए अहिंसात्मक मुक़ाबिला ही सब प्रकार की परिस्थितियों में प्रतिकार का सबसे अच्छा तरीक़ा है।

"मैं यह भी नहीं मानता कि हिटलर तथा मुसोलिनी लोकमत की इतनी उपेक्षा कर सकते हैं। आज बेशक, लोकमत की उपेक्षा में वे अपना संतोष मानते हैं, कारण कि तथाकथित बड़े-बड़े राष्ट्रों में से कोई भी साफ़ हाथों नहीं आता और इन बड़े-बड़े राष्ट्रों ने इनके साथ गुजरे जमाने में जो अन्याय किया है, वह उन्हें खटक रहा है। थोड़े ही दिन की बात है कि एक सुयोग्य अंग्रेज़ मित्र ने मेरे सामने स्वीकार किया था कि नाज़ी-जर्मनी इंग्लैण्ड के पाप का फल है और वार्साई की संधि ने ही हिटलर पैदा किया है।"

यहाँ लेखक के सामने वह चित्र अंकित हो जाता है जबकि वार्साई की संधि के बाद भूखों मरने के दिनों में अमेरिका की बालकों को भोजन देने की व्यवस्था पर पूरा-पूरा अमल शुरू होने से पहले वह वियना के बच्चों के अस्पतालों में गया था। यहां हमारे घेरे[१] और उससे उत्पन्न हुई भीषण बीमारियों के शिकार अनगिनती बच्चे थे, उनके शरीर मुड़े-तुड़े और खंडित थे। इस घोरतम अंतर्राष्ट्रीय अपराध से मरनेवाले जर्मन और आस्ट्रियन स्त्री-बच्चों की संख्या दस लाख कूती गई ह। जब बिस्मार्क ने सन् १८७१ में पेरिस पर क़ब्ज़ा किया था तो उसने जल्दी-से-जल्दी गाड़ी से वहाँ भोजन भेजने की व्यवस्था की थी। अस्थायी शान्ति के बाद भी हमने अपने हारे शत्रु को उससे अपनी मनचाही संधि की शर्तों पर 'हाँ' भरवाने के लिए जर्मनी और आस्ट्रिया को आठ महीने तक भूखों मारा। वह संधि-शान्ति हमें मिल गई। मूलतः वह भद्दी शांति थी; पर इस शांति को प्राप्त करने का तरीक़ा—'घेरा'—जितना अधार्मिक रहा, इस शांति में होनेवाले सब अपमान और अन्याय (युद्ध के दोषारोपण की धारा और जर्मनी को उपनिवेश बसाने के अयोग्य क़रार देना) उतने अधार्मिक नहीं थे। मुझे याद है कि इन बच्चों को देखकर मैंनें मन-ही-मन कहा था कि "एक दिन इस काले कारनामे का लेखा चुकाना ही पड़ेगा।" वह दिन आज आगया है। उन बच्चों में से बचे हुए या उनके समवयस्क ही आज नाज़ी सेनाओं के सेनापति हैं। इन्हींमें से नाज़ी-वाद के अंधभक्त बने हैं। हम विजयी राष्ट्रों ने ही, युद्ध के बाद इटली के साथ किये गये अपने व्यवहार से, मुसोलिनी को पैदा किया है। व्यवहार की बानगी लीजिए। चौदह शासनाधिकार के प्रदेशों में से ब्रिटेन ने नौ लिये और इटली को एक भी नहीं

**१. मित्रराष्ट्रों ने युद्ध के बाद शत्रु-देशों पर घेरा डालकर खाद्य-सामग्री आदि का वहाँ जाना बंद कर दिया था।**

मिला। 'घेरे' के दिनों में और वार्साई की संधि के द्वारा हमने जो बर्ताव जर्मनी और आस्ट्रिया से किया, उसी व्यवहार का परिणाम हिटलर है। इतने बड़े-बड़े अन्र्राष्ट्रीय अपराध करके भी यह दुराशा रखना कि भावी भीषण प्रतिक्रिया के बीज नहीं बोये गये, बन नहीं सकता। यदि इतिहास कुछ भी सिखाता है, तो यही।

परन्तु हम पीड़ा और अपमान के उन दिनों पर दृष्टि डालें। नाज़ियों में यह मशहूर है कि यहूदी इसके ज़िम्मेदार हैं। इस विलक्षण गाथा के अनुसार उस समय, जबकि जर्मन सेनायें आगे युद्धक्षेत्र में बिना हिम्मत हारे ख़ूब लड़ रही थीं, यहूदियों ने देश में विद्रोह की आग जलाकर उनपर आघात किया। इसलिए ये जर्मन यहूदियों को सबसे पहले दंडनीय शत्रु मानते हैं। अत: जर्मनी के यहूदियों के त्रास का कारण हम विजेता राष्ट्रों के 'घेरे' और उनकी मनमानी संधि-शांति से हुए अन्तर्राष्ट्रीय पाप की अप्रिय प्रतिक्रिया है। यहूदियों के प्रति नाज़ियों की नीति की निन्दा करने का हमें अधिकार नहीं है, क्योंकि इस नीति के कारण तो हम ही हैं। हमें तो सबसे पहले अपना ही दोष मानना चाहिए और फिर इन त्रस्त यहूदियों की जितनी भी सहायता कर सकें, करनी चाहिए।

× × ×

एक मुलाक़ाती ने प्रश्न किया, "मैं बहैसियत एक ईसाई के अन्तर्राष्ट्रीय शांति के काम में किस तरह योग दे सकता हूँ? किस प्रकार अहिंसा अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता को नष्ट करके शांति-स्थापना में प्रभावकारी हो सकती है?"

वह दृश्य कितना मनोहर रहा होगा! दो हज़ार वर्ष तक मेहनत करने के बाद भी ईसा के आहुति-धर्म की पद्धति से युद्ध की समस्या हल करने में असमर्थ रहकर, शान्ति के राजकुमार के ये चुने हुए राजदूत, हिन्दू होने का गर्व रखनेवाले गांधीजी के चरणों में, उनसे अपनी ईसाइयत की मूलभूत मान्यताओं को व्यावहारिक बनाने के उचित मार्ग की शिक्षा लेने के लिए संसार के कोने-कोने से आकर वहां एकत्र थे!

गांधीजी ने उत्तर दिया—

"एक ईसाई के नाते आप अपना सहयोग अहिंसात्मक मुक़ाबिला करके दे सकते हैं, फिर भले ही ऐसा मुक़ाबिला करते हुए आपको अपना सर्वस्व होम देना पड़े। जबतक बड़े-बड़े राष्ट्र अपने यहाँ निःशस्त्रीकरण करने का साहसपूर्वक निर्णय नहीं करेंगे, तबतक शान्ति स्थापित होने की नहीं। मुझे ऐसा लगता है कि हाल के अनुभव के बाद यह चीज़ बड़-बड़े राष्ट्रों को स्पष्ट हो जानी चाहिए।

**"मेरे हृदय में तो आधी सदी के निरन्तर अनुभव और प्रयोग के बाद इतना निःशक विश्वास है और ऐसा विश्वास आज पहले से भी अधिक ज्वलंत होगया है कि केवल अहिंसा में ही मानवजाति का उद्धार निहित है। बाइबिल की शिक्षा का सार भी, जैसाकि मैं उसे समझता हूँ, मुख्यत: यही है।"**

सारी बात का सार यही है। गांधीजी जब 'अहिंसा' या 'सत्याग्रह' कहते हैं तो उससे उनका अभिप्राय इसी आत्मयज्ञ अथवा आहुति-मार्ग का होता है। तभी तो बर्मिघम की हमारी बस्ती में आने पर उन्होंने प्रार्थना के लिए जो गीत चुना, वह था 'When I survey the wondrous Cross' अर्थात् "जब मैं अद्भुत क्रॉस को देखता हूँ।" मानों विश्व-सत्य का सार वह इसमें देखते हों। ये साक्ष्य स्पष्ट हैं कि वह मानते हैं कि मनुष्यजाति का उद्धार 'क्रॉस' और प्रभु ईसा के "अपना क्रॉस लेकर मेरे पीछे चलो" शब्दों का अक्षरश: पालन करने से हो सकता है।

हमारे धर्म का क्या उद्देश्य है, यह हम कब सीखेंगे ? बहुत करके यह आशा की जा सकती है कि इस महान हिन्दू का कथन और कथन से भी बढ़कर उसका अपनी मान्यताओं का जीवन में पालन, ईसाइयत की जाग्रति के दिन नज़दीक लायगा। यूरोप के सबसे अधिक घनी बस्ती के ईसाई देश में चर्च पर आक्रमण शुरू हो ही गये हैं; तथा राष्ट्र और धर्म के एक नये विस्तृत झगड़े में ईसाई धर्म के खिलाफ़ और भयानक आक्रमण होंगे, ऐसी अफ़वाहें फैल रही हैं। क्या जर्मन ईसाई आज समय का लाभ उठायेंगे और ईसाइयत को पुनरुज्जीवित करने और शायद सभ्यता को बचाने के लिए क्रॉस की भावना में कष्टों का सामना करेंगे ? क़ैदखानों को महल मानकर उनमें प्रवेश करेंगे और ईसामसीह के लिए कष्ट उठाने का गौरव मिला देखकर खुश होंगे ? और क्या हम अपनी समस्याओं का खासकर युद्ध और दारिद्रय का मुक़ाबिला करने में भी इस मान्यता पर अमल करेंगे ? क्रॉस केवल सक्रिय पीड़न के समय में धारण करने की ही चीज़ नहीं है। नंगे, भूखे, रोगी और पीड़ित जो 'प्रभु के अपने हैं' के कष्टों और आवश्यकताओं से आत्मसम्पर्क जोड़ने का सिद्धान्त ही 'क्रॉस' है।

गांधीजी ने इसके बाद उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त के अपने ताज़े अनुभव का ज़िक्र किया और बताया कि वहाँकी जंगली लड़ाकू जातियों में अहिंसा की भावना कैसे बढ़ती जा रही है। कहा—"वहाँ मैंने जो कुछ देखा उसकी आशा मुझे नहीं थी। वे लोग सच्चे दिल से और पूरी लगन से अहिंसा की साधना कर रहे हैं। उन्हें स्वयं अहिंसा से प्रकाश मिलने की पूरी आशा है। इससे पहले वहाँ घोर अंधकार था। एक भी कुटुम्ब ऐसा न था जिसमें खूनी लड़ाई-झगड़े न चले हों। वे शेरों की तरह मांदों में रहते थे। हालाँकि वे सदा छुरियों, खंजरों और बन्दूकों से लैस रहते थे, पर अपने बड़े अफ़सरों को देखते ही काँप जाते थे कि कहीं कोई क़सूर न निकल आये और उन्हें अपनी नौकरियों से हाथ न धोना पड़े। आज वह सब बदल गया है। जो लोग ख़ान साहब के अहिंसात्मक आन्दोलन के प्रभाव के नीचे आगये, उनके घरों से खूनी लड़ाई-झगड़े नेस्तनाबूद होते जारहे हैं, और तुच्छ नौकरियों के पीछे मारे-मारे फिरने के बजाय वे अब खेत-खलिहान से जीविका कमा रहे हैं। और अगर उन्होंने अपना वचन निबाहा तो वे दूसरे गृह-उद्योग भी जारी करेंगे।"

इन पिछले शब्दों से प्रकट होता है कि गांधीजी कठोर मेहनत और ख़ासकर खेत-खलिहान की मेहनत को बहुत महत्व देते हैं जब वह सन् १९३१ में इंग्लैण्ड आये तो उन्होंने इसी बात पर ज़ोर दिया था कि छोटी-छोटी बस्तियाँ होनी चाहिएँ; इससे बेरोज़गारी का सवाल भी हल होगा। और ईसाई सभ्यता की फिर से नीव पड़ेगी। भारत को भी उनका यही संदेश है। इसके साथ वह कहते हैं कि प्रतिदिन किसी क़िस्म के गृह-उद्योग में, खासकर चर्खा कातने में पर्याप्त समय लगाना चाहिए।

यहाँ यह स्मरण कर लेना लाभदायक होगा कि पांचवीं शताब्दि में जब पुरानी उच्च सभ्यता नष्ट होगई तब इसका उन लोगों ने शनै-शनै कष्ट सहन कर पुनर्निर्माण किया जो छोटे-छोटे गुट्टों में, कभी की उपजाऊ पर उस समय की बीरान पड़ी भूमियों में जा बसे थे। यहाँ उन्होंने ईसा के नाम पर छोटी-छोटी बस्तियाँ और मठ बना लिये। प्रारम्भ के ये पादरी, जिन्होंने फिर से वैज्ञानिक कृषि शुरू की, फिर शिक्षा, धर्म और कला फैलाई, मुख्यतः खुरपा-कुदारी से काम करनेवाले ही थे। खुरपों से ही इन वीर-नेताओं ने मध्ययुगीय महती सभ्यता का निर्माण किया। यह सभ्यता हमारी सभ्यता की अपेक्षा कई प्रकार से अधिक रचनात्मक और बहुत अधिक यथार्थता में ईसाई थी। उनका यह खुरपा उनके निजी स्वार्थ की पूर्ति का साधन नहीं था; वे उसको अपने समाज, अपने प्रभु और बर्बर लोगों के आक्रमणों से घायल अपने साथियों की रक्षा के लिए धारण करते थे।

वह तो सम्भव है ही कि इस युग में भी सभ्यता, जो अपनी सैनिकता और औद्योगिक मुक़ाबिले के कारण इस हालत में हैं, फिर नये विश्व-युद्ध में चकनाचूर हो जाय। यदि ऐसा हुआ तो ऐसे लोगों की एक बार आवश्यकता पड़ेगी जो साहस के साथ प्रभु यीशु के लिए अपने हाथों की मेहनत से नवनिर्माण आरम्भ करें। निजी लाभ के लिए नहीं, बल्कि जाति के अर्थ, युद्ध से सताये लोगों और उनके प्रभु के निमित्त फावड़ा चलायें और धरती खोदें। लेकिन यदि ऐसा होनेवाला है तो इसकी **तैयारी अभी से करनी पडेगी**। एक कारण यह है कि इंग्लैण्ड और वेल्स में जहाँ-तहाँ बेरोज़गारों को रोज़गार दिलानेवाली संस्थायें स्थापित होगई हैं। इसी कारण यह भी आवश्यक है कि कुछ भाग्यशाली वर्ग के लोग ऐसी संस्थाओं में पर्याप्त संख्या में सम्मिलित हों और उनके कार्य में हाथ बटायें।

इसके बाद ईसाई नेताओं और गांधीजी का संवाद फिर धर्म पर चल पड़ा। गांधीजी से पूछा गया कि उनकी उपासना की विधि क्या है? उन्होंने उत्तर दिया, "सुबह ४ बजकर २० मिनट पर और सायंकाल ७ बजे हम सब सम्मिलित प्रार्थना करते हैं। यह क्रम कई बरसों से जारी है। गीता और अन्य सर्वमान्य धार्मिक पुस्तकों के श्लोकों का और साथ में संतों की वाणियों का, कभी संगीत के साथ, कभी उसके बिना ही, पाठ होता है। वैयक्तिक प्रार्थना का शब्दों में वर्णन नहीं हो सकता। यह

तो सतत और अनजाने भी जारी रहती है। कोई ऐसा क्षण नहीं जाता जबकि मैं अपने ऊपर एक ऐसे परम 'साक्षी' की सत्ता अनुभव न कर सकता होऊँ जो सब कुछ देखता है और जिसके साथ मैं लवलीन होने का यत्न तक करता होऊँ। मैं अपने ईसाई मित्रों की भांति प्रार्थना नहीं करता।" (शायद गांधीजी का संकेत यहाँ पन्थ-प्रचलित प्रार्थना की ओर है) "इसलिए नहीं कि इसमें कहीं गलती है, पर इसलिए कि मुझे शब्द सूझते ही नहीं। मैं समझता हूँ यह अदालत की बात है।...भगवान बिना बोले हमारी बिरथा जानते हैं। उसे मेरी प्रार्थना की आवश्यता नहीं है।...हाँ, मुझ अपूर्ण मनुष्य को उसके संरक्षण की वैसे ही आवश्यकता है, जैसे कि पुत्र को पिता के संरक्षण की...भगवान से मैंने कभी धोका नहीं पाया। जब कभी क्षितिज पर गहरे से गहरा अंधेरा नज़र आया, जेलों में मेरी अग्नि-परीक्षाओं में, जबकि मेरे दिन अच्छे नहीं गुज़र रहे थे, मैंने सदा भगवान् को अपने समीप अनुभव किया।

"मुझे याद नहीं कि मेरे जीवन में एक भी ऐसा क्षण बीता हो जबकि मुझे ऐसा लगा हो कि भगवान् ने मुझे छोड़ दिया है।"

गाँधीजी से मुलाक़ात करनेवाले इन ईसाई नेताओं की पूर्वकालिक प्रवृत्ति जाननेवाले कुछ हम मित्रों को उक्त संवाद बड़ा रुचिकर प्रतीत हुआ। इनमें से एक प्रसिद्ध नेता एक बार केम्ब्रिज पधारे। उस समय लेखक वहाँ पढ़ता था। इन्होंने इसी पीढ़ी में संसार के ईसाई होजाने के सम्बन्ध में एक वाग्मितापूर्ण ओजस्वी भाषण दिया। इस महत्वपूर्ण भाषण में विश्वास और व्यवस्थित निश्चय की ध्वनि थी। हम प्रोटेस्टेण्ट ईसाइयों (विशेषतः, हममें से प्रिसबिटेरियन) के तो पास **सत्य का सन्देश था**। मानों उलझन इतनी ही थी कि **पूर्व को सत्य** के अभाव में ध्वंस से बचाने के लिए हम अपने सन्देश के साथ पहुँचें।

फिर महायुद्ध आया। अब अवस्था कितनी बदल गई! हमने देखा कि एक वह पुरुष जो हिन्दू होने का गर्व करता है, हमारी अपेक्षा ईसामसीह के सत्य और क्रॉस के सत्य के अधिक समीप है। हमारे नेताओं का यह सही और बुद्धिमत्ता का ही कार्य था और है कि वे उनके चरणों में बैठकर ईसाइयत का अभिप्राय सीखने का प्रयत्न करें; क्योंकि यदि ईसाइयत का सार कुछ है तो वह मसीह का क्रॉस ही है। क्रॉस यानी आत्म-यज्ञ, आहुति।

## : २१ :

# एक भारतीय राजनीतिज्ञ की श्रद्धांजलि

### सर मिरज़ा एम. इस्माइल, के. सी. आई. ई.

[ दीवान, मैसूर राज्य ]

महात्मा गांधी की ७१ वीं जन्म-तिथि के अवसर पर उन्हें भेंट किये जानेवाले, उनके जीवन और कार्यों पर लिखे गये, लेखों व संस्मरणों के ग्रंथ में कुछ लिख देने का अनुरोध सर एस. राधाकृष्णन् ने मुझसे किया है। सर राधाकृष्णन् के इस अनुरोध का पालन करते हुए मुझे बहुत प्रसन्नता होरही है।

महात्मा गांधी का ७० वर्ष पूरे कर लेना उनके अनगिनती मित्रों व प्रशंसकों के लिए, जिनमें शामिल होने का मुझे भी गर्व है, खुशी के इजहार से कहीं ज्यादा महत्त्व रखता है। उनकी हरेक जयन्ती समस्त राष्ट्र को आनन्दित कर देनेवाली एक घटना की तरह देखी जाती है। और उनकी ७१वीं जयन्ती भी, इसमें मुझे कोई शक नहीं कि, देशभर में ज़रूर अपूर्व उत्साह का संचार करेगी।

मेरे अपने लिए इस अवसर पर उन परिस्थितियों का वर्णन करना खास दिलचस्पी की चीज़ है, जिनमें मुझे इस महापुरुष के जो शिक्षक और नेता दोनों ही है, निकट-सम्पर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

१९२७ म या इसके लगभग, जब महात्मा गांधी का स्वास्थ्य गिर रहा था, वह बेंगलौर के आरोग्यवर्धक जल और नन्दी पहाड़ी की तरोताज़ा कर देनेवाली वायु का सेवन करने के लिए इधर आये। इस जलवायु-परिवर्तन की उन्हें बहुत ज़रूरत भी थी। इन्हीं दिनों मुझे उनके निकट सम्पर्क में आने का अवसर मिला। वह कुछ ही हफ्ते यहाँ ठहरे थे, लेकिन इसी अरसे में वह मैसूर-निवासियों के दिलों में कई सुखद स्मृतियाँ छोड़ गये। उन दिनों महात्माजी से जितनी बार मैं मिल सकता था। मिला। उन्हें देखकर उनके प्रति मेरे हृदय में सम्मान, प्रेम और स्नेह के भाव पैदा हुए। यही भाव उस मित्रता के आधारभूत हैं, जो लगातार बढ़ती ही जाती है और जिसे मैं अपने लिए बहुत मूल्यवान समझता हूँ।

भारतीय गोलमेज़ परिषद् के, और ख़ासकर परिषद् की दूसरी बैठक के दिनों में लन्दन में मैंने जो बहुत आनन्दप्रद समय बिताया था, उसे याद करके मुझे विशेष प्रसन्नता होती है। इस दूसरी बैठक में कांग्रेस ने भी भाग लिया था। महात्मा गांधी इसके एक मात्र प्रतिनिधि थे। इसमें कोई शक नहीं कि वह भारत से आये हुए प्रतिनिधियों में

सबसे अधिक प्रतिष्ठित और विशेष व्यक्ति थे। बैठक के दौरान में उन्होंने जो योग्यतापूर्ण भाषण दिये, उनसे हमें सचमुच बहुत स्फूर्ति मिली। इस परिषद् की दूसरी बैठक मेरे अपने लिए इस कारण और भी स्मरणीय हो गई कि महात्मा गांधी ने मेरी उस योजना का समर्थन (यद्यपि कुछ शर्तों के साथ) किया, जो मैंने फ़ैडरल स्ट्रक्चर कमेटी में फ़ैडरल कौंसिल (रईसी कौंसिल) के बनाने के बारे में रक्खी थी। मेरी योजना यह थी कि फ़ैडरेशन में शामिल होनेवाले सब प्रान्तों या रियासतों के प्रतिनिधियों की एक फ़ैडरल कौंसिल भी बनाई जाय। महात्माजी दूसरी रईसी कौंसिल के बनाने के सदा से विरोधी थे; लेकिन वह अपने रुख को इस शर्त्त पर बदलने और मेरी योजना का समर्थन करने को तैयार हो गये कि फैडरल कौंसिल का रूप एक सलाहकार संस्था का हो। दरअसल, जैसा कि मैं मैसूर-असेम्बली के एक भाषण में पहले भी स्वीकार कर चुका हूँ, "मैंने महात्मा गांधी को दूसरी गोलमेज़ परिषद् में अपने एक ज़ोरदार समर्थक के रूप में पाया, जबकि उन्होंने व्हाइट पेपर के सबसे अधिक आलोचनीय विधान पर की गई उस आलोचना का समर्थन किया, जो मैंने रईसी कौंसिल के विधान के बारे में की थी।" इसके बाद का घटनाक्रम इतिहास का विषय है। लेकिन मैं इस घटना को इसलिए याद दिलाता हूँ कि यह इस बात का बहुत अच्छा उदाहरण है कि महात्मा गांधी भारत का एक अच्छा विधान बनाने के प्रत्येक प्रयत्न में सहायता देने के लिए बहुत उत्सुक हैं।

मुझे अपने निजी संस्मरणों को छोड़कर भारतमाता के इस महान् पुत्र के जीवन तथा कार्य के महत्त्व की भी चर्चा करनी चाहिए। उनके जीवन तथा कार्य का महत्त्व केवल भारत के लिए ही नहीं, वरन् समस्त संसार के लिए भी है। यह अक्सर कहा जाता है कि किसी व्यक्ति के जीवन-काल में उसकी अमरता की भविष्यवाणी करना ख़तरनाक है, क्योंकि आनेवाली सन्तति आज के किसी व्यक्ति पर अपना निर्णय अपनी इच्छानुसार ही देगी। लेकिन महात्माजी के नाम के साथ अमरता की भविष्यवाणी करते हुए हमें कोई संकोच नहीं होता, क्योंकि उनकी अमरता की भविष्यवाणी को इतिहास कभी असत्य ठहरायगा, इसकी सम्भावना बहुत कम है। आज तो सभी एक स्वर से यह मानते हैं कि उनके जैसा महान् भारतीय पैदा ही नहीं हुआ। वह निस्सन्देह आज के भारतीयों में सबसे महान् और प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं। और, जैसा कि कुछ साल पहले मैंने एक सार्वजनिक भाषण में कहा था, यह कहा जा सकता है कि "वह भारत की आत्मा के सबसे सच्चे प्रतिनिधि हैं और किसी भी दूसरे से अधिक योग्यता के साथ भारत की भावनाओं को वाणी में प्रगट कर सकते हैं।" उन्होंने अपने देशवासियों के हृदयों को अपनी सार्वजनिक सहानुभूति और अपने ऊँचे आदर्शों के प्रति अटूट भक्ति के कारण जीत लिया है। सेवाभाव की ओर खिंचनेवाले सभी लोग उनकी इज्ज़त करते हैं। सचमुच संसार के असाधारण महान् व्यक्तियों में से वह एक हैं।

की सहज सच्ची भावना से उतनी ही प्रेरणा मिली है जितनी उनके सुधार के उत्साह और राजनैतिक अन्तर्दृष्टि से।

महात्मा गांधी को अपने आप में अगाध विश्वास है—ऐसा विश्वास, जो अध्यात्म शक्ति पर अगम्य श्रद्धा के साथ बढ़ा है और जो कभी-कभी तो ईश्वरी प्रेरणा की हद तक पहुँच जाता है। वह मस्तिष्क की अपेक्षा हृदय और बुद्धि की अपेक्षा आन्तरिक प्रेरणा से अधिक प्रभावित होते और करते है। बहुत दफ़ा जब विचित्र परिस्थितियों में वह अपने अनुयायियों को परेशान कर देनेवाली सलाह देते हैं या स्वयं सर्वसाधारण के लिए कोई दुर्बोध क़दम उठाते हैं, तब अपना और उनका समाधान "मेरी अन्तरात्मा की आवाज़" इन सीधे-सादे मगर अगम्य शब्दों से करते हैं। 'सादा जीवन और ऊँचे विचार' यह गांधीजी के जीवन का मूल आदर्श है। जिस सीमा तक उन्होंने अपने मनोभावों, अपनी क्रियाओं और अपने जीवन को नियंत्रित किया है, दूसरे आदमी उसे देखकर 'वाह वाह' करने लगते हैं और उसके साथ हम इस सीमातक नहीं पहुँच सकते, यह निराशा का भाव भी उनमें पदा हो जाता है। "गांधीजी अनुभव करते हैं कि अगर तुम अपने पर क़ाबू पालो, तो राजनैतिक क्षेत्र पर तुम्हारा अधिकार स्वयं हो जायगा।" वह अपनी दुर्बलताओं के कारण अपने साथ कोई रियायत नहीं करते। वह अपने स्वभाव और रुचि में बहुत सरल और तपस्वी हैं। सत्य और अहिंसा ये दो ध्रुवतारे हैं, जिनके सहारे उन्होंने सदा अपना मार्ग टटोला है और काँग्रेस तथा राष्ट्र के जहाज को भारतीय राजनीति के तूफ़ानी समुद्र में खेने की कोशिश की है।

मुझसे अगर कोई यह पूछे कि भारत की जनता के दिल व दिमाग़ पर गांधीजी के इतने प्रभाव का क्या रहस्य है, तो मैं उनकी राजनीतिज्ञतापूर्ण योग्यता का—भले ही यह भी गांधीजी में चरम सीमातक है—संकेत नहीं करूँगा और न उनकी उस महान् सफलता का निर्देश करूँगा, जिसे प्राप्त करने के लिए उन्होंने भारत की समस्याओं के हल के अपने तरीक़ों का इस्तेमाल किया है। भारतीय लोग स्वभावत: चरित्र के प्रति विशेष रूप से भावुक होते हैं और बौद्धिक नेतृत्व की अपेक्षा चारित्रिक नेतृत्व के प्रति वे अधिक आकृष्ट होते हैं। उद्देश्य की अत्यन्त गम्भीरता और हृदय की पवित्रता के साथ शानदार व्यक्तिगत चारित्र्य का सम्मिश्रण गांधीजी में एक ऐसी चीज़ है, जिसने न केवल उनके अपने राजनैतिक अनुयायियों, बल्कि काँग्रेस-संगठन से बाहर के उन लोगों का भी विश्वास और प्रेम जीत लिया है, जो न उनके सब विचारों से सहमत हैं और न उनके राजनैतिक सिद्धान्तों और तरीक़ों पर विश्वास करते हैं।

पाँच साल से कुछ ही ऊपर हुआ, मैंने मैसूर-असेम्बली में एक भाषण के सिलसिले में कहा था—"दूसरे सब लोगों से ऊँचा एक मनुष्य है, जो हमारी दिक्क़तों को सुलझाने और स्वशासन के आधारभूत नवीन चरित्र के निर्माण में हमारी सहायता कर सकता है। मैं उन लोगों में से नहीं हूँ, जो यह चाहते हैं कि महात्मा गांधी राजनीति से

रिटायर हो जावें। अब से पहले इतना बुरा समय कभी नहीं आया था, जबकि हमें सच्चे वास्तविक नेतृत्व की इतनी अधिक ज़रूरत पड़ी हो और गांधीजी में हम एक ऐसा नेता देखते हैं, जिसकी देश में असाधारण स्थिति है और जो न केवल सर्वमान्य शान्ति का इच्छुक तथा दृढ़ देश-भक्त है, वरन् अत्यन्त दूरदर्शी राजनेता भी है। मैं अनुभव करता हूँ कि देश में परस्पर संघर्ष करनेवाले विभिन्न दलों को एक-साथ मिलाने और उन सबको स्वराज्य के मार्ग पर ले जाने की योग्यता उनसे अधिक किसी दूसरे नेता में नहीं है। सिर्फ़ उन्हींमें ग्रेट ब्रिटेन और भारत में परस्पर अच्छे-से-अच्छे सम्बन्ध स्थापित करने का सामर्थ्य है। मुझे यह निश्चय है कि वह सरकार के एक शक्तिशाली मित्र और ग्रेट ब्रिटेन के सच्चे साथी हैं। यदि आज इस नाज़ुक हालत में वे राजनीति से अलग हो जायें, तो इस बात के लक्षण दीख रहे हैं कि बहुत सम्भवतः भारत के राजनैतिक क्षेत्र पर बातूनी और कल्पना-क्षेत्र में उड़नेवाले लोग क़ब्ज़ा कर लेंगे। उन्हें स्वयं कोई स्पष्ट मार्ग तो सूझता नहीं। निरर्थक चिह्नों व नारों का प्रयोग करते हुए वे देश को ग़लत रास्ते पर भटका देंगे।"

ऊपर लिखे ये शब्द जब मैंने कहे थे, उस समय से आजतक बहुत-सी घटनायें घट चुकी हैं। सभी प्रान्तों में व्यवस्थापिका सभाओं के प्रति ज़िम्मेदार मंत्रियों की सरकारें क़ायम हो चुकी हैं। भारतीय संघ की समस्या आज विचार के लिए हमारे सामने प्रमुखरूप में आ गई है। गांधीजी के अपने शब्दों में वह "कांग्रेस में नहीं रहे, मगर वह कांग्रेस के आज भी हैं।" लेकिन अबतक एक भी ऐसी बात नहीं हुई कि मुझे अपने उक्त वक्तव्य को वापस लेने या उसमें कुछ तब्दीली करने की ज़रूरत महसूस हो। देश में महात्मा गांधी के सिवा, जो आज भी देश में सबसे प्रभावशाली हैं—मैं कहूँगा उतने ही प्रभावशाली जितना पहले कोई नहीं हुआ—एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं, जिसपर हम नेतृत्व के लिए पूरी तरह निर्भर हो सकें। राजनीति में संयम, बुद्धि और व्यावहारिकता, इन सबका समन्वय करनेवाली एक ख़ास शक्ति महात्मा गांधी में है। आज जबतक हम आगे देख सकते हैं, उस समय तक भारत का गांधीजी के बिना गुज़ारा नहीं हो सकता।

यदि महात्मा गांधी भारत में हमारे लिए इतने अधिक उपयोगी और मूल्यवान् हैं, तो यह भी कुछ कम सही नहीं है कि उनके जीवन और कार्य बाहरी दुनिया के लिए भी, जो आज युद्धों व युद्ध की धमकियों के कारण इतनी अधिक व्याकुल हो उठी है, कम महत्त्व के नहीं हैं। उनके राजनीति-शास्त्र का मुख्य आधार शान्ति है, और राजनैतिक व्यवहार की फ़िलासफ़ी का आधार प्रेम, सत्य और अहिंसा की चरम सीमा है। उनकी ये दोनों चीज़ें—राजनैतिक टैकनिक और राजनैतिक व्यवहार की फ़िलासफ़ी—उन राष्ट्रों के लिए काफ़ी विचार-सामग्री दे सकती है, जिनके आपसी सम्बन्ध आजकल कूटनीति, घृणा और युद्ध द्वारा नियंत्रित होते हैं।

अन्त में मैं महात्मा गांधी को उनकी ७१ वीं जयन्ती पर हार्दिक बधाई देता हूँ और मंगलमय भगवान् से प्रार्थना करता हूँ कि वह स्वस्थ और प्रसन्न रहते हुए बरसों विशेषतः, भारत की तथा सामान्यतः तमाम दुनिया की सेवा करने में समर्थ हों।

## : २२ :

# अनासक्ति और नैतिक बल की प्रभुता

**सी. ई. एम. जोड, एम. ए., डी. लिट्.**

**[ बर्कबैक कालेज, लंदन यूनिवर्सिटी ]**

मानवजाति की सबसे बड़ी विशेषता क्या है ? कुछ लोग कहेंगे नैतिक गुण; कुछ कहेंगे ईश्वरभक्ति; कुछ साहस और आत्म-बलिदान को मानवप्राणी की विशेषता बतायेंगे। अरस्तू ने बुद्धि को मनुष्य की विशेषता बताया है। उसका कहना था कि इसी बुद्धि विशेषता के कारण हम पशुओं से पृथक् हैं। मेरा ख़याल है कि अरस्तू के उत्तर में सचाई का एक ही अंश है, पूर्ण नहीं। तर्क-बुद्धि तटस्थ और पदार्थपरक होती है।

अरुचिकर स्वरूप से बचने के लिए, भले लोग जो यथार्थ पर आवरण चढ़ा देते हैं, उन्हें भेदकर बुद्धि शुद्ध नग्न यथार्थ को देख लेगी, यह उसका गर्व है। एक शब्द में, बुद्धिवादी निडर होता है। वह वस्तुओं के यथार्थ रूप के ज्ञान से डरता नहीं है। वह हर पदार्थ को यथार्थ रूप में देखने का प्रयत्न करता है। उसे ज़बर्दस्ती अपने अनुकूल देखने की कोशिश नहीं करता। अपनी इच्छा को सर्वोपरि निर्णायक नहीं मानता और न अपनी आशाओं को ही वह झूठा जज मनाता है।

इसलिए बुद्धिमान् मनुष्य अनासक्त रहता है, अर्थात् उसकी बुद्धि जिस वस्तु का आलोचन करती है, उसमें आसक्त नहीं होती।

लेकिन क्या विद्वान् और बुद्धिमान मनुष्य स्वयं अपने से भी तटस्थ होता है ? मेरा ख़याल है कि नहीं। मैं ऐसे अनेक मनुष्यों को जानता हूँ, जिनकी बौद्धिक योग्यता बहुत ऊँचे दरजे की है; लेकिन जो जूते का तस्मा टूट जानेपर या गाड़ी चूक जाने पर आपे से बाहर हो जाते हैं। बड़े-बड़े गणितज्ञ और वैज्ञानिक अपनें मन की धीरोदात्तता के लिए कभी प्रसिद्ध नहीं होते और दार्शनिक, जिन्हें समबुद्धि होना चाहिए, बड़े तुनक-मिज़ाज होते हैं। दार्शनिक तो छोटी-छोटी बातों पर अपने उत्तेजित होनेवाले स्वभाव के लिए प्रसिद्ध ही हैं। इसलिए मेरा ख़याल है कि अरस्तू का कथन सत्य की ओर सिर्फ़ निर्देश करता है, पूर्ण सत्य को प्रकट नहीं करता। सचाई तो यह है कि मानव-जाति की विशेषता अपने आत्मा के विस्तार में, अपने मानसिक आवेशों, प्रलोभनों,

आशाओं व इच्छाओं में उस तटस्थ अनासक्त वृत्ति का प्रवेश करना है, जिसको कि तार्किक अपने बुद्धिग्राह्य प्रतिपाद्य विषय पर प्रयुक्त किया करता है। अपने प्रति अनासक्ति रखकर कुछ सत्यों के प्रति तीव्र भक्ति-भाव रख सकना और कुछ सिद्धान्तों के विषय में अनासक्त आग्रह रख पाना—यही मेरे मन से उस गुण को जाग्रत करना है, जो मानव की विशेषता है। वह है नैतिक शक्ति।

अपने आपसे भी अनासक्ति का यह गुण ही मेरे खयाल में गांधीजी की शक्ति और प्रभाव का मूल-स्रोत है। उनकी अनासक्ति का एक मोटा-सा चिन्ह है अपने शरीर पर उनका अपना नियन्त्रण। अनासक्त मनुष्य का शरीर उसके क़ाबू में रहता है, क्योंकि वह इसे अपनी आत्मा से पृथक् अनुभव करता है और आत्मा के काम के लिए बतौर एक औज़ार के इसका इस्तेमाल कर सकता है। इसलिए गांधीजी के लिए यह कोई असाधारण और अस्वाभाविक बात नहीं है कि वह बिना एक क्षण की सूचना के एकदम इच्छानुकूल समय तक गहरी नींद में सो जाते हैं या भोजन में बिना कोई परिवर्तन किये जान-बूझकर अपना वज़न घटा या बढ़ा लेते हैं।

अनासक्ति के उपर्युक्त गुण का दूसरा चिन्ह यह है कि वे साधनों को यथासम्भव अधिक-से-अधिक व्यावहारिक बनाते हुए उद्देश्य पर कट्टर निश्चय के साथ उनका सम्बन्ध क़ायम रखते हैं। अनासक्त मनुष्य मोही और हठी नहीं होता। वह कभी अपने मार्ग के मोह में इतना नहीं डूब जाता कि उसे छोड़ ही न सके, या उसकी जगह कोई दूसरा रास्ता पकड़ न सके। जबतक उसके सामने ध्येय स्पष्ट रहता है, वह हरेक ऐसे रास्ते से उसतक पहुँचने की कोशिश करेगा, जो घटनाओं या परिस्थितियों से बन गया हो। यही कारण है कि गांधीजी राजनीतिज्ञ और सन्त दोनों एक साथ हैं। इसे देखकर बहुत-से लोग परेशान हो जाते हैं। राजनीतिज्ञता और सन्तपन के अलावा संधि-चर्चा में निपुणता, बच्चों की सी सरलता, जो फिर पीछे अत्यन्त गहन राजनीति-पटुता के रूप में दीखती है, एकदम समझौते के लिए उद्यत हो जाना आदि उनकी स्वभावगत विशेषतायें हैं। वह अपने ध्येय के सम्बन्ध में तो दृढ़-निश्चयी हैं, लेकिन उस उद्देश्य तक पहुँचने के किसी मार्ग से उन्हें मोह नहीं है। इसी कारण हम देखते हैं कि राजनैतिक हथियार के तौर पर सविनय भंग के प्रेरक गांधीजी जब देखते हैं कि इससे सफलता की सम्भावना नहीं है तो उसे बंद करने में ज़रा भी नहीं हिचकिचाते। इसी तरह सन्त गांधीजी आत्मशुद्धि के लिए उपवास करते हैं, अपने उपवास को सौदे का सवाल बनाकर इस्तेमाल करने और जब उपवास का राजनैतिक उद्देश्य पूरा हो जाता है, फिर अन्न-ग्रहण करने के लिए सदा तैयार रहते हैं। नये शासन-विधान के कट्टर विरोधी गांधीजी आज उस विधान को, जिसकी उन्होंने इतनी सख़्त निन्दा की थी, अमल में लाने के लिए सिर्फ एक शर्त पर सहयोग देने को तैयार हैं, वह यह कि रियासतों के प्रतिनिधि भी प्रजा द्वारा निर्वाचित हों, न कि

राजाओं द्वारा नामजद जैसा कि विधान में लिखा है। और अन्त में हम देखते हैं कि जीवनभर अँग्रेज़ों के प्रतिपक्षी गांधीजी आज भारत में अँग्रेज़ों के सर्वोत्तम मित्र—ऐसे मित्र जिनका प्रभाव न केवल सविनयभंग को फिर शुरू नहीं होने देता, बल्कि आतंकवाद के मशहूर आन्दोलन पर भी नियंन्त्रण करता है—माने जाते हैं। क्या अंग्रेज़ बहुत अधिक देर हो जाने से पहले ही थोड़ी-सी रिआयतें, जो वह आज माँगते हैं, दे देंगे ? क्या अंग्रेज़ अपनी इच्छा और शोभा के साथ रिआयतें खुद दे सकेंगे ? या कि फिर उन रिआयतों को, जिनसे आज भारत सन्तुष्ट हो सकता है, देने से इन्कार करके देश का सख्त विरोधी होकर आयर्लैण्ड बन जाना पसन्द करेंगे ?

हम फिर अनासक्ति के तत्व पर आयें। अनासक्ति का एक बहुत प्रभावशाली अंग है, जिसे हम आसानी से पहचान सकते हैं, पर जिसकी व्याख्या करना बहुत कठिन है। यह शक्ति नैतिक बल है। और सब जीवधारी प्राणियों में मनुष्य ही उसका अधिकारी होता है।

भौतिक बल की न तो कोई समस्यायें हैं, न इससे कोई नये सवाल ही उठते हैं। यदि एक आदमी शारीरिक बल में आपसे ज्यादा ताकतवर है और आप उसकी इच्छा को ठुकराते हैं, तो वह प्रत्यक्षत: अपनी प्रबल शारीरिक शक्ति के द्वारा बाधित करके या अप्रत्यक्षत: दण्ड का भय दिखाकर आपसे निबट ही लेगा। प्रत्यक्ष पशुबल के प्रयोग का फल यह होता है कि आप उठाकर पटक दिये जाते हैं, और परोक्ष बल का फल यह है कि उस बल के परोक्ष दबाव के भय से आदमी इस जीवन से मुंह मोड़कर ईश्वर को प्रसन्न करना चाहता है ताकि अगले जन्म में इस सदा की मुसीबत से बच सके। शरीर-बल को, इस भांति, ऐसी शक्ति कहा जा सकता है जो अपनी मर्ज़ी के मुताबिक दूसरे को इस डर से काम कराने को लाचार करती है कि न करेंगे तो फल भुगतना होगा।

लेकिन नैतिक बल में ऐसे किसी दण्ड का भय नहीं है। यदि मैं नैतिक बल का मुकाबिला भी करता हूँ, तो उससे मुझे कोई नुक़सान नहीं होता। तब मैं नैतिक बल वाले की बात क्यों मानता हूँ ? यह कहना कठिन है। मैं उसके प्रभाव और शक्ति को स्वीकार कर लेता हूँ। उसका मुकाबिला करने के बावजूद भी मैं जानता हूँ कि वह सही रास्ते पर है और मैं ग़लत रास्ते पर हूँ। मैं यह सब बातें इसलिए मानता और जानता हूँ कि मैं स्वयं भी एक आत्मा हूँ। आत्मा हूँ, इससे उच्चतर आत्म-धर्म जहाँ देखता हूँ वहीं उसे पहचानता और स्वीकार करता हूँ। इस तरह नैतिक बल में दबाव नहीं, प्रभाव है। एक मनुष्य दूसरे मानव-प्राणी के मन और क्रिया पर एक विशेष प्रभाव पैदा करता है, दण्ड के भय या पुरस्कार के लालच से यह प्रभाव पैदा नहीं होता, बल्कि दूसरे व्यक्ति की वास्तविक उच्चता को अन्त:करण स्वयं स्वीकार कर लेता है और इस तरह नैतिक बलवाले का प्रभाव पैदा होता है।

यह नैतिक बल ही था, जिससे गांधीजी ने हज़ारों भारतीयों को जेलों में क़ैद हो जाने के लिए प्रेरित किया। यह नैतिक बल ही था कि गांधीजी ने हज़ारों को इस बात के लिए तैयार कर लिया कि उनपर चाहे कितना ही भीषण लाठी-प्रहार हो, वह आत्मरक्षा में एक अंगुली तक न उठावें।

नैतिक बल से प्रेरित सविनयभंग आज की पश्चिमी दुनिया के लिए बहुत महत्त्व की वस्तु है। आज तो राष्ट्र की सारी बचत ही नर-संहार के साधनों को जुटाने पर क्या खर्च नहीं हो रही है? क्या ये सब नर-संहार के साधन प्रजा की इच्छानुसार प्रयुक्त होते हैं? जब एक सरकार किसी दूसरे राज्य की प्रजा का संहार करना वांछनीय समझती हैं तब क्या वहांके लोग जीवित रहने की आशा कर सकते हैं? क्या युद्ध में पड़े हुए राष्ट्र के पास विरोधी राष्ट्र की प्रजा की अधिकाधिक संख्या में हत्या करने के सिवा अपने प्रयोजन की श्रेष्ठता सिद्ध करने का और कोई मार्ग नहीं है? ये कुछ सवाल हैं, जिनका जवाब पश्चिमी संसार को ज़रूर देना चाहिए। और जबतक अतीत काल में इन प्रश्नों के दिये गये उत्तर के सिवा कोई दूसरा उत्तर नहीं दिया जायगा, तबतक पश्चिम की सभ्यता विनष्ट होने से नहीं बच सकती।

गांधीजी को इस बात का बहुत अधिक श्रेय प्राप्त है कि उन्होंने इन सवालों का दूसरा उत्तर बताया है और उसपर आचरण करने का साहस भी दिखाया है। उन्होंने ठीक ही कहा है कि ईसामसीह और बुद्ध प्रयोगतः सही रास्ते पर थे। लड़ाई-झगड़े के लिए दो का होना ज़रूरी है और यदि आप दृढ़ता के साथ दूसरा बनने से इन्कार करदें, तो आपसे लड़ेगा कौन? तलवार के बल पर मुकाबिला करने से इन्कार कर दीजिए, उस समय न केवल आप अपने उद्देश्य को हिंसात्मक उपायों की अपेक्षा अधिक असानी व प्रभावशाली तरीक़े से पा सकेंगे, बल्कि आप हिंसा की निरर्थकता दिखला कर उसको पराजित भी कर देंगे। यह सिद्धान्ततः तो बहुत पुराना, जबसे कि मनुष्य सोचने लगा है तब का, तरीक़ा है। पर गांधीजी ने मानवी समस्याओं के निदान और समाधान के प्रयोग में जो उसे नया आविष्कार दिया है, इसके लिए सचमुच हमें उनका परम कृतज्ञ होना चाहिए। अपनी उच्चतम कल्पना को सत्य प्रदर्शित करने के मार्ग में जितने खतरे आ सकते थे, उन सबको उठाने के लिए गांधीजी ने हमेशा आग्रह दिखाया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह जिस उपाय का प्रतिपादन कर रहे हैं, उसका समय अभी नहीं आया और इसलिए इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि उनके विचार एकदम परेशान कर देनेवाले और आजकल के प्रचलित विचारों से एकदम विपरीत दीखते हैं। इसमें कोई शक नहीं कि गांधीजी के विचार आज के स्थापित स्वार्थों को ललकारते हैं, लोगों के दिलों में एक उथल-पुथल-सी मचा देते हैं, उनके नीति-चरित्र-सम्बन्धी विचारों को बदल देते हैं, तथा आज के शक्तिशाली स्थापित व्यक्तियों की सुरक्षा की जड़ें ढीली करते हैं। इसलिए अन्य सब मौलिक प्रतिभाशालियों की भाँति उन्हें भी

दुर्दांत, विधर्मी और पाखण्डी आदि गालियाँ दी जाती हैं। कला म किसी नये मार्ग पर चलने को हृद-से-हृद सनक या मूर्खता कहा जाता है। लेकिन राजनीति या चरित्र में नये मार्ग पर चलने को 'प्रचारकों की शरारत' कहकर बदनाम किया जाता है कि जिसको बरदाश्त कर लिया गया तो वह समाज की वर्तमान नींव को ही हिला डालेगी। और प्रचलित समाज-नीति में जो भी प्रगति या नव सुधार हो—और प्रगति का अर्थ ही है कि भिन्न मत या दिशा में जा सकना—उसे विचार और नीति-क्षेत्र के स्थापित स्वार्थों का मुकाबिला सहना ही पड़ेगा। क्योंकि वर्तमान विचारों को हटाकर ही उसमें क्रांति की जा सकती है। इसलिए जहाँ कला में नया मार्ग निकालनेवाले प्रतिभाशाली भूखों मरते हैं, वहाँ आचार-जगत में ये नवपंथी क़ानून के नाम पर जेल में डाले जाते हैं। इस दृष्टिकोण से यदि इतिहास के बड़े-बड़े क़ानूनी मुकदमों की परीक्षा की जाय, तो बहुत मज़ेदार बातें मालूम होंगी। सुकरात, जिओरडानो ब्रूनो और सर्विटस, सभी पर मुक़दमा चलाया गया और वे उस समय के अधिकारियों से भिन्न मत रखने के कारण दोषी ठहराये गये, कि जिन मतों के लिए आज संसार उनका आदर करता है। प्रतिभाशाली व्यक्ति का एक सर्वोत्तम लक्षण शैली के शब्दों में यह है कि वह वर्तमान में ही भविष्य का दर्शन कर लेता है और उसके विचार गुज़रे हुए ज़माने के फूल और फल के बीज-रूप होते हैं; जीव-विज्ञान की परिभाषा में कहें, तो एक प्रतिभाशाली मानसिक और आध्यात्मिक क्षेत्र पर विकास-धारा की एक 'लहर' (sport) जिसका उद्देश्य जीवन के भीतर के अव्यक्त को व्यक्त चेतनरूप देना होता है। इसलिए वह प्रतिभाशाली जीवन के लिए एक नई आवश्यकता का प्रतिनिधित्व करता है और विचार और नीति-सम्बन्धी वर्तमान धरातल को नष्ट कर उसकी जगह दूसरा नया ऊँचा धरातल तैयार कर देता है। इसके बाद सारे समाज के विचारों का धरातल भी शीघ्र प्रतिभाशाली के नये संदेश तक उठ चलता है। इतिहास से यह स्पष्ट है कि एक समय जिस विचार को नया एवं समय के प्रतिकूल कहकर नापसन्द किया गया, कुछ समय बाद वही जनता का प्रिय और प्रचलित विचार बन गया।

इन्हीं अर्थों में गांधीजी एक नैतिक-क्षेत्र की प्रतिभा हैं। उन्होंने झगड़ों के निबटारे के लिए एक नया मार्ग बताया है। यह मार्ग बल-प्रयोग के उपाय की जगह ले लेगा। इसे संभव ही नहीं मानना है, बल्कि जब मनुष्य संहार की कला में अधिकाधिक दक्ष और शक्तिशाली बनते जा रहे हैं, तब यदि मानव-सभ्यता की रक्षा करनी हो तो हमें देखना होगा कि वह जगह ले लेता ही है। गांधीजी का ही एकमात्र ऐसा मार्ग है, जिस पर, दूसरे सब मार्गों को छोड़कर चलना पड़ेगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आज गांधीजी का उपाय सफल नहीं हुआ। इसमें कोई शक नहीं कि जितने की उम्मीद उन्होंने रक्खी और दिलाई है वह सब कर नहीं सके हैं। लेकिन यदि मनुष्य जितना

कर सकते हैं, उससे अधिक की आशा न रक्खें और न दें, तो यह संसार और दरिद्रतर होता, क्योंकि प्राप्त सुधार अप्राप्त आदर्श का अंश ही तो है। गांधीजी श्रद्धावान् हैं, इसलिए लोगों को उनमें श्रद्धा है। और उनका प्रभुत्व, कोई सत्ता पास न होते हुए भी दुनिया में किसी भी जीवित पुरुष से अधिक है।

## : २३ :

# महात्मा गांधी और आत्मबल

**रूफस एम. जोन्स, डी. लिट्**

**[ हैवरफ़ोर्ड कालेज, हैवरफ़ोर्ड, पैन्सिलवेनिया ]**

जिस किसीको महात्मा गांधी और उनके साबरमती-आश्रम में भ्रातृ-भाव से रहनेवाले साथियों को देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, वह ज़रूर उनकी ७१वीं जयंती के उपलक्ष में निकलनेवाले अभिनन्दन-ग्रंथ में लेख लिखने के अवसर का स्वागत करेगा। मुझे भी उनके दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ है और मैं इस ग्रन्थ में लेख लिखने के अवसर का प्रसन्नता के साथ स्वागत करता हूँ। मेरे जीवन की विचार-दिशा और जीवन-क्रम पर उनका गहरा प्रभाव है। मैं सार्वजनिक रूप से इस अद्भुत पुरुष के प्रति अपने ऋणी होने की घोषणा करता हूँ। यह मेरा सौभाग्य है कि मैं भी उनके जीवनकाल में रहता हूँ।

मैंने सबसे पहले १९०५ में असीसी के सन्त फ्रांसिस का जीवन पढ़ा था और तभी से मैं उनके जीवन को एक ऊँचा आदर्श मानता हूँ। जिन लोगों को मैं जानता हूँ, गांधीजी उनमें फ्रांसिस से ही सबसे अधिक मिलते हुए मालूम पड़ते हैं। १९२६ में जब मैं गांधीजी से मिला, मुझे यह जानकर आश्चर्य हुआ कि गांधीजी असीसी के उस "दीन-हीन आदमी" के बारे में बहुत कम जानते हैं। मैं उनके पास बैठ गया और 'दी लिटिल फ्लावर्स आव सेंट फ्रांसिस' से उन्हें कई कहानियाँ सुनाईं। सबसे पहले मैंने उन्हें 'परमानन्द' वाली सबसे सुन्दर कहानी सुनाई। फिर मैंने उन्हें वह कहानी भी सुनाई जिसमें बताया है कि किस तरह बन्धु गाइल्स और फ्रांस के राजा संत लुई गले मिले एक-दूसरे को चुंबन किया, अनन्तर काफ़ी देर दोनों चुप, प्रणाम की अवस्था में धरती पर झुके बैठे रहे और फिर बिना एक शब्द बोले दोनों अलग हुए। कुछ भी कहना दोनों को अनावश्यक प्रतीत हुआ। जैसा कि बन्धु गाइल्स ने पीछे लिखा— "हम एक दूसरे के हृदयों को सीधे जैसे पढ़ सके, मुँह से बोलकर वैसा नहीं कर सकते थे।" बिना शब्दों के हृदयों को समझने का जो अनुभव गाइल्स को हुआ था, वैसा ही अनुभव मुझे भी तब हुआ, जब मैं आधुनिक काल के संत के साथ ज़मीन पर बैठा

हुआ था। यह ठीक है कि इस संत के पास वैसी शाही पोशाक नहीं थी, जैसी कि नौवाँ लुई प्राय: पहनता था।

मुझे यह भी मालूम हुआ कि गांधीजी जॉन वुलमैन के बारे में भी, जिससे वह बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं, बहुत कम जानते हैं। जॉन वुलमैन १८वीं सदी के क्वेकरों में अत्यन्त असाधारण और महान् सन्त हो गये हैं। आत्मबल की वह जीती-जागती प्रतिमा थे। वुलमैन ने एक दिन सुना कि सुसकिहाना के रैड इण्डियन पश्चिम की बस्तियों में बसनेवालों से लड़ रहे हैं और उन्हें मार रहे हैं। उनके हृदय में इन इण्डियनों को देखने के लिए 'विशुद्ध प्रेम की धारा' बहने लगी। उसकी इच्छा हुई कि "वह उनके जीवन और मनोभावों को समझने की कोशिश करें और यदि संभव हो तो उनके साथ रहें।" वह लिखते हैं कि "मैं उनसे, संभव है, कुछ शिक्षा ले सकूँ या उन्हें सत्य की शिक्षा देकर उनकी थोड़ी-बहुत सहायता कर सकूँ।"

उन्होंने देखा कि रैड इण्डियन लड़ाई की पोशाक पहने हुए हैं और मार्च कर रहे हैं। वह उनकी एक सभा में गये, जहाँ वे गम्भीर और शान्त बैठे थे। तब वुलमैन ने शान्त और मीठी वाणी में उन्हें अपने आने का प्रयोजन बताया। इसके बाद उन्होंने फिर ईश्वर की स्तुति-वन्दना की। जब सभा ख़त्म होगई, तब एक रैड इण्डियन अपनी बोली में बोल पड़ा कि, "जहाँ से ये शब्द आते हैं उसे अनुभव करना मुझे अच्छा लगता है।" उसकी भाषा पराई थी, पर वह मन को मन से समझ गया था। गांधीजी की कार्य-पद्धति भी ठीक इसी तरह की है। उनकी उपस्थिति ही लोगों के हृदय को उनकी वाणी या लेखों की अपेक्षा अधिक स्पर्श करती हैं, क्योंकि "लोग उनके हृदय की गहराई को, जिससे वह बोलते हैं, अनुभव करते हैं।"

हम प्राय: उनके जीवन सिद्धान्त—सत्याग्रह—की अहिंसा के रूप में चर्चा करते हैं। लेकिन यह तो उसकी निर्गुण व्याख्या है जबकि उनके जीवन-सिद्धान्त की व्याख्या सगुण है और गौरवपूर्ण है। गांधीजी ने कहा कि "मैं क्वेकर माइकेल कोट्स का बहुत ऋणी हूँ। जब मैं दक्षिण अफ्रीका में रहता था, वह मेरे घनिष्ट मित्र थे। उन्हींने मुझे ईसा के 'गिरि-प्रवचन' से परिचित कराया। उन्होंने ईसा की शिक्षा, उनके जीवनक्रम और प्रेम के सन्देश आदि के प्रति मेरी सहानुभूति और श्रद्धा पैदा की। इस शिक्षा से मेरी अन्तर्दृष्टि और भी गहरी होगई और अदृश्य शक्ति में मेरी आस्था और भी बढ़ गई। अनेक महान् आत्माओं ने मेरे जीवन और विचार-दिशा को बनाने में बहुत भाग लिया है। टाल्स्टाय, रस्किन, थॉरो और एडवर्ड कारपैण्टर मेरे ऐसे अभिन्न मार्गदर्शक हैं, जिनसे मैंने बहुत-कुछ सीखा है।

"सत्याग्रह" से गांधीजी का मतलब उस शक्ति के प्रकाश से है जो डाईनेमों से फूटकर काम करनेवाली चमत्कारी स्थूल शक्ति से किसी क़दर कम नहीं है। डाईनेमो कोई नई शक्ति पैदा नहीं करता। यह शक्ति को अपनें द्वारा छोड़ता है, यही कुछ उस

व्यक्ति के विषय में है जो उस 'आत्म शक्ति' को मुक्त करता है, जो उसके सीमित क्षुद्र व्यक्तित्व की नहीं, बल्कि गहन गम्भीर जीवन स्रोत का अंग है। व्यक्ति की आत्मा अपने गूढ़ान्तर में चित् और शक्ति के अगाध सागर के प्रति मानों खुल जाती है। वहाँ तो प्रेम और सत्य और ज्ञान का अबाध प्रवाह है। योगयुक्त होने पर वह प्रवाह व्यक्ति के माध्यम से फूट निकलता है। उपनिषदों में पुरुष के असीम रूपों का कथन आता है। प्रत्येक आत्मा में परमात्मा की सत्ता बतलाई है।

जो व्यक्ति यह जान लेता है कि इन सूक्ष्म और गहरी जीवन-शक्तियों को किस तरह जाग्रत किया जाय, वह न केवल शान्ति और निर्मलता का अधिकारी होता है, बल्कि साथ-ही-साथ वीरतापूर्ण प्रेम, साहस और उत्पादनशील क्रिया-शक्ति का भी केन्द्र बन जाता है। गांधीजी आत्मबल का जो अर्थ समझते हैं, वह भी कुछ इसी तरह का है। उनका जीवन आत्मबल का अनुपम प्रदर्शन है। यह वीरतापूर्ण शान्ति या निष्क्रियता ही नहीं है, उससे बहुत अधिक है।

एक दफ़ा मैंने उनसे पूछा कि कठिन संसार की सब कठिनाइयों और निराशाओं के बावजूद भी क्या आप 'आत्म-बल' में विश्वास करते हैं? उन्होंने कहा—"हाँ, प्रेम और सत्य की विजय करनेवाली शक्ति में मैं सदा अपने अन्तरतम से विश्वास करता हूँ। संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो इस शक्ति पर से मेरा विश्वास विचलित कर दे।" जब ये शब्द उनके मुँह से निकल रहे थे, उनकी अँगुलियाँ अपनी निकली हुई हड्डियों और पसलियों पर घूम रही थीं। दरअसल वह अपने छोटे-से पतले और कमज़ोर शरीर की शक्तियों की बात नहीं सोच रहे थे। वह तो प्रेम और सत्य के अनगिनती स्रोतों के भण्डार सूक्ष्म आत्मशरीर की शक्तियों का चिन्तन कर रहे थे।

वीरतापूर्ण प्रेम का यह सन्देश और हिंसा से बहुत ऊँचा यह जीवनक्रम कुछ ऐसे लोगों में भी था, जिन्हें गांधीजी नहीं जानते, लेकिन वे भी क्षमा और नम्रता के इसी पथ के पथिक थे। मैं इनका संक्षिप्त परिचय देकर वीरतापूर्ण और इस जीवन-क्रम के कुछ और उदाहरण देना चाहता हूँ। सबसे पहले मैं १७ वीं सदी के क्वेकर जेम्स नेलर का नाम लूँगा। इनपर नास्तिकता का अपराध लगाकर इन्हें क्रूरतापूर्वक दण्ड दिया गया था। लोहे की एक गरम लाल सलाख से उनकी जीभ छेदी गई थी। उन्हें दण्ड देने के निमित्त बने सख्त लकड़ी के सांचे में दो घंटे तक रक्खा गया। छकड़े के पीछे बाँधकर, पीठ पर जल्लाद के हाथों चाबुक की मार सहते उन्हें लंदन की गलियों में घसीटा गया था। उसके माथे पर दाग से दाग दिया गया था। यह भी हुक्म उन्हें हुआ था कि वह ब्रिस्टल में घोड़े की पीठ पर उलटा मुँह करके सवार हों, सरेबाज़ार उन्हें चाबुक लगाये जायँ और फिर ब्राइडवैल के जेल के एक तहखाने में क़ैद कर दिया जाय, जहाँ उन्हें क़लम-दवात कुछ भी न दी जायँ। अंत में बहुत समय बाद पार्लमेण्ट ने एक क़ानून बनाकर उन्हें छोड़ा।

इस मनुष्य ने मनुष्य की अमानुषिकता का शिकार होकर अपने साथ अन्याय करनेवाले संसार को यह शिक्षा दी, "मुझ में एक ऐसी आत्मा है, जो कोई बुराई न करके, किसी अन्याय का बदला न लेकर आनंदित होती है। वह तो सबकुछ सहन करने में ही प्रसन्न होती है। उसे यह आशा है कि अन्त में सब भला ही होगा। वह क्रोध. सब झगड़ों, निर्दयताओं और अपनी प्रकृति से विरुद्ध सब दुर्गुणों पर विजय पालेगी। यह आत्मा संसार के सब प्रलोभनों को पार कर दूर की चीज़ देखती है। इसमें स्वयं कोई बुराई नहीं है, इसलिए यह और भी किसीकी बुराई नहीं सोच सकती। यदि कोई इसके साथ धोखा-धड़ी करे, तो यह सहन कर लेती है, क्योंकि परमात्मा की दया और क्षमा इसका आधार और मूलस्रोत है। इसका चरम विकास नम्रता है, इसका जीवन स्थायी और अकृत्रिम प्रेम है। यह अपना राज्य लड़-झगड़कर लेने की अपेक्षा अनुनय-विनय से बढ़ाती है और उसकी रक्षा भी हृदय की विनम्रता से करती है। इसे केवल परमात्मा के सान्निध्य में ही आनन्द आता है। यह निर्विकार और निर्लेप है। दु:ख में इसका बीजारोपण होता है और जन्मने पर यह किसीसे दया की अपेक्षा नहीं रखती। कष्ट या सांसारिक विपत्ति में यह कभी विचलित नहीं होती। यह विपता में ही आनन्द मनाती, और सांसारिक सुखसंभोग में अपनी मृत्यु मानती है। मैंने इसे उपेक्षित एकाकी अवस्था में पाया। झोंपड़ों और उजाड़ स्थानों पर रहनेवाले ऐसे दरिद्र लोगों से मेरी मित्रता है जो मृत्यु पाकर ही पुनर्जन्म और अनन्त पवित्र जीवन पाते हैं।"[१] आत्मबल का यह एक सुन्दर उदाहरण है।

विलियम लॉ १८वीं सदी के प्रमुख रहस्यवादी अंग्रेज़ थे। उन्होंने नेलर जितने कष्ट तो नहीं सहे, लेकिन फिर भी उन्हें काफ़ी कष्टों की चक्की में पिसना पड़ा। उन्होंने भी बहुत सुन्दर और सतत स्मरणीय शब्दों में आत्मबल का यही संदेश दिया है। उनकी एक व्याख्या निम्नलिखित है :

"प्रेम अपने पुरस्कार की अपेक्षा नहीं रखता, और न सम्मान या इज्जत की इच्छा करता है। उसकी तो केवल एक ही इच्छा रहती है कि वह उत्पन्न होकर अपने इच्छुक प्रत्येक प्राणी का हितसम्पादन करे। इसलिए यह क्रोध, घृणा, बुराई, आदि प्रत्येक विरोधी दुर्गुण से उसी उद्देश्य से मिलता है, जिससे कि प्रकाश अन्धकार से मिलता है। दोनों का उद्देश्य उसपर आशीर्वाद की वृष्टि करके उसपर काबू पाना है। यदि आप किसी व्यक्ति के क्रोध या दुर्भावना से बचना चाहते हैं या किन्हीं लोगों का प्रेम प्राप्त करना चाहते हैं, तो आपका उद्देश्य कभी पूर्ण नहीं होगा। लेकिन अगर आपके अन्दर सर्वभूतहित के सिवा और कोई कामना ह ही नहीं, तो आपको जिस किसी स्थिति में भी गुज़रना पड़े, वही स्थिति आपके लिए निश्चित रूप से सहायक

१. **'लिटिल बुक ऑव सलेक्शन्स फ्रॉम दी चिल्ड्रन ऑव दी लाइट'—लेखक रुफ़स एम. जोन्स, पृष्ठ ४८–४९**

सिद्ध होगी। चाहे शत्रु का क्रोध हो, मित्र का विश्वासघात हो या कोई और बुराई हो, सभी प्रेम की भावना को और भी विजयी होकर अपना जीवन बिताने तथा उसके उदात्त आशीर्वादों को पाने में सहायक सिद्ध होते हैं। आप पूर्णता या प्रसन्नता, जिस किसी का भी विचार करें, वह सब प्रेम की भावना के अन्तर्गत आ जाते हैं और आना भी चाहिए, क्योंकि पूर्ण और आनन्दमय परमात्मा प्रेम और भूतहित की अपरिवर्तनीय इच्छा के सिवा और कुछ नहीं। इसलिए यदि सर्वभूतहित की इच्छा के सिवा किसी और इच्छा से कोई काम करता है, तो वह कभी प्रसन्न और सुखी नहीं हो सकता। यही प्रेम की भावना का आधार, प्रकृति और पूर्णता है।"[१]

: २४ :

# गांधी का महत्व

## शांति-प्रतिज्ञ एक ईसाई की मनोनुभूति

**स्टीफेन हॉबहाउस, एम्. ए.**

[ ब्रॉक्सबोर्न, हर्ट्स, इंग्लैण्ड ]

हमारा धर्म अथवा दर्शन कितना भी वहिर्लक्षी प्रतीत हो, किन्तु हममें से जिस किसीमें भी विचार और आकांक्षा की क्षमता है, उसे एक अपनी ही दुनिया का निर्माण उन वस्तुओं में से करना पड़ा है जो कि उसके चारों ओर की गूढ़ और अज्ञात परिस्थिति द्वारा उसे उपलब्ध हुई है। हमारे इस चैतन्य-ब्रह्माण्ड में कुछ ऐसी वस्तुयें हैं—शक्ति, गुण, आदर्श अथवा व्यक्ति कहकर उन्हें पुकारते हैं—जो एक अद्‌भुत और प्रभावकारी आकर्षण द्वारा हमारे स्वभाव, हमारे हृदय और हमारी बुद्धि के केन्द्रीय तन्तुओं में हलचल कर देती हैं। और तब अपनी स्वस्थतर घड़ियों में एक निरन्तर चाहना हममें जग आती है, कि उन्हें हम जानें, उन्हें प्रेम करें, उनसे अधिकाधिक रूप में तादात्म्य करलें। और हम बराबर इस कोशिश में होते हैं कि जो कुछ भी तुच्छ, अनावश्यक, असुन्दर और अपवित्र दीखता है, उससे मुक्ति पा लें।

वे लोग, जिनका अन्तःकरण भिन्न है, इस केन्द्रीय आकर्षण को बहुत कुछ मानव-कला की कृतियों में या वैज्ञानिक प्रक्रिया की सूक्ष्म संगतियों में पायँगे। मैं उन अनेकों में से एक हूँ, जिन्हें उनका दर्शन व्यक्तित्व की अनिर्वचनीय विस्मयकारिता और सौन्दर्य में होता है, कि जिनकी कल्पना उनकी जीवनगत संपूर्णता में उन श्रेष्ठ और सुन्दरतम नर-नारियों द्वारा होती है जो कि देह-रूप में अथवा पुस्तकों में हमारी दृष्टि की राह

**१. "सलैक्टिव मिस्टिकल टाइटिल्स ऑव विलियम लॉ"—स्टीफेन हॉबहाउस द्वारा सम्पादित, पृष्ठ १४०–१४१**

से गुज़रते हैं और या उसी व्यक्ति-रूप विस्मय और सौन्दर्य की एक अकथनीय भावना द्वारा, जो कि हममें आकाश, धरती और चेतन जगत् में प्रत्यक्ष प्रकृति से उस समय भर उठती है जबकि उस प्रकृति की ओर हमारी मनोभावनाओं में एक शांतिप्रद अन्तरैक्य होता है। और अपने उच्चतम अनुभव के इन दो केन्द्रों से मैं अनिवार्यतः उस आस्था में खिंच आता हूँ, जिसे हम परमात्मा कहते हैं, यानी एक उस अनन्त इन्द्रियातीत और फिर भी एकदम इन्द्रियान्तर्गत और सर्वोच्च कल्याणकारी सत् की परीक्षा और खोज के प्रयोग में, जो कि जीवन और सौन्दर्य के उन समस्त पृथक् जीवन-केन्द्रों का एक साथ आदि और अन्त है जो कि मेरे भीतर और मेरे चारों ओर मुक्ति और अभिव्यक्ति की चेष्टा में रत हैं।

साथ ही, दुःख है कि विकृति और विभेद के वे तमोमय और नाशकारी तत्त्व भी मुझे उतने ही अवगत रहते हैं जो कि अपनी दुष्क्रिया से स्वस्थ जीवन के विकास में बाधक बना करते हैं। कुछेक हदतक ये विकारी शक्तियाँ बाह्य प्रकृति में मौजूद रहती मालूम होती हैं; किन्तु जिस हदतक भी मानव की साहसी आत्मा प्रकृति की विपरीतता पर क़ाबू पाने और उसे व्यर्थ करने में आश्चर्यकारी क्षमता से युक्त हैं, वे (विकारी शक्तियाँ) आज मनुष्यों के हृदयों में, और खासतौर से मेरे हृदय में, कहीं अधिक खतरनाक हैं। बिना सहारे मैं भी अत्यधिक बार आस्था खो बैठता हूँ और इन दुष्प्रवृत्तियों की आसुरी शक्ति के आगे निस्सहाय होते-होते बचता हूँ। और तब सहायता और रक्षा के लिए किसी दूसरे व्यक्तित्व से, वह मानवी हो अथवा दैवी, आत्मा का निकटतर संग पाने को प्रवृत्त होना पड़ता है।

विधि का आदेश है कि मैं उस सम्प्रदाय में पैदा हुआ और पला हूँ जहाँ भूत और वर्त्तमान दोनों ने मिलकर ईसामसीह की ऐतिहासिक मूर्त्ति को मुझे उस अगाध चित्-सत्ता के सर्वोच्च अवतार-रूप में साक्षात् कराया, जो कि शिव और सुन्दर मात्र के हृदय में विराजती दीखती है। चिंतन ने, प्रार्थना ने, और एक और भी शक्तिमयी उस परम्परा के प्रभावों ने, जो कि पुरातन की विवेकशीलता से पवित्र हुई और अब, जैसा कि पहले शायद कभी भी नहीं, विपरीत जमा हुई मलिनताओं से विशुद्ध हुई है, मुझे विश्वस्त कर दिया है कि यह इतिहास-गण्य व्यक्ति विश्व और विश्वपति के हृदय में वह स्थान ग्रहण किये हुए है जो कि अन्य किसी भी मानव-मूर्त्ति या दैवी अवतार की पहुँच के बाहर है। उसी आत्मा का अन्य मानव-प्राणियों में भी कुछ कम किन्तु फिर भी गौरवमय-गरिमासहित अधिवास है। अनेक उनमें वे हैं, जिनकी स्मृति का पीछे अब कोई भी उल्लेख नहीं रह गया है और कुछ उनमें ऐसी आत्मायें हैं कि जिनकी यादगार को अपने जाति-इतिहास के उज्ज्वल और जगमगाते रत्नों के रूप में सुरक्षित रक्खा गया है। उनके आभामण्डल पर एक थोड़े-से काले चिन्ह असल में मिल जायँ, लेकिन इनसे उसकी कल्याणमयता नहीं ही के बराबर धुंधली हो पाती है। मैं इन सब

को शाश्वत ईसा के दूतों या पैग़म्बरों के रूप में देखता हूँ। भले ही उनमें से कुछ ईसा को प्रभु और परमात्मा स्वीकार नहीं कर पाये या करने को उद्यत नहीं हुए।

इन महान् युग-पथ-प्रदर्शकों में एक सबसे बड़े, प्रतीत होता है, मोहनदास करमचन्द गांधी हैं, और वह अहिंसा-सत्याग्रह का पैग़ाम लेकर जगत में जनमे हैं। निश्चय ही, अपने इस युग के तो वह सबसे बड़े व्यक्ति हैं। प्राचीन मतों और नीति की मान्यताओं के ह्रास ने, मशीन द्वारा हुए अत्याचार ने और उद्भ्रान्त व्यवसायवादियों और सेनावादियों द्वारा हुए वैज्ञानिक ज्ञान के दुरुपयोग ने अनेक नई और सुन्दर सचाइयों की हाल में होनेवाली उपलब्धि के बावजूद भी, एक ऐसा संकट ला खड़ा किया है कि जैसा दुनिया में दूसरा नहीं मिलता। यहाँ तक कि ऐसा आभास होने लगा है कि सभ्यता, अधिक स्पष्ट शब्दों में ही कहो तो व्यवस्थापूर्वक भलमनसाहत के साथ रहनेवाला शिक्षित समाज, जैसाकि कुछ भाग्यशाली व्यक्तियों ने उसे समझा है, अब शायद पहले कभी की भी अपेक्षा अधिक पूरे तौर से उस विश्व-व्यापी अराजकता और विनाशकारी युद्ध में नष्ट-भ्रष्ट हो जाये, जिसे कि स्वार्थ-साधन में नग्न मानव की स्वेच्छाचारी वासनाओं ने जन्म दिया है।

मैंने इस लेख में यह समझाने की कोशिश की है कि गांधी के महान् और अत्यन्त सम्बद्ध अहिंसा और सत्याग्रह के आदर्श ही केवल वह उपाय जान पड़ते हैं जिससे हमारी छिन्न-विच्छिन्न और रुग्ण अवस्था को मुक्ति तथा स्वस्थ और सच्चा जीवन प्राप्त हो सकता है। और ऐसा करते समय, साथ-ही-साथ मुझे यूरोपीय विचार-शृंखला के गत इतिहास में आये इन आदर्शों के उल्लेखों पर भी नज़र डालते जाना है, क्योंकि अधिकांशतः आँखों से ओझल और प्रायः ईसाई संस्कृति के नेताओं द्वारा तिरस्कृत और उपेक्षित रहकर भी वे अभी क़ायम हैं। (भारत और चीन में अहिंसा का जो इतिहास रहा, उसके बारे में लिखने का मैं अधिकारी नहीं हूँ।)

उस यूरोप के मध्य में जो आज ध्वंस और विनाश के लिए तलवारों से भी कहीं अधिक भयंकर असंख्य साधन जुटाने में तेज़ी के साथ संलग्न है, जर्मन प्रदेश सिलीसिया है और वहाँ गौरलिज़ नामक एक प्राचीन नगर है, जो अब आधुनिक साज-सज्जा से सज्जित है। यहाँ एक प्रमुख सड़क पर जहाँ कि मोटरों की घूँ-घूँ से वायु गूँजा करती है, एक महान् किन्तु अल्पख्याति ईसाई जेकब बोहमे के सम्मान में एक प्रस्तर मूर्ति कोई पन्द्रह वर्ष हुए स्थापित की गई थी। इस मूर्ति के निचले भाग में स्वयं उस ईसाई सत्पुरुष के आस्था और चेतावनीभरे शब्द खुदे हुए हैं—"प्रेम और विनय ही हमारी तलवार है"; "जिसके द्वारा ईसा के काँटों के ताज की छाया में हम लड़ सकते हैं।" इन शब्दों से उस उद्धरण की पूर्ति हो जाती है जिसे कि उस वृद्ध छायावादी संत ने वहाँ अंकित किया है। और बोहमे वह संत थे जिन्होंने ईश्वर-सत्ता के प्रति अपनी आस्था के अर्थ अनेक विपदायें सहीं। इस आस्था ही के द्वारा मानव का उद्धार हो सकता है,

यह घोषणा करने के अपराध में वह घर से निकाल दिये गये थे। यूरोपीय इतिहास, निश्चय ही अन्य ऐसे अनेक विनयी, प्रेमी और निर्भीक नर-नारियों की कथाओं से भरा है जिन्होंने कि उसी, यानी अहिंसा के, सन्देश को अपने जीवन में निभाया है और देश की सामाजिक और राष्ट्रीय प्रवृत्तियों में अधिकाँश को अहिंसा के विपरीत जाते देखा है। लेकिन वास्तव में बहुत ही कम उस बल, साहस और प्रेरणा का संचय कर पाये जिससे मौजूदा व्यवस्था के निर्वाण और समाज के पुनर्निर्माण के लिए वे अपने देश-वासियों को विश्व-प्रेम का उपदेश प्रभु-सन्देश के रूप में खोलकर सुना सकते। अबतक परलोक-वाद के अतिरंजन की परम्परा होने के कारण, ऐसे आत्म-ज्ञानी व्यक्ति लगभग हमेशा यह समझकर खामोश हो जाते रहे कि दुनिया और दुनिया की व्यवस्था का विनाश तो विधिद्वारा ही निश्चित है, और इसलिए वे दोनों सुधार के बस की बातें नहीं हैं।

आखिर अब, जब कि यूरोप, जिसका कुछ भाग फिर भी ईसाई होने का दावा कर रहा है, अन्य समस्त 'सभ्य' जातियों के साथ एकसाथ एक आत्मघातक युद्ध की ओर भी जी-जान से बढ़ रहा है, साम्प्रदायिक और धार्मिक झगड़ों से बुरी तरह छिन्न-विच्छिन्न भारत में एक छोटे-से पतले-दुबले हिन्दू का उदय हुआ है। वह पहले वकील भी रह चुका है। अब वह हज़ारों स्त्री-पुरुषों को सत्य और न्याय के नाम पर एक बिलकुल नये क़िस्म की लड़ाई के लिए भर्ती होने को प्रेरित कर सकता है। यह एक ऐसी लड़ाई है, जिसके सैनिक विनाशकारी यंत्रों के गन्दे स्पर्श से एकदम अलग बचे रहने की कोशिश करते हैं। यह एक लड़ाई है जिसके लड़ने के लिए हैं निर्दोष अस्त्र आत्म-शक्ति और अहिंसा, निर्दय शत्रुओं के भी साथ दिखाई गई सद्वृत्ति, और ईश्वर के समक्ष निष्ठापूर्ण विनय। हाँ, मैं कहूँगा, यह लड़ाई है, जो खुशी-खुशी ईसा का काँटों का ताज और उसकी सूली का दर्द अपनाकर इस दृढ़ आस्था से लड़ी जाती है कि यह वह सूली और काँटों का ताज है जिससे पीड़ित और पीड़ा देनेवाला दोनों सुधरकर ईश्वर तक पहुँच सकेंगे। भारतीय पाठक मुझे क्षमा करेंगे कि मैं स्वभाववश ईसाईधर्म की भाषा पर उतर आता हूँ। लेकिन मैं हिन्दू-धर्म की हृदय से प्रशंसा करता हूँ कि जिसने अहिंसा के पैग़म्बर को जन्म दिया है।

जहाँ आज इस दुनिया में चारों ओर भय और अन्धकार छाया हुआ है, वह एक स्वप्न है, इतना सुन्दर कि विश्वास नहीं होता कि वह सच हो आया होगा। पर यदि विश्वसनीय साक्षियों की बातों पर विश्वास करें, और विश्वास कर सकते हैं तो आश्वासन की सूचना है कि एक जीवन और स्फूर्ति देनेवाले जन-आन्दोलन के प्रथम प्रयोग आरम्भ हो गये हैं। अबतक उसमें असफलतायें और भूल-चूक ( नेता और उसके अनुयायियों द्वारा ) हुई हैं, यह जुदा बात है। पिछले कुछ महीनों में महात्मा ( आम-तौर से इसी पद से भारत में उन्हें विभूषित किया जाता है और वह स्वयं इसे ग्रहण

करने से इन्कार करते हैं) ने स्वयं एक बार फिर पिछली असफलता और निराशा की अनुभूति को निःसंकोच स्वीकार किया है, लेकिन फिर भी भविष्य में अपना अडिग विश्वास प्रगट किया है। "ईश्वर ने मुझे", वह लिखते हैं, "इस कार्य के लिए चुना है कि मैं भारत को उसकी अपनी अनेक विकृतियों से निवृत्ति पाने के लिए अहिंसा का अस्त्र भेंट करूँ।...अहिंसा में मेरी निष्ठा अब भी उतनी ही दृढ़ है जितनी कभी थी। मुझे पक्का विश्वास है कि इससे न सिर्फ़ हमारे अपने देश ही की सब समस्यायें हल होंगी, बल्कि इससे, यदि उपयोग ठीक हुआ, तो वह रक्तपात भी रुक जायगा जो कि भारत के बाहर हो रहा है और पाश्चात्य जगत को उलट देना ही चाहता है।"

ज़रा ख़याल तो कीजिए एक उस लोकव्यापी और देश-भक्ति से ओतप्रोत आन्दोलन का उन लोगों में, जो कि आक्रांता विदेशी लोगों के शासनाधीन हैं और जहाँ मालूम होता है सहस्रों ने आनन्द-मग्न और विश्वस्त भाव से नीचे लिखे वचनों को अपने कर्म का आधार-सूत्र स्वीकार किया है। ये वचन उनके उस महान् नेता की लेखनी अथवा मुख से निकले लिये गये हैं।[१]

"अहिंसा का अर्थ अधिक-से-अधिक प्रेम है। अहिंसा ही परमधर्म है; केवल उसीके बलपर मानव-जाति की रक्षा हो सकती है।"

"वह जो अहिंसा में विश्वास रखता है, जीवन-रूप परमात्मा में विश्वास करता है।"

"अहिंसा शब्दों द्वारा नहीं सिखाई जा सकती। हृदय से प्रार्थना करने पर ही वह प्रभु की कृपा से अन्तःकरण में जगती है।"

"अहिंसा, जो सबसे वीर हैं और बलिष्ठ हैं, उनका शस्त्र है। ईश्वर के सच्चे जन में तलवार चलाने की शक्ति होती है, लेकिन वह चलायेगा नहीं, क्योंकि वह जानता है कि हरेक आदमी ईश्वर का प्रतिरूप है।"

"यदि रक्त बहाया जाय, तो वह हमारा रक्त हो। बिना मारे चुपचाप मरने का साहस जुटाना है।"

"प्रेम दूसरों को नहीं जलाता, वह स्वयं जलता है, खुशी-खुशी कष्ट सहते मृत्यु तक का आलिंगन करता है। किसी एक अंग्रेज़ की भी देह को वह मन, वचन, या कर्म से, जान-बूझकर क्षति नहीं पहुँचायेगा।"

"भारत को अपने विजेताओं पर प्रेम से विजय पानी होगी। हमारे लिए देश-भक्ति और मानव-प्रेम एक ही चीज़ है। भारत की सेवा के प्रयोजन से मैं इंग्लैण्ड या जर्मनी को नुकसान न पहुँचाऊँगा।"

**१. कुछेक स्थानों में मैंने गांधीजी के अलग-अलग वचनों को, जैसे कि वे गांधीजी द्वारा स्वयं अथवा भिन्न लेखकों द्वारा प्राप्त हुए थे, संक्षिप्त कर दिया है या जोड़ दिया है।**

"अहिंसा और सत्य अभिन्न हैं। एक का ध्यान करो कि दूसरा पहले ही आ जाता है।"

"सत्य से परे और कोई ईश्वर नहीं है। सत्य ही सर्वप्रथम खोजने की वस्तु है।"

"स्वयं ईश्वर द्वारा संचालित हमारे पवित्र युद्ध में कोई ऐसे भेद नहीं हैं जिन्हें गुप्त रखने की चेष्टा की जाय, चालाकी की कोई गुंजायश नहीं है, असत्य को कोई स्थान नहीं है। सब कुछ शत्रु के सामने खुलेआम किया जाता है।"

"सत्याग्रह के लिए आवश्यकता है कि शुद्धि के लिए प्रार्थना करके ऐन्द्रिक और अहंगत समस्त वासनाओं पर क़ाबू पाया जाय।"

"एक-एक पग पर सत्याग्रही अपने विरोधी की आवश्यकताओं का ख़याल करने के लिए बाध्य है। वह उसके साथ सदा विनम्र और शिष्ट रहेगा, यद्यपि सत्य के विरुद्ध जानेवाली उसकी बात या हुक्म को वह नहीं मानेगा।"

"सत्याग्रही न्याय के रास्ते से नहीं डिगेगा। पर वह सदैव शान्ति के लिए उत्सुक रहता है। दूसरों में उसको अत्यन्त निष्ठा है, अनन्त धैर्य है और अमित आशा है।"

"मानव-प्रकृति तत्त्वत: एक है और इसलिए अन्यायकारी (अन्त में) प्रेम के प्रभाव से अछूता रह नहीं सकता।"

"धरती पर कोई शक्ति ऐसी नहीं, जो शान्ति-प्रिय, कृत-संकल्प और ईश्वर-भीरु जनों के आगे ठहर सके। संसार के समस्त शस्त्र-भंडारों के मुक़ाबिले भी अहिंसा अधिक शक्तिशाली है।"

"जो ईश्वर से डरता है, उसे मृत्यु से कोई भय नहीं।"

"रण-क्षेत्रवाली वीरता तो हमारे लिए संभव नहीं। लेकिन निर्भीकता बिलकुल ज़रूरी है। शरीर के चोट खाने का डर, रोग या मृत्यु का डर, धन-संपदा, परिवार अथवा ख्याति से वंचित होने का डर, सब डर छोड़ देना होगा। कोई वस्तु दुनिया में हमारी नहीं है।"

"अहिंसा के लिए सच्ची विनम्रता चाहिए, क्योंकि 'अहं' पर नहीं, केवल ईश्वर पर निर्भर होने का नाम अहिंसा है।"

असल में, जिस हद तक हम दुनिया की सम्पदा का अनुचित हिस्सा बटोरकर आराम से बैठे हुए हैं, या अपने साथी जनों को शोषित करनें या उनपर शासन चलाने में सन्तोष का अनुभव करते हैं, वहाँतक भले ही हमें ऊपर के जैसे सिद्धान्तों को अपने नित्य जीवन में लाने में डर लगता हो; लेकिन सद्‌भावना-भरे उन सब स्त्री-पुरुषों को, जो मानव और ईश्वर में और आत्मानन्द के जगत् की वास्तविकता में निष्ठा रखकर जीवन बिताने की चेष्टा करते हैं, अवश्य ही एक ऐसे आन्दोलन में आह्लाद मिलना

चाहिए, जिसने, बावजूद अपनी सब भूल-चूकों के, मानव-इतिहास में पहले-पहल अपनी पताकाओं पर विशुद्ध जीवन-स्फूर्ति देनेवाले ऐसे उपदेश-वचन अंकित किये हैं।

खासतौर से ध्यान देने योग्य बात यह है कि कम-से-कम दो ऐसे अवसरों पर, जहाँ कि सविनय-अवज्ञा के रूप में सत्याग्रह-आन्दोलन ने एक अपर्याप्त रूप से शिक्षित जनता में भयावह उत्तेजना का ऐसा वातावरण पैदा कर दिया था, जिससे नौबत हिंसात्मक कार्योंतक पहुँच गई थी, भारत के इस नेता ने एक नितान्त असाधारण साहस का परिचय दिया। अपनी 'हिमालय-जैसी भूल' को उसने क़बूल किया और आंदोलन को एकदम बन्द कर दिया, यद्यपि उसके बहुत-से अनुगामियों को बुरा लगा और उन्हें रोष भी हुआ। इसके अतिरिक्त, हिंसा और अत्याचार की बुराई का प्रतिरोध करने के लिए गांधीजी का जो कार्यक्रम है, उसीसे अभिन्न रूप में जुड़े हुए और विविध कार्य क्रम हैं जिनसे प्रकट होता है कि "जो सबसे दीन हैं, नीचे गिरे हैं, कहींके नहीं रहे हैं," और खासतौर से जो भारत के 'अछूत' बने दर-दर मिलते हैं उन सबसे सत्याग्रही किस बेचैनी के साथ मिलकर एक होजाने को उत्सुक रहता है।

पिछली कुछ शताब्दियों में पश्चिम के तौर-तरीक़े और विचार-संस्कारों ने फैलकर पृथ्वी के अधिकांश भागों को आच्छादित कर लिया है। पर उस समाज में ईसा के सुन्दर आदर्शों का बहुत-से-बहुत उपयोग है तो वह अंश-मात्र। यह सच है कि उस संस्कृति के प्रभाव से जीवन को स्फूर्ति मिली है, अभागों और पीड़ित जनों को न्याय, दया और सहायता का कुछ-कुछ भाग प्राप्त हुआ है, सचाई और ईमानदारी को बल भी मिला है, और एक बहुत बड़ी संख्या को भोग-प्रधान जड़वाद की दलदलों से उबरने का सांस भी मिल सका है। लेकिन इन क्षेत्रों में भी उस पद्धति की सफलता अत्यंत सीमित होकर रह गई है। उधर ईसाई आदर्श तो, जैसा कि हम जानते हैं, बेकारी, व्यावसायिक प्रतियोगिता, और युद्ध की मुसीबतों को दूर करने में अकृतकार्य ही हुआ है। वजह यह है कि लगभग सब ईसाई, यहाँतक कि अतिशय धार्मिक जन भी 'सुरक्षितता' के मोह में रहे हैं और उन्होंने अपना विश्वास अनात्म में और जड़ता में और संचित सम्पदा में अटका लिया है। शान्ति-रक्षा के निमित्त ध्वंसकारी शस्त्रों में उनका विश्वास है, ईश्वर में और ईश्वरदत्त आत्म-शक्ति में आस्था उन्हें नहीं रही है। हम ईश्वर और लक्ष्मी दोनों की साधना करना चाहते हैं। हम अपनेको बेशुमार ऐसे सामान से घिरा रखते हैं जो प्राय: अज्ञान और अनिच्छुक मजूरों और आत्मा का हनन करनेवाली मशीनों द्वारा बना होता है। हम अपने नौजवानों को मार-काट और ध्वंस की शिक्षा पाने की प्रेरणा देते हैं, और यह सब इसलिए कि अपराधियों और भूखों के हमलों से हम बचे रहें। पर हमारे लालच और स्वार्थ से भूखा और भूखा रहने को लाचार होकर अंत में अपराधी हो उतरता है।

ईसा ने अपनी महान् उपदेश-वाणी में, और इससे भी अधिक स्वयं अपने जीवन

और मृत्यु के दृष्टान्त द्वारा, हमेशा के लिए इस झूठी सभ्यता की चिकित्सा बता दी है। वह स्त्री और पुरुषों का आवाहन करते हैं कि वे सीखें कि किस प्रकार जीवन की सादगी और स्वस्थ-कर दीनता से ( पतनकारी लाचार दीनता से नहीं ) संतुष्ट रहना चाहिए; किस प्रकार ईश्वर की सहायता और संरक्षकता में पूर्ण विश्वास रखना चाहिए; और किस प्रकार अन्य सभी कुछ से ऊपर परमात्मा, आत्मानन्द, और जीवन-मोक्ष को महत्त्व देना चाहिए। वह कहते हैं कि सब मानव-प्राणियों से एकता प्राप्त करो और एक दूषित आत्मा का मुक़ाविला अजेय धैर्य और प्रेम से करो। इस विश्वास से विचलित न होओ कि अन्यायी भी न्यायी वन सकता है और निष्ठा प्राप्त करो कि बलपूर्वक किसी का हिंसात्मक प्रतिरोध करने के बजाय स्वयं कष्ट सहोगे और इसमें जाने देने को तैयार रहोगे। बुरों को भलों में बदल देने की यही परमात्मा की रीति है।

आदि से, ईसा के कुछ थोड़े ही अनुयायियों ने बुराई का मुकाविला करने का यह तरीक़ा पूरे तौर पर समझा मालूम होता है। यह हमारा दुर्भाग्य है। और तो और, बाइबिल में भी, जहाँ इसकी व्याख्या है, वहाँ पुरानी दंड-भावना का भी आवरण चढ़ गया है। कम-से-कम कुछ लेखकों ने तो उस पवित्र पुस्तक में ऐसी धारणा प्रकट की है कि कोप और दण्ड की तलवार चलाना और ईश्वर का और राज्य का—यानी नास्तिक राज्य का—अधिकार-सिद्ध कर्म है; हाँ, व्यक्ति-रूप से, एक ईसाई को बुराई का जवाब बुराई से नहीं देना चाहिए। कुछ अस्वाभाविक नहीं था कि ईसाई-धर्म-शासन ( चर्च ) ने भी इस धारणा को अपनाया। और फिर उस ज़हर को ईसाई लोक-शासन में भी प्रविष्ट कर दिया। ख़ास तौर से यह मूल धारणा कि, ईश्वर के पुत्र मसीह ने एक नित्यवर्त्ती नरक की सत्ता का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है, ईसाई विचार पर कलंक की तरह विद्यमान है। ऐसे विश्वास को लेकर 'क्रॉस' (आत्म-यज्ञ) के अर्थ के पूरे महत्त्व को पाना अत्यन्त कठिन हो जाता है।

संपूर्ण मानव के रूप में मसीह के व्यक्तित्व के प्रति आत्यंतिक भक्ति ( और भक्ति उचित है यदि, और मैं मानता हूँ कि अवश्य, ईसा लोकोत्तर पुरुष थे ) यहाँ तक कि गूढ़ आराधना और प्रेमरूप ईश्वर के प्रति तन्मयता भी ईसाई मत के सन्तों को मानव-समाज के प्रति उस ईश्वर के यथार्थ आदेश को प्रकट करने में असफल रही। निस्सन्देह, उनमें अनेक ने सच्ची अहिंसा का आचरण किया। लेकिन ईसाइयत के किसी बड़े नेता ने मनुष्य-जाति के उद्धार के लिए अहिंसा को अकेला एक कारगर उपाय नहीं बताया। पीछे संतजन हुए जिन्होंने प्रयत्न किये कि ईसाइयत सामाजिक हिंसा से छूटे। पर जान पड़ता है कि ये भी ऐसे ईश्वर के रूप में श्रद्धा रखते रहे जिसमें क्रोध और दंण्ड की भावना को स्थान है। उनका विश्वास ऐसे ईश्वर में मालूम होता है कि जो हमारे युद्धों का पुरस्कर्त्ता है और जिसने जीवन-काल में प्रायश्चित्त न हो सकनेवाले पाप-भोग के लिए अनन्त नरकयातना का विधान किया है। जहाँ-तहाँ

विचारक और साधु-सन्त लोग यदि हुए भी हैं तो उनकी आवाज़ अरण्य-रोदन की तरह अनसुनी रह गई है। उनपर ध्यान नहीं दिया और उन्हें ग़लत समझा गया है। आखिर मानवता की परम आवश्यकता की घड़ी में लियो टॉल्स्टॉय का उदय हुआ। युवावस्था में उन्हींसे मैंने प्रकाश पाया है और उनकी कथाकार की धन्य-शक्ति का मैं कृतज्ञ हूँ। उनके लेखों से लोगों में अपने सम्बन्ध में प्रश्नालोचन पैदा होता है। वही फिर फल लाता है। टॉल्स्टॉय से पश्चात् महात्मा गांधी हमारे समक्ष हैं। उन्होंने ईसामसीह के शिक्षा-स्रोत से टॉल्स्टॉय ने जो उन शिक्षाओं का स्पष्टीकरण किया, उससे तथा पवित्र हिन्दू-शास्त्रों से प्रेरित होकर अहिंसा का सन्देश ग्रहण किया और जीवन के हर विभाग में उसका उपयोग किया है और उससे ऐसे तर्क-सिद्ध आकर्षक रूप में सामने रक्खा है कि हज़ारों पिपासु आत्माओं को तृप्ति होती है। उस सन्देश में हृदय पर अधिकार करने का बड़ा बल है और वह विज्ञानयुक्त भी है।[१]

ईसाई साधु-संन्तों के सदृश गांधीजी को भी ईश्वर निश्चयपूर्वक नीतिवान् और व्यक्तिवत् रूप में प्रतीत होता है। यह तो है ही कि ईश्वर अपौरुषेय हैं। यहाँ दोनों की मान्यताओं में मैं कोई भेद नहीं देखता। न तो पुनर्जन्म का हिन्दू-विश्वास उनके व्यावहारिक उपदेश पर कोई ऐसा प्रभाव डालता दीखता है, जिसपर किसी भी तरह एक ईसाई को आपत्ति हो सके। और गांधीजी के लेखों में, कहीं इस प्रकार का संकेत मुझे नहीं मिला कि ईश्वर में, पुरुष-रूप, वह क्रोध की किसी भावना या दण्ड के किसी कार्य की गुंजाइश देखते हों। यह तो धन-तृष्णा है, मनुष्य का अहंकार और स्वार्थ है, जिसका दण्ड मनुष्य स्वयं भोगता है और नष्ट होता है। गांधीजी कहते हैं, "ईश्वर प्रेम है।" "वह तो सहिष्णुता का अवतार है।" "उसका तन्त्र ऐसा सम्पूर्ण प्रजातन्त्र है कि उसकी दुनिया में समानता नहीं हो सकती।" पाप-फल और कर्म-सिद्धान्त की व्याख्या में गांधीजी निर्गुण-निराकार ईश्वर के तत्त्व को मानते मालूम होते हैं। बोहेम और लॉ और कुछ अन्य आधुनिक विचारकों ने कर्म में ही फल-शान्ति मानी है। वह शायद संत पॉल की मान्यता थी। गांधीजी भी उसके बिल्कुल समीप

**१. यहाँ स्मरण दिलाना अच्छा होगा कि दक्षिण अफ्रीका की अपनी पहली सार्वजनिक अहिंसक प्रवृत्ति के आरंभ में गांधीजी अपनेको टॉल्स्टॉय का शिष्य मानते थे। अपनी सब प्रवृत्तियों का विवरण लिखकर गांधीजी ने टॉल्स्टॉय को भेजा था। सन् १९०३ में (अपनी मृत्यु से कोई सात वर्ष पहले) टॉल्स्टॉय ने जवाब में एक लम्बा पत्र दिया। वह पत्र बडे काम का है। अन्त में उसके जो वाक्य थे, वे भविष्य-वाणी जैसे लगते हैं। लिखा था 'दुनिया के इस दूसरे छोर पर रहनेवाले हमलावरों को मालूम होता है कि वहाँ ट्रान्सवाल में जो आप कर रहे हैं वह बहुत ही आवश्यक काम है। दुनिया में जितने काम किये जा रहे हैं, उन सबमें महत्वपूर्ण आपका काम है। उसमें ईसाई देश ही नहीं, बल्कि दुनिया के सब देश भाग लिये बिना बच नहीं सकेंगे।"**

हैं। गांधीजी के आदर्श में जो एक अगम्य निष्ठा है उससे पापीमात्र के निरन्तर और अनिवार्य उदार के तत्त्व का और ईश्वर के साथ मनुष्य-जाति की वास्तविकता एकता के तत्त्व का भी प्रतिपादन होता है। "आत्मा सबकी एक है...मैं इस तरह पापी-से-पापी के कर्म से अपने आपको अलग नहीं करता...मेरे प्रयोग ( अर्थात् सत्याग्रह ) में इसलिए तमाम मनुष्य-जाति का सवाल आ जाता है।"[१]

पर दूसरी ओर यह कोई अचरज की बात न होगी यदि मेरे समान एक पश्चिम देश के ईसाई को गांधीजी के समूचे कार्यक्रम में सहमति न हो सके। उदाहरण के लिए, विवाह के सम्बन्ध में उनके विचार अहिंसा से संगत न मालूम होकर आत्यन्तिक काया-दमन के लगते हैं। उनकी स्वदेशी की धारणा और शुद्ध हिन्दू राष्ट्रीयता भी यथार्थ सनातनी अथवा ईसाई अहिंसा-सत्याग्रह की प्रकृति से असंगत और विभिन्न या विपरीत भी जान पड़ती हैं। पर दिन-पर-दिन यह हममें से अधिकाधिक पर प्रकट होता जाता है कि जैसे कि एक भारतीय मिशनरी ने कहा है, "सत्याग्रह, जोकि गांधीजी बतलाते और आचरण में लाते हैं. अथवा उनके सच्चे अनुयायी जीवन में जिसे उतारते हैं, वह ईसाई-धर्म की मूल शिक्षा से एकदम अभिन्न है। वह बुराई को प्रेम से जीतने और स्वेच्छा से स्वीकार की गई और प्रीति के साथ बरदाश्त की गई वेदना के बल से पाप को धर्म में परिवर्तित कर देनेवाले शाश्वत सिद्धान्त 'क्रॉस' यानी आत्म-आहुति और यज्ञ-धर्म का दूसरा रूप है।

ईसाइयों को इस बात का तो सामना करना ही होगा कि ज़ाहिरा तौर पर उनके सम्प्रदाय का न होकर वह एक सनातनी (कट्टर) हिन्दू है। टॉल्स्टॉय की ऐसी ही भिन्न स्थिति की भी कल्पना कीजिये जिसने कि क्रॉस के आहुति-धर्म के सार को पाया है और समाज के लिए उसके परम महत्त्व को समझा है। वह है जो असलियत में ईसा-मसीह की दूसरों के पापों का प्रायश्चित करनेवाली और जीवनदायिनी मृत्यु के रहस्य को धारण कर सका ह, और वह है कि उस सन्देश के प्रति अपनी तत्पर लगन और निष्ठा से हज़ारों आदमियों में वैसी ही त्याग की स्फूर्ति भर सका है। वह धन-तृष्णा को परास्त करता आया है और काया के विकारों में कभी फँस नहीं गया। मुझे विश्वास है कि जन्म और स्वभावगत हिन्दू-संस्कारों की बाधा न होती, तो ईसामसीह की शिक्षा का ऋण ही नहीं, वलिक स्वयं ईसामसीह के जीवन के सर्वोच्च आदर्श और उसकी प्रेरक आत्मा को आज गांधी अपने सत्याग्रह के मूल में स्वीकार करते।

ज़ब सोचता हूँ कि मनुष्य-जाति के इतिहास पर सत्याग्रह का क्या प्रभाव पड़ेगा, क्या परिणाम इस सम्पर्क का होगा, तो कल्पना कुछ इस तरह की सम्भावनायें प्रस्तुत करती हैं। अधिनायक तंत्रवाले राष्ट्रों की रीति-नीतियाँ कैसी भी बुरी हों, लेकिन धार्मिक बुद्धि के लिए तो परिस्थिति के दो पहलू विचारणीय हैं। एक तरफ़ प्रजातन्त्र

**१. सन् १९२४ में दिल्ली में उपवास के समय के गांधीजी के वचन।**

कहे जानेवाले पश्चिम के राष्ट्र हैं। सभ्यता, संस्कृति या धर्म के विषय में यही देश अगुआ हैं। पर ये दुनिया की जो बहुत सी ज़मीन, माल और साधन अपनाये बैठे हैं, उसमें और मुल्कों के साथ बराबरी का बँटवारा करने को वे तैयार नहीं हैं। उधर खुलकर ज़ोर की आवाज़ के साथ यही देश ऐलान करते हैं कि उनके पास जो कुछ भी धन-जन-साधन उपलब्ध हैं, उन सबको लड़ाई में झोंक देने को वे तैयार हैं। आधुनिक लड़ाई का रूप कल्पना में न लाया जाय तो ही अच्छा है। उसके ध्वंस की तुलना नहीं हो सकती। और यह युद्ध होगा किसलिए ? इसलिए कि आसपास के जो भूखे देश लूट में अपना भी हिस्सा माँगते हैं उन्हें दूर ठिकाने ही रक्खा जाय। धन-दौलत और अधिकार के पीछे बेतहाशा आपाधापी और होड़ा-होड़ लगी है। तिसपर उस वृत्ति में आ मिली है बुद्धि की चतुरता। आदमी का दिमाग़ बेहद बढ़ गया है। प्रकृति की शक्ति और मनुष्यों के संगठन को क़ाबू में करके अब वह बहुत कुछ कर सकता है। नतीजा यह हुआ है कि भारी शक्ति बटोरकर लोग उन आसुरी वृत्तियों को पोस रहे हैं। ऐसे क्या होगा ? होगा यही कि सारी दुनिया में डिक्टेटरशाहियों या कि अन्य तन्त्र-शाहियों के गुट्ट लोक-तृष्णा और शक्ति-संचय की प्यास में आपस में घमासान मचायेंगे और प्रजातन्त्र नामवाले देश भी उन अन्य तन्त्र-शाहियों की ताक़त का मुक़ाबिला ताक़त से करेंगे। इस तरह मुसीबत और बढ़ेगी ही। त्रास बढ़ेगा, दैन्य बढ़ेगा। लोभ और आतंक का दौरदौरा होगा। क्योंकि आज की-सी लड़ाई की भीषणता के बीच या तो यह है कि प्रजातन्त्र राष्ट्र दुश्मनों की ज्यादा मज़बूत हिंसा-शक्ति के आगे हार कर नष्ट हों या फिर अपने ही अन्दर सैनिक वर्ग और वृत्ति-प्रधानता बढ़ते जाने के कारण, आवश्यकता के बोझ से स्वयं अपने में ही डिक्टेटरशाही उपजाकर उसके हाथों पड़कर नष्ट हों।

उसके बाद फिर तो विश्वव्यापी पैमाने पर पुराने रोम-शाही के खुले दौर का समय होगा ही। दया और धर्म की पूछ तब नहीं होगी। पर जैसा कि सशस्त्र विरोध के मिटने के बाद, रोम-राज्य भी धीरे-धीरे उदार और निष्पक्ष होने लगा था, वैसे ही दुनिया की यह एकच्छत्रता स्वेच्छाचारी और जड़वादी रहते हुए किसी क़दर कम सख़्ती की ओर एवं एक निरंकुश की बुजुर्गशाही की ओर झुकेगी।

पर फिर भी हाज़ारों लाखों स्त्री-पुरुष होंगे जो निरंकुशता के हाथों बिकेंगे नहीं, न उसके मूक साधन बनेंगे। उनका इन्कार दृढ़ रहकर बढ़ता और फैलता ही जायगा। कष्टों से पवित्र, शनैःशनैः ऐसे बहुत संख्या में समुदाय होते जायँगे। ईसाई उसमें होंगे, बौद्ध, हिन्दू, मुसलमान या अन्य धार्मिक वर्ग होंगे। ये समूह आपस में पास खिंचेंगे और इकट्ठे बनते जायँगे। वे सहिष्णु होंगे और रह-रहकर उनपर अत्याचार टूटेगा। ( ईसाई होने के नाते यह विश्वास मुझे है कि अन्त में जाकर ईसा के सच्चे विसर्जन-धर्म के ही किसी स्वरूप की विश्वव्यापी विजय होगी, चाहे फिर उसमें सदियाँ ही क्यों न लग जायँ। ) य सब समुदाय सरकारी अत्याचार या जनता के अनाचार के

प्रतिकार का जो उपाय करेंगे, वह अहिंसा-सत्याग्रह ही होगा; अधिक संगठित, अधिक व्यापक, अधिक अनुशासित, तेजोमय और विमल। पर भविष्य का वह प्रौढ़ आन्दोलन होगा इसी शिशु सनर्थरूप में, जिसे हमारे इस युग में गांधीजी ने जन्म दिया है। और आगामी संतति के लोग गांधीजी की तरफ़ और उससे भी पीछे टाल्स्टाय की तरफ़ उनके नवयुग के स्रष्टा के रूप में देखेंगे। कुछ काल तो अवश्य निरंकुश विश्व के नियंता अधिनायकजन, अपना बाह्य शत्रु न देखकर लोकमत को, खास तौर से नई पीढ़ी को अपनी ही तरह की शिक्षा से छा देंगे और सदा के लिए अजेय दिखाई देने लगेंगे। लेकिन आदमी के अन्दर की दिव्यात्मा को इस प्रकार दफ़नाकर कबतक रक्खा जा सकता है। अन्ततः शासक-वर्ग की शक्ति अन्दर से धीमे, पर निश्चितरूप में क्षीण और खोखली होती जायगी। बुराई में, अव्वल तो, स्वयं ही अनिवार्य नाश का बीज होता है, जो बढ़ता रहता है। और यदि सद्भावनावाले लोग पथभ्रांत और अधीर हिंसा का आश्रय लेकर उसे न छेड़ें तो वह नाश और भी शीघ्र आजाय। यानी उस शासन-शक्ति के प्रतिस्पर्द्धी दलों में फूट पैदा होने लग जायगी। दल बढ़ते जायँगे और घरेलू युद्ध-कलह मच जायगा। इन लड़ाइयों में असहयोगवाली सत्याग्रह-भावना के व्यापक प्रचार के कारण, लड़ानेवालों को बरसों गुजर जाने पर उनकी लड़ाई लड़ने के लिए इस दुनिया से कम-से-कम लोग हथियार बनकर मरने को राज़ी मिलेंगे। आखिर इस धरती पर लाखों की संख्या में ऐसे स्त्री-पुरुष तैयार हो जायँगे, जो सबकुछ सह लेंगे, पर अहिंसा, अन्याय और धन-तृष्णा के हाथों अनुचित अस्त्र बनने को राज़ी न होंगे।

साथ ही, यह विश्वास और आशा करने के लिए मज़बूत कारण है कि सद्भावना का प्रभाव सत्याग्रहियों के संघों से फूट-फूटकर शनैः शनैः शासकों और उनके अनुयाइयों की छावनियों में छाता जायगा। यह प्रभाव कोरी निषेधात्मक साधुता का नहीं होगा, बल्कि सक्षम प्रेम का बल उसमें होगा। उस ईश्वर की निष्ठा का उसे बल होगा, जो ईसा में मूर्तिमान् हुआ, या कहो, बुद्ध अथवा कृष्ण में मूर्तिमान् हुआ। वही ईश्वर स्वयं उनका नेता और त्राता होगा। वास्तव में वही सत्य होगा, वही प्रेम होगा। वह प्रेम का अधिष्ठाता प्रभु होगा और सबके हृदय में स्वर्ग का राज होगा। इस प्रकार शासक लोग भी उन्नति करते-करते इस विषम संघर्ष के परिणामस्वरूप अधिकाधिक मनुजोचित व्यवहार के योग्य बनेंगे और शासन-शान्ति के भले के लिए सत्याग्रहियों की उपयोगिता पहचानकर उन्हें स्वराज्य और स्वकर्म की अधिकाधिक स्वतन्त्रता देंगे। अर्थ-शास्त्र के क्षेत्र में इस स्वतन्त्रता का अभिप्राय होगा कि धर्म-संघ स्वावलम्बी होंगे और मशीन के विकारी प्रभाव से बचे रहेंगे। वही मशीनें रक्खी जायेंगी और रह पायेंगी जो मनुष्य के सम्पूर्ण विकास और पशु अथवा जन्तु-जगत् के भी सौन्दर्य और सुख के विरुद्ध न होंगी। सत्याग्रही-धर्म-संघों में अधिक-से-अधिक संख्या में लोग खिचकर आयेंगे, यहाँतक कि

संसार के अंगभूत बड़े-बड़े साम्राज्यों के अन्दर ऐसे सत्याग्रहियों का बहुमत होता चलेगा। वे सत्याग्रह की शक्ति में इतना पर्याप्त विश्वास रक्खेंगे कि कहें कि शासन-सत्ता का मूलाधार वही सिद्धान्त हो सकता है। उसके बाद तो छुट-पुट सनकी या झक्की-से ही लोगों के दल शेष रह जायेंगे। उनके हाथों अधिकार भी कुछ न होगा। पर वे भी फिर स्वयं ही ऐन्द्रिक विलास या तृष्णागत कर्म के चक्कर से ऊब चलेंगे। क्योंकि सब ओर उन्हें ऐसे लोगों का समाज मिलेगा जो बिना धैर्य खोये, न किसी प्रकार का आवेश लाये, सब सह लेंगे और किसी तरह का बदला लेने से इन्कार कर देंगे। वह समय होगा कि देवदूत ईसा के ये वचन पूरे होंगे कि "धन्य हैं वे जो नम्र (शान्त, अथवा अहिंसक) हैं; क्योंकि वे धरती पर राज करेंगे।" राज्य!—नरलोक, सुरलोक, दोनों का राज्य!

बस, यहाँ आकर कल्पना हार बैठती है। आप कह सकते हैं कि यह तो आदर्श की बात हुई। पास से चित्र देखने से निराशा होती है, दूर रखकर देखने से ही आशा होती है। पर बुरी-से-बुरी सम्भावना और भली-से-भली आशा का सामना करने की आदत रखना उपयोगी होता है। हो सकता है कि विधाता की ओर से कोई अभूतपूर्व संकट आपहुँचे जिसमें मानव-जाति ही का ध्वंस होजाय, कौन जानता है! पर यदि ऐसा नहीं है, और इस धरती पर यदि एक दिन शान्ति और न्याय का साम्राज्य स्थापित होना ही है, तब तो निश्चय ही रास्ते में कुछ विघ्न-बाधाओं के मिलने की हमें आशा रखनी ही चाहिए। ईश्वर का काम अचूक है, पर वह जल्दी का नहीं होता। और मनुष्य के भीतर का विकार भी नष्ट होने में शीघ्रता नहीं करता दीखता। पर यदि, और जब, इस धरती पर राम-राज आयेगा तथा आदमी और आदमी के (गांधीजी तो कहेंगे कि आदमी और पशु के भी) बीच द्वेष और कलह की, कम-से-कम बाहरी, सम्भावना तो मिट ही जायेगी, उस समय यह आशंका कृपाकर कोई न करे कि ज़िन्दगी यह वीरान और सुनसान जंगल की तरह हो जायगी; दिलचस्पी की बात कोई न रहेगी और सब ऊबने जैसा होजायगा। नहीं, हम विश्वास रख सकते हैं कि चैतन्य की असीम सृजन-शक्ति चुप नहीं बैठा करती और उसकी गति और प्रवृत्ति के लिए सदा असीम अवकाश रहे हीं चला जायगा। ईश्वर की रचना में तो अतोल भेद और अनन्त रहस्य भरा पड़ा है। आदमी की चेष्टा उसके अनुसन्धान में बढ़ती ही जा सकती है। और यही होगा। पर तब प्रेरणा प्रीति की होगी और कर्म यज्ञार्थ होगा। वही प्रेरणा और वैसा ही कर्म है, चाहे वह स्वल्प और अविकसित रूप में ही क्यों न हो, जो हिन्दुस्तान की जनता को इस समय उभार दे रहा है।

आनेवाले साल संकट और अन्धकार से भरे हो सकते हैं। पर वे ही प्रकाश और आनन्द से भी भरे होंगे। इन पंक्तियों का लेखक कृतज्ञता के साथ यहाँ स्मरण करना चाहता है कि कैसे चालीस बरस पहले लियो टॉल्स्टॉय के स्फूर्तिमय वचनों को पढ़कर

उसने युद्ध-प्रतिकार और स्वेच्छा से वरण किये हुए दैन्य-दारिद्रय के आदर्श में हिच-किचाहट के साथ कुछ प्रयोग शुरू किये थे। फलस्वरूप काफ़ी दिन जेल की कोठरी का भी उसे अनुभव हुआ। भला होता यदि उसके प्रयत्न बाद में भी उस दिशा में जारी रहे होते। आज तो वह इच्छा-ही-इच्छा है। तो भी उस भारतीय महापुरुष के प्रति, जिसे उस रूसी महर्षि का आज का स्थानापन्न कहना चाहिए, श्रद्धांजलि भेंट करने के अवसर के लिए यह लेखक परमकृतज्ञ है।

हाल ही में स्वर्गवासी हुए कवि यीट्स ने कहा है कि "मेरी कवि-वाणी चिर-नवीन है।" यीट्स का कहना सच ही था। पर यह और भी सच है कि श्रमजर्जर, आयु-जीर्ण, मोहनदास गांधी के ओठों से प्रस्फुटित हुआ आत्म-शक्ति का सन्देश सदा अजर-अमर है। वह नित-नवीन है—पैंतालीस वर्ष पहले जब वह अध्यात्म-पुरुष पहले-पहले सत्य के साहसपूर्ण प्रयोग कर रहा था, उस समय से भी आज वह नवीन है। क्योंकि क्या आयु के वर्षों के साथ-साथ वह पुरुष भी क्रम-क्रम से अजर-यौवन और दिव्य-नम्र उस सत् शक्ति के स्रोत ईश्वर से अभिन्न ही नहीं होता जा रहा है? उस चिदानन्द चैतन्य के साथ उत्तरोत्तर एकाकारता क्या उसे नहीं प्राप्त हो रही है, जहाँ मृत्यु द्वारा जीवन का वरण किया जाता है? हो सकता है कि ईसाई होने के कारण या समाज-दर्शन की ओर से वस्तु-विचार करने की आदत की वजह से हम पश्चिमी ईसाई उनकी दृष्टि की स्पष्टता पर मर्यादायें भी देख पाते हों! पर यह तो असंदिग्ध है कि गांधी हमारे युग के महात्मा हैं। वह ुक्त मानवता के अवतार हैं, नवजाग्रत समाज के और विश्व के भविष्य के वह अग्रदूत हैं। और भावी विश्व का वह रूप अब और इस समय भी हमारे बीच जन्म-काल में है। बस, यदि हम ही अपना कर्त्तव्य निभाना जान लेते!

अस्तु, हम जो ईसामसीह की छाया के नीचे खड़े हैं, भक्ति-भाव से उस पुरुष-श्रेष्ठ को प्रणाम करते हैं। उसके सत्याग्रह-संघ के सच्चे सदस्यों को भी हमारा प्रणाम हो! उन्हींकी भांति हम भी ईश्वर की अमरपुरी के, अपनी स्वप्नपुरी के, नम्र नागरिक हैं।

## : २५ :

# ब्रिटिश कामनवेल्थ को गांधीजी की देन

**ए० बेरीडेल कीथ, एम. ए., डी. लिट्, एल-एल. डी., ई. एफ्. बी. ए.**

**[ एडिनबरा यूनिवर्सिटी ]**

हममें से कुछ के लिए महात्मा गांधी के जीवन की विशेषता इसीमें है कि वह, ऐसे संसार में जो अपने व्यावहारिक कार्यों में आदर्श पर अमल करने का विरोधी है,

आदर्शवाद के पथ पर चलते हुए अनिवार्यरूप से सामने असंख्य कठिनाइयों के होते हुए भी आदर्श की प्राप्ति के लिए किये गये दृढ़ तथा निरन्तर प्रयत्नों का द्योतक है। दक्षिण अफ्रीका में मानवीय व्यक्तित्व का मूल्य मनवाने के लिए उन्होंने जो सेवायें की हैं, उनको ब्रिटिश कामनवेल्थ के इतिहास में अवश्य ही प्रमुख स्थान मिलेगा। दक्षिण अफ्रीका के अफ्रीकन भाषा-भाषी लोगों का सिद्धान्त ही यह था कि क्या धर्म और क्या राजनीति, दोनों में ग़ैर-यूरोपियनों के साथ समानता का बर्ताव नहीं किया जा सकता। वहाँ भी गांधीजी ने इस सिद्धान्त पर आग्रह किया कि मनुष्य-मनुष्य समान हैं और जाति या वर्ण के आधार पर किया गया कृत्रिम भेद युक्ति-विरुद्ध और अनैतिक है। उन्होंने वहाँ भारतीयों की स्थिति में भारी सुधार किया और दक्षिण अफ्रीका में उनकी स्थिति की समस्या को एक नई रोशनी में रक्खा। इस काम में जिन विरोधी शक्तियों का उन्हें सामना करना पड़ा, उनके बल की ठीक कल्पना होने पर ही हम समझ सकते हैं कि उनका उक्त काम उनकी सब सफलताओं में सर्वोपरि था। यह बड़े दुःख की बात है कि उनके वहाँ से चले आने के बाद वह संकीर्णतासूचक वर्ण-भेद फिर से वहाँ होगया है। लेकिन जबसे महात्माजी ने भारतीयों में आत्मसम्मान की भावना भरी और इस विचार का निषेध किया कि अपने बड़प्पन के लिए एक मनुष्य या मनुष्य-समाज द्वारा दूसरों का शोषण करने में बुराई नहीं, तबसे वहाँके भारतीयों की विरोध करने की शक्ति बढ़ बहुत गई है। कुछ समय के लिए यह आदर्श दबा रह सकता है; पर यह खयाल नहीं किया जा सकता कि वह बिलकुल ही मिट जायगा। केनिया और जंज़ीबार में भी उनके सिद्धान्तों का अच्छा परिणाम हुआ और उनकी वजह से वहाँके अंग्रेज़ों ने इंग्लैण्ड में अपने प्रभाव से भारतीय हितों का उचित ध्यान रक्खे बिना इन स्थानों का शासन खुद हथिया लेने का जो प्रयत्न किया था, उसका असर कम होगया। महात्माजी के प्रयत्न भारतीय हितों तक ही सीमित नहीं रहे। जिन सिद्धान्तों का उन्होंने प्रचार किया, वे अफ्रीकन लोगों के भविष्य पर भी मानव रूप से लागू होते हैं। उन्होंने कभी इस बात का समर्थन नहीं किया कि भारतीयों को अपनी ऐतिहासिक संस्कृति और सभ्यता के आधार पर केवल अपने समानाधिकार का दावा करके सन्तुष्ट होजाना चाहिए और अफ्रीका के मूल निवासियों को कमीना समझने और दासवृत्ति के योग्य मानने में यूरोपियनों का साथ देना चाहिए।

भारत में उन्होंने इसी सिद्धान्त की शिक्षा दी कि भारतीय भी मनुष्य-मनुष्य सब समान हैं। इसको किसी यूरोपीय से घटकर न माने। इस प्रकार उन्होंने अपने उन भारतीय साथियों के लिए कुछ धर्म-संकट ज़रूर पैदा कर दिया, जिनके धर्म-ग्रन्थों में—अन्य सब देशों के पुराने धर्म-ग्रन्थों के समान ही—मनुष्य-मनुष्य में असमानता पर ईश्वरीय स्वीकृति की छाप लगादी गई है। परन्तु उन्होंने भारतीयों का आत्म-शासन का अधिकार स्वीकार करने में युक्तिरूप से जो सबसे बड़ी अड़चन पेश की जाती थी उसका

अन्त कर दिया। वह अड़चन यह थी कि नीची श्रेणी के समझे जाने वाले लोगों का हित इस बात में नहीं है कि उनका भाग्य उन लोगों के हाथों में सौंपा जाय जिनके लिए ऐतरेय ब्राह्मण में कुछ लोगों को शेष मनुष्य-समाज का सेवक होने और आवश्यकता पड़ने पर घरों से बाहर कर दिये जाने और मार डाले जानेतक का विधान किया गया है। महात्माजी ने अछूतों का जो पक्ष लिया और उससे हिन्दू-धर्म के सबसे अच्छे सिद्धान्तों को बढ़ावा देने में जो सफलता मिली, ये सब बातें उनके चरित्र की विशेषतायें हैं और कालान्तर में उनके चरित्र का सबसे प्रमुख अंग रहेंगी। ऐतिहासिक विकास के महत्वपूर्ण क्षणों का अध्ययन करनेवाले विद्यार्थी को इन बातों से शुद्ध सन्तोष मिलेगा।

सरकार के साथ अहिंसात्मक असहयोग के सिद्धान्त का इतिहास तो बड़ा विवाद-ग्रस्त है। साधारण मनुष्य की प्रकृति से जो आशा की जासकती है, इस सिद्धान्त पर अमल के लिए उससे कुछ अधिक योग्यता की आवश्यकता है, क्योंकि मनुष्य तो स्वभाव से ही लड़ाका है; और जिन लोगों ने अहिंसा के सिद्धान्त के प्रचार का बीड़ा उठाया, वे खुद अपनी आदि भावनाओं को शिकार होगये। फिर भी इतिहास बतलाता है, और इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता कि न जाने किस अगम्य मनोवैज्ञानिक कारण से ब्रिटिश सरकार जिन मांगों की निरे युक्ति-बल द्वारा पेश किये जाने पर उपेक्षा करती रही, उन्हींको उसने तब झट स्वीकार कर लिया जब उन्हें मनवाने के लिए उसके शासन में अड़चन खड़ी करदी गई। अतः यदि महात्माजी ने ऐसी नीति अपनाई जिसमें हिंसात्मक कार्यों का खतरा था और जिनको अमल में लाने पर वास्तव में ऐसा हुआ भी, तो भी यह मानना पड़ेगा कि वह उन ध्येयों को केवल इसी प्रकार प्राप्त कर सकते थे जिन्हें वह भारत के लिए प्राणप्रद समझते थे। भारत के प्रान्तों में प्रान्तीय स्वराज्य पर जो अमल हो रहा है, वह ब्रिटिश कामनवेल्थ के इतिहास की अत्यन्त विशिष्ट घटनाओं में से एक है। और यद्यपि जीवित और दिवंगत महापुरुषों में से और कइयों को भी इसका श्रेय है, पर महात्माजी के समान किसी दूसरे को नहीं। यह वस्तुतः उनका एक स्थायी स्मारक है। संस्कृत-साहित्य की यह अद्वितीय विशेषता है कि वह ऐसे अर्थपूर्ण श्लोकों से भरा पड़ा है, जिन्हें इस देव-भाषा को पढ़ानेवाला प्रत्येक विद्यार्थी बचपन में ही याद कर लेता है। मालूम होता है कि ऐसा ही एक श्लोक बालक गांधी के मन पर अंकित होगया था, क्योंकि यह श्लोक उस आदर्श को प्रकट करता है, जिसे पूरा करने के लिए उन्होंने अपना सारा जीवन निछावर कर दिया। वह श्लोक यह है :—

**अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम्।**
**उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥**

(यह हमारा है और वह पराया, ऐसा खयाल तो छोटे दिल के लोग किया करते हैं; उदार-चरित व्यक्ति तो सारी दुनिया को ही अपना कुटुम्ब मानते हैं।)

## : २६ :

# विश्व-इतिहास में गांधीजी का स्थान

**काउण्ट हरमन काइज़रलिंग**

**[ डार्मस्टाट, जर्मनी ]**

हम ऐसे बड़े ज़बर्दस्त और चक्करदार संघर्षों के युग में रह रहे है जो मानव-इतिहास में शायद ही पहले कभी हुए हों। काल और अन्तरिक्ष पर विजय पा लेने से अब एक-दूसरे से अलग होने का विचार ही भ्रमपूर्ण जान पड़ता है। गत महायुद्ध से पूर्व संसार के सभी देशों में सचमुच अल्पसंख्यकों का, चाहे उन्होंने किसी सिद्धान्त का दावा क्यों न किया हो, राज्य था। परन्तु आज इसके विपरीत जनता जागी है, अथवा यों कहें कि सभी जगह बहुसंख्यकों के हाथ राजनैतिक और सामाजिक शक्ति आई है, जिससे वह ज़बर्दस्त शक्ति बन गई है; बल्कि बहुसंख्यकत्व आज के युग का एक ख़ास गुण बन गया है। जिस प्रकार विद्युत-शक्ति विद्युत की दो विरोधी धाराओं (पॉज़ीटिव और निगेटिव) की आवश्यक सहचारिता द्वारा व्यक्त होती है (जहाँकि एक ध्रुव अपने विरोधी ध्रुव को प्रेरित ही नहीं, बल्कि पैदा भी करता है) उसी प्रकार जीवन भी उन परस्परविरोधी और संघर्षशील शक्तियों का सतत-अस्थिर सन्तुलन है, जिनमें से बहुत-सी ध्रुवत्व गुणवाली हैं। इसलिए ऊपर जिन परिवर्तनों की रूपरेखा बताई गई है, उन्होंने ऐसी स्थिति पैदा कर दी है जहाँ मनो-वैज्ञानिक और आध्यात्मिक धरातल पर अश्रुतपूर्व शक्तियोंवाली धारायें एक-दूसरे के साथ मिलकर काम करती हैं। जितनी अधिक-से-अधिक शक्तिशाली विद्युद्धाराओं की हम कल्पना कर सकते हों उनसे इन धाराओं की तुलना की जा सकती है। संसार के ख़ास-ख़ास आन्दोलनों के साथ जो निश्चित विचार जोड़े गये हैं, उनका तो कुछ महत्व ही नहीं है और वे हमेशा भ्रम में डालनेवाले होते हैं। इसकी वजह पहली तो यह है कि उनमें से हरेक को बनानेवाले उपादान इतने अधिक होते हैं कि वे सब उस नाम के अन्तर्गत नहीं आते। दूसरे जैसाकि समस्त इतिहास बतलाता है, एक आन्दोलन के 'नाम और रूप' के पीछे जो वास्तविक शक्ति रहती है और उसके नाम व रूप में, कालान्तर में, समानता बहुत कम रह जाती है। बहुधा देखा गया है कि एक आन्दो-लन एक ख़ास उद्देश्य को लेकर चला। वह कालान्तर में जैसे जीवन प्रगति करता गया, किसी दूसरे रूप में ही बदल गया। इसलिए आज जितने संसारव्यापी आन्दोलन चल रहे हैं और उनके लिए जो नाम रक्खे गये हैं, मैं उनको ठीक नहीं मानता। संसार का कोई राष्ट्र जो प्रजातंत्र या समाजवाद या स्वतंत्रता या अनीश्वरता के नाम

पर लड़ाई छेड़ता है, उस समय जो कुछ वह कहता है उसका वही मतलब नहीं होता जिसका कि वह दावा करता है। वास्तव में तो सब-के-सब अंधेरे में उस उद्देश्य के लिए जो उन्हें अभी तक मालूम नहीं है, भटकते फिर रहे हैं। उस उद्देश्य की आखिरी रूपरेखा उसी समय मालूम होगी जब कि वे न केवल गर्भावस्था (जिसमें कि हरेक इस समय है) से वाहर ही आ जायें, वल्कि उसके बाद काफ़ी बढ़ भी जायें। आज मनुष्य जिन उद्देश्यों और ध्येयों के लिए लड़ रहे हैं, उनमें से कोई भी अन्तिम विजय प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि संसार इस समय संघर्ष के विशाल क्षेत्रों में, भयंकर शक्ति के केन्द्रों में, बँटा हुआ है। संघर्ष के विस्फोट के अनंतर जो कुछ बचे उसका एकानुरूप समन्वय ही अधिक स्थिर सन्तुलन पैदा कर सकता है। परन्तु यह समन्वय बड़ी दूर की बात है और उस तक पहुँचना वड़ा कठिन है।

इसके साथ ही एक कठिनाई और भी है, जिस पर विचार करना है, और वह यह कि यह बात आसानी से नहीं कही जा सकती कि इस समय जो बड़ी-बड़ी शक्तियाँ काम कर रही हैं, उनमें से कौनसी देर तक टिकी रहेगी और कौनसी शक्ति, जिसका इस समय अस्तित्व भी नहीं है, संसारव्यापी शक्ति बन उठेगी। लेकिन अगर हम यहाँ पर दो सिद्धान्तों को समझ लें, जिनकी महत्ता को अभीतक शायद ही समझा गया है तो वे हमें एक अधिक सच्ची भविष्यवाणी करने में सहायक हो सकेंगे। इनमें से पहला सिद्धान्त तो प्राचीन चीन की देन है। इसके अनुसार प्रत्येक ऐतिहासिक घटना स्थूल व प्रत्यक्ष रूप में घटित होने के पच्चीस वर्ष पूर्व ही घटित होजाती है। कल्पना यह है कि आज के बच्चे, न कि आज के वयस्क पुरुष, पच्चीस साल में दुनिया पर राज्य करेंगे, अत: उस भविष्य के रूप का अनुमान बच्चों के जीवन और भावना का ठीक अन्दाज़ लगाकर कर सकते हैं। दूसरा सिद्धान्त है ध्रुव नियम का सिद्धान्त (लॉ ऑव पोलेरिटी)।[1] इसके अनुसार प्रत्येक क्रियाशील शक्ति (यदि हम इसे ज्योतिष की भाषा में कहें तो) ध्रुवत्व गुणवाली विरोधी शक्ति के साथ सम्बन्ध जोड़ती है। इसी प्रकार एक दृढ़ सिद्धान्त, अपनी दृढ़ता व शक्ति के कारण, एक विरोधी सिद्धान्त पैदा करता और उसे वल देता है।

एक आन्दोलन एक ही दिशा में जितने ज़ोरों से चलेगा, उतनी ही तेजी से उसका विरोधी दिशा में आन्दोलन होने की सम्भावनायें हैं। मेरे विचार में केवल इसी दृष्टि से कुछ संभावना के साथ महात्मा गांधी की ऐतिहासिक महत्ता का अनुमान लगाया जा सकता है। इस विशाल दृष्टि से तो उनकी महत्ता वास्तव में बहुत बड़ी मालूम होती

**१. यह सिद्धान्त यह है कि एक भौतिक पदार्थ में दो विरोधी गुण होते हैं। जैसे कि चुम्बक लोहे में एक ओर लोहा खींचने का गुण और दूसरा लोहे को पीछे धकेलने का गुण। अगर एक प्रकार के गुणवाले दो ध्रुव एक-दूसरे के पास लाये जायँगे तो वे एक-दूसरे को पीछे धकेलेंगे।** —संपादक

ह । पहले कोई भी युग हिंसा से इतना ओतप्रोत नहीं था जितना कि आज का हमारा युग है । क्योंकि आज सभी गोरी जातियोंवाले देशों के बहुसंख्यक जन किसी-न-किसी प्रकार हिंसा के पक्ष में हैं । इसी प्रकार काली जातियोंवाले देशों के बहुसंख्यक भी इसके पक्ष में हैं । इस सबको देखते हुए यह निश्चित ही है कि बल-प्रयोग से क्रान्ति करनेवाला यह आन्दोलन उस समय तक समाप्त नहीं होगा जबतक कि वह इस संबंध में इन सभी अवसरों व सम्भावित उपायों का प्रयोग न करलें । पृथ्वी के किसी-न-किसी भाग में अनेकों शताब्दियों तक लम्बी-लम्बी लड़ाइयाँ होंगी, संघर्ष ही संघर्ष होंगे । और क्योंकि ऐसा हो रहा है और होगा, इसीलिए अहिंसा के जाहिरा निषेधात्मक विचार द्वारा प्रेरित किया हुआ आन्दोलन प्राण-सदृश एवं ऐतिहासिक महत्ता प्राप्त कर सकता है, जो कि उसे इससे भिन्न परिस्थितियों में न तो मिलती और न अभी-तक कभी मिली ही है । ऐसा इसलिए भी होगा, क्योंकि अहिंसा के आदर्श और उसके विरोधी आदर्श में जो ध्रुव-संघर्ष है, वह एक ओर ध्रुवत्व (Polarity) अथवा ध्रुव-संघर्ष का द्योतक है । वह है साध्य बनाम साध्य की अपेक्षा साधन की प्रमुखता । और मेरे विचार से यही दूसरा ध्रुवत्व महात्माजी को एक प्रतीक के रूप में अमर बनाता है, फिर चाहे वस्तुस्थिति के धरातल पर उनके द्वारा आरम्भ किये गये आन्दोलन की सफलता कैसी ही क्यों न हो ।

जेसुइट लोगों का सिद्धान्त है कि 'लक्ष्य पवित्र हो तो साधन सब उचित हैं ।' (धर्माभिमानी पाश्चात्यों ने सचमुच ही 'रेड इण्डियनों' के साथ व्यवहार करने में इसी सिद्धान्त पर अमल किया था ।) परन्तु जबतक यह सिद्धान्त चलता रहेगा उस समय तक संसार की स्थिति में वास्तविक एवं स्थायी रूप से सुधार होना दूर की बात है । विनाशकारी साधनों का प्रयोग बदले में प्रति-विनाशकारी साधनों को पैदा करेगा और इस तरह सिलसिले का अन्त न होगा । बुद्ध ने कहा ही है, "अगर द्वेष का जवाब द्वेष से ही दिया जाता रहेगा, तो द्वेष का अन्त फिर कहाँ है ?"

संसार में आज बल-प्रयोग और आक्रमण द्वारा अपना प्रसार करने का ढंग चल रहा है । आज सभी शक्तिशाली जातियों ने उसी ढंग को अपना रक्खा है । और भी जैसे समय बीतता जायेगा, अधिकाधिक जातियाँ उस ढंग में पड़ेंगी । महात्मा गांधी ही इसके विपरीत-ध्रुव ( Counter-pole ) अथवा विरोधी धारा के जीवित प्रतीक हैं । जिस प्रकार शान्तिवादी चीन को आत्म-रक्षा के लिए आक्रामक बनना पड़ा है उसी प्रकार भारत में भी, जहाँकि और जातियों के साथ बहुत-सी लड़ाका और वीर जातियाँ भी रहती हैं, बहुत करके ऐसी ही घटनायें घटने की सम्भावना है । परन्तु महात्माजी तो पूर्वोक्त विरोधी-ध्रुव (अर्थात् अहिंसा) के सबसे स्पष्ट, महान्, विशुद्ध-हृदय अव्यभिचारी प्रतीक रहेंगे । वास्तव में उस दिशा में अभीतक वह अकेले ही एक विशाल जन-आन्दोलन के प्रतिनिधि हैं । अहिंसा वास्तव में हिन्दुओं के सबसे प्राणभूत

आदर्शों से मिलती-जुलती है; प्राणभूत इसलिए कि भारत के हृदय में इनकी गहरी जड़ जमी हुई है। व्यक्तिगत रूप से मेरी यह पक्की धारणा है कि महात्माजी एक दूसरे कारण से भी एक बड़े ऐतिहासिक महापुरुष होंगे। वह दो विभिन्न युगों के संधि-द्वार पर खड़े हैं। एक ओर तो वह भारतीय ऋषियों के पुराने आदर्श के प्रतीक हैं और दूसरी ओर वह बिलकुल आधुनिक जननायकों की श्रेणी में भी गणनीय हैं। इस सीमा तक तो उनका ऐतिहासिक महत्व जॉन बेपटिस्ट के समान ही है। एकांगी ऋषि का तो मेरी कल्पना में भावी मानव-समाज में, 'वसुधैव कुटुम्बकम्'[१] की संज्ञा देता हूँ, वैसा कोई विशेष भाग अब न हो सकेगा जैसा भूत काल में था। भविष्य का लक्षण होगा : धर्म का और तेज का समन्वय। शौर्य का नम्रता के साथ वरण होगा।

मानव-समाज के भविष्य के उस पुरुष में पूर्णता होगी, आध्यात्मिक और भौतिक शक्तियों का उसमें समन्वित संतुलन होगा। और यदि कोई जीवित है जिसका भाग उस भविष्यत् के पूर्ण पुरुष के निर्माण और आह्वान में सबसे अधिक गिना जायगा तो वह महाव्यक्ति है, युग-संधि का अधिवासी गांधी।

## : २७ :

# जन्मोत्सव पर बधाई

## जार्ज लेन्सबरी

[ मेम्बर पार्लमेण्ट, लन्दन ]

संसार के प्रत्येक भाग के उन करोड़ों मनुष्यों का साथ देने में मुझे प्रसन्नता होती है, जो अक्तूबर १९३९ में महात्मा गांधी के जन्मदिन के बारम्बार मंगलमय पुनरागमन की कामना कर रहे हैं।

उन्होंने एक बड़े आदर्श की तत्परता से सेवा के लिए अपना महान् जीवन लगा दिया है। और अपने और भारत तथा संसार में अपने करोड़ों समर्थकों और मित्रों के जीवन द्वारा दिखला दिया है कि हरेक प्रकार की बुराई और पाप के विरुद्ध निष्क्रिय अहिंसात्मक प्रतिरोध में कितनी महती शक्ति है। जिस युग में उनका जन्म हुआ है उसमें उनसे अधिक लगन और निरंतरता के साथ 'सत्य' का समर्थन करनेवाला दूसरा कोई नहीं हुआ। हमारी यही कामना है कि वह पूर्व का ही नहीं, बल्कि संसार के हरेक भाग के स्त्री-पुरुषों का विश्व-शान्ति, विश्व-प्रेम, सहयोग और सेवा की दिशा में नेतृत्व करते रहने के लिए युग-युग जीते रहें।

**१. लेखक की प्रमुख पुस्तक** ( World in the making ) **का दूसरा अध्याय देखिए।**

: २८ :

# गांधीजी की श्रद्धा और उनका प्रभाव

**प्रोफेसर जान मैकमरे, एम. ए.**

[ यूनिवर्सिटी कॉलेज, लन्दन ]

पिछली सदी में एक अंग्रेज़ कवि ने यह यह लिखना उचित समझा कि—
"पूर्व पूर्व है, पश्चिम पश्चिम; इन दोनों का मिलन कहाँ ?"

जिस समय ये पंक्तियाँ लिखी गई थीं उस समय ये ऐसा मत प्रकट करती थीं, जिसपर गम्भीरतापूर्वक चर्चा भी की जा सकती थी। आज तो यह मत निश्चितरूप से इतना अर्थ और तर्क-हीन है कि यह पद एक ख़ासा मज़ाक बन गया है। मानवजाति के द्रुत गति से एक इकट्ठे होते जाने में बहुत-कुछ वजह तो यातायात के साधनों का विकास है। इसके कारण इतनी सुगमता होगई है कि एक देश के पुरुष को सब देशों के लोग आसानी से जान लेते हैं और वह सहज ही अंतर्राष्ट्रीय ख्याति का बन जाता है। स्वभावतः प्रश्न और विस्मय होता है कि इन आधुनिक ख्यातियों में कितनी समय की कसौटी पर ठहरेंगी और अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त महापुरुषों में से कितने भावी पीढ़ी के मन और हृदय पर ऐतिहासिक महापुरुषों के रूप में अंकित रहेंगे ? शायद ही किसी व्यक्ति के सम्बन्ध में यह बात निश्चित तौर पर कही जा सके। पर एक व्यक्ति ऐसा है जिसके बारे में इस सम्बन्ध में ज़रा-सी भी शंका करनी असम्भव है। वह व्यक्ति महात्मा गांधी है।

मनुष्य की महानता की दिशायें और दशायें अनेक है। पर बड़प्पन का स्थायित्व गहराई में है। इतिहास के महापुरुष वे व्यक्ति हैं जिनका संसार के लिए महत्त्व मानवीय व्यक्तित्व की गहराई से उत्पन्न होता है। ऐसे आदमी की एक ख़ासियत यह मालूम होती है कि लोग उसका भिन्न-भिन्न और आपस में एक-दूसरे से मेल न खानेवाला अर्थ लगाते हैं। मसलन् सुकरात की महत्ता इस बात से प्रकट होती है कि उसके मरने के एक सदी बाद यूनान में बहुत-से दार्शनिक आम्नाय पैदा हो गये, जिनमें आपस में एक-दूसरे से होड़ रहती थी और प्रत्येक सुकरात की सच्ची शिक्षाओं का यथावत् प्रचार करने का दावा करता था। ये महापुरुष, ध्यान की बात है, न तो पुस्तकों के लेखक होते हैं और न, शब्द के साधारण अर्थ में, बड़े कामकाजी और कर्मठ ही होते हैं। पर इन दोनों क्षेत्रों में दूसरों के द्वारा इनका व्यक्तीकरण हुआ करता है। दूसरों से उनके व्यक्ति का जो संस्पर्श होता है वह स्वयं एक विधायक शक्ति होती है। उनके इस

संसार जैसे वह हैं, वह होनाभर ही इस संसार को ऐसा बदल देता है कि वह फिर कभी लौटकर वैसा ही हो नहीं सकता। गांधीजी इसी प्रकार के व्यक्ति हैं। उनका प्रभाव लगभग सब उनके अपने व्यक्तित्व की परिपूर्णता पर अवलम्बित है। उसका प्रकाश दूसरों पर पड़नेवाले उनके असर में प्रकट होता है। वह प्रभाव दूसरे के दृष्टिकोण को बदल देता है और उनकी अंतरंग मानवता, उसकी क्षमता और संभावना को गंभीर बनाता है। एक औलिया, एक राजनीतिज्ञ, एक शांतिवादी, एक प्रजातंत्रवादी, एक सामाजिकक्रान्तिकारी, तथा एक बड़े प्रतिक्रियावादी के से स्थितिपालक—चाहे जिस रूप में उन्हें देखा जा सकता है। उनके जीवन-कर्म के महत्त्व को अमुक पहलू से लेकर वही उन्हें कह देने में असमीचीन कुछ नहीं है। परन्तु इनमें कोई एक उनके प्रभाव के रहस्य को छूता हो, सो बात नहीं। उनका एक-दूसरे से भिन्न होना ही यह सिद्ध करता है कि उनके प्रभाव की महत्ता उस धरातल से, जिसतक कि इस प्रकार का वर्गीकरण पहुँच सकता है, परे है।

महात्मा गांधी के लिए मेरे हृदय में जो आदर व सम्मान है वह उनके विचारों या नीति से सहमत या असहमत होने के कारण नहीं है। मेरे हृदय का आदर-सम्मान तो, बल्कि इसलिए है कि वह ऐसे व्यक्ति हैं कि सिद्धान्त अथवा कार्यक्रम-सम्बन्धी सहमति या असहमति के प्रश्न ही उनके सामने होकर बिल्कुल असंगत पड़ जाते हैं। संसार में वही एक पुरुष हैं जिन्होंने एक बार फिर साधुता और नीतिपरक सत्य-निष्ठा की शक्ति की विधायकता को, एक बड़े पैमाने पर, संसार को खुली आँखों दिखा दिया है। उस युग में जबकि पश्चिमी सभ्यता भौतिक शक्ति में अपने विश्वास के कारण टुकड़े-टुकड़े हो रही है, उस युग में जिसमें कि मानवी एकता की भावना को लोग एक ऐसा आदर्श समझते हैं जो भौतिक शक्तियों के सामने शक्ति-हीन है, महात्माजी नें धन और शास्त्रों की संगठित शक्ति को हराने के लिए नैतिक शक्ति की टेक थाम ली है। अभी उनकी सफलता या असफलता का अनुमान लगाने का समय ही नहीं आया है। पर इस समय भी यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उन्होंने ( नैतिक सिद्धातों में ) अपने इसी विश्वास के बल पर छिन्न-भिन्न भारत को संगठित कर दिया, उस समय जबकि भारत के भाग्य का निर्णय करने का दावा करनेवाली सभ्यता के प्रतिनिधि उसके इसी विश्वास पर से अपनी श्रद्धा हट जाने के कारण छिन्न-भिन्न हो रहे थे। रूसो के आदर्श शासक के समान जो सत्ता न रखते हुए सत्तावान् है! उन्होंने जन-संकल्प को जाग्रत किया और भारत को राष्ट्र बनाया है। अपनी नैतिक साहस की सहज प्रतिभा द्वारा अपने देशवासियों के जनसामान्य में आत्म-सम्मान का भाव भर दिया है। उनमें अपनी मनुष्यता में विश्वास जगाया है। यह करके उन्होंने इतिहास की धारा को ही बदल दिया है और मानव-जाति के एक बड़े भाग के भविष्य को निर्धारित कर दिया है।

: २६ :

# योग-युक्त जीवन की आवश्यकता

**डान साल्वेडोर डी मेड्रियागा, एम. ए.**

[ लन्दन ]

मानव-जाति किसी दिन हमारे युग को ऐसे युग के रूप में देखेगी, जिसमें मानव कलाओं में सबसे कठिन कला अर्थात् शासनकला (और मनुष्य द्वारा प्रतिपादित यह अन्तिम कला होगी) बर्बरता से ऊँची उठनी शुरू हुई। हमारी आँखों के सामने और हमारे पीछे राज्य-शासन की कला बर्बरता से परिपूर्ण है। अगर मुझे विरोधाभास की भाषा का प्रयोग करने दिया जाय तो मैं कहूँगा कि अभी तो लोगों में राज्य-शासन की कला का विचार ही नहीं बना है। शासनकला का उद्देश्य तो यह है कि समाज और व्यक्ति के जीवन की धाराओं में सन्तुलन और समत्व हो। शासन-कला का जो विचार इस समय लोगों के मन में है वह एक अपूर्ण व अपरिपक्व विचार है।

आदि-जातियों की परम्परायें एवं प्रथायें, उनके मुखियाओं के अत्याचारी कार्य, एशिया के पुराने सामन्तों का गौरव, रोम के सम्राटों की नीललोहित (अर्थात् कालिमा लिये हुए) प्रतिभा और रक्तमय आतंक, रोम के पोपों का वर देनेवाला और साथ ही छीन लेने वाला हाथ, मध्ययुग के वीरतापूर्ण और जघन्य युद्ध, साम्राज्य-निर्माताओं और विजेताओं के साहसपूर्ण और जघन्य साहसिक कार्य, आदेश से अनुमति और अनुमति से विवेक तक क़ानून का क्रमागत विकास, उद्योग-धन्धों के गृह-युद्ध और उनके हड़ताल और तालाबन्दी के उग्र और तैयार साधन जिनसे समाज के एक कोने में एक छोटेसे संघर्ष को हल करने में सारा समाज क्रियाहीन होजाता है, राष्ट्र-संघ का उत्थान एवं प्रथम (पर अन्तिम नहीं) पतन, मार्क्सवाद का उत्थान एवं प्रथम (पर अन्तिम नहीं) पतन, यंत्ररूप अत्याचार के प्रतीक फ़ासिज्म एवं नाज़ीवाद का उद्भव—भविष्य की दृष्टि से देखने पर ये सब संघर्ष तथा अन्य अनेक, जिन्हें दिमाग़ पकड़ नहीं सका है, मनुष्य-समाज की उसी चिर-समस्या को सुलझाने के लिए प्रस्तुत किये गये अस्थायी और जल्दी मिटजानेवाले स्वरूप हैं, जो काल (समय) और स्थान (विभिन्न देशों) की परिस्थितियों और निकट आवश्यकताओं के अनुसार बनाये गये हैं। वह समस्या है मानव-समाज व मनुष्य की जीवन-धाराओं में सन्तुलन पैदा करने की समस्या।

मनुष्य अपनी त्वचा को अपने शरीर की सीमा समझ अपने को स्वशासित ही

नहीं, बल्कि स्वतन्त्र प्राणी भी समझता है। पूर्वी देशों के निवासियों की अपेक्षा हम यूरोपियन इस भ्रम में ज्यादा पड़े हुए हैं। परन्तु सभी व्यक्ति कम या अधिक मात्रा में एवं किसी-न-किसी रूप में अपने को स्वतन्त्र घटक समझते हैं। परन्तु थोड़ा भी विचार बताने के लिए पर्याप्त है कि केवल शरीर-शास्त्र की दृष्टि से भी मनुष्य घूमने-फिरने या गमन करनेवाली प्रवृत्तियोंवाला वृक्ष[1] है, जिसने अपनी जड़ें और मिट्टी समेटकर अपने पेट में रखली है ताकि वह चल फिर सके।

जिस प्रकार मूंगे की द्वीप-माला से अथवा मधु-मक्षिका की मक्खी के झुंड से पृथक् कल्पना नहीं की जा सकती उसी प्रकार शरीर-शास्त्रीय दृष्टिकोण के अतिरिक्त अन्य किसी दृष्टिकोण से व्यक्ति की मनुष्य से (अधिक स्पष्ट शब्दों में मनुष्य की मानव-समाज से) अलग कल्पना ही नहीं की जा सकती। वास्तव में मनुष्य समाज या समूह का एक घटक ( unit ) है।

परन्तु मुख्य प्रश्न (समस्या) तो यह है कि इस समाज या समूह के दुहेरे उद्देश्य या ध्येय हैं। (एक तो अपने ध्येय की प्राप्ति और साधना, दूसरा समाज के ध्येय व लक्ष्य की प्राप्ति और साधना) मधुमक्खियों में तो मधुमक्खियों का व्यक्तिगत ध्येय तथा उसे कार्य में प्रवृत्त करनेवाली प्रेरक भावना मधुमक्खी के झुंड के ध्येय से पृथक् नहीं है; परन्तु हमारा विश्वास है (फिर चाहे वह ठीक हो या ग़लत, यह अलग और महत्त्वहीन बात है) कि प्रत्येक व्यक्ति का अपना व्यक्तिगत चरम ध्येय होता है। इसी कारण मनुष्य का जीवन सचमुच एक विराट समस्या बन जाता है। यदि हमें केवल समाज या समूह के हितों का ही विचार करना पड़े तो उसका हल यद्यपि कठिन अवश्य होगा, परन्तु वह समस्या, यों कहें कि, एकमुखी ही होगी। किन्तु जब समूह के हितों और ध्येयों के साथ हमें व्यक्ति के हितों और ध्येयों का भी ध्यान रखना पड़ता है तब तो हमारी कठिनाई वर्गाकार बढ़जाती है।

संक्षेप में सामूहिक जीवन की समस्या की दो धारायें हैं—

व्यक्ति की धारा, जिसको वर्षों में बनायें तो वह ७० वर्ष की होगी।

समाज या समूह की धारा जिसे शताब्दियों द्वारा ही मापा जा सकता है।

इसके साथ ही चर्मध्येय के ध्रुव भी दो हैं—

पहला तो व्यक्ति का जो अपनेको ही अपना अन्तिम ध्येय समझता है और है भी।

दूसरा समूह या समाज का, जो अपने में अपना अन्तिम ध्येय मानता है।

इस व्यवस्था की उलझनें यहीं समाप्त नहीं हो जातीं, क्योंकि इनके अतिरिक्त कुछ समूह और भी हैं, जिनके मनुष्य अंग हैं। इनमें से एक (यानी राष्ट्र) तो आज

**१. कुछ पश्चिमी दार्शनिकों का मत है कि मनुष्य वास्तव में वृक्ष हैं। भेद केवल इतना है कि वृक्ष एक जगह स्थिर रहता है और चल-फिर नहीं सकता; परन्तु मनुष्य चल-फिर सकता है।** —अनुवादक

इतना ज़बर्दस्त होगया है कि वह मनुष्य को कुचले डाल रहा है। राष्ट्र मानव-समुदाय का वह एकत्र रूप है जिसमें मनुष्यों को अधिक-से-अधिक प्राण-शक्ति मिली है। उसकी जीवन-धारा शताब्दियों में मापी जा सकती है। मानव-समुदाय के जितने रूप हैं उनमें यह रूप (राष्ट्र) सबसे ज्यादा देर तक जीनेवाला (चिरायु) हो, सो नहीं है। चिरायु तो वस्तुत: मानव-जाति—इस पृथ्वी पर बसनेवाले सभी मनुष्यों का समाज—ही है। और क्योंकि यह (मानवजाति) सभी काल और सभी स्थानों में व्याप्त है, अत: यही मनुष्य-समाज का सबसे सुस्पष्ट रूप है। इस प्रकार जीवन-धाराओं और चरम-ध्येयों की हमारी सरणी इस प्रकार बनती है:—

| धारायें | चरम-ध्येय |
|---|---|
| मनुष्य | मनुष्य |
| राष्ट्र-विशेष | राष्ट्र-विशेष |
| मानव-जाति | मानव-जाति |

सारा इतिहास सन्तुलन के लिए इन दोनों का संघर्ष ही है। स्वतन्त्रता की पताका के नीचे जितने गृह-युद्ध और क्रान्तियाँ हुई वे मनुष्य की धारा या गति और उसके चरम-ध्येय में सन्तुलन प्राप्त करने के लिए हुईं; तानाशाही (डिक्टेटरशिप) के झण्डे के नीचे जो प्रतिक्रियायें और अत्याचार हो रहे हैं, वे राष्ट्र की गति और चरम-ध्येय में सन्तुलन के लिए और अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध भी विभिन्न देशों के गति-प्रवाहों और ध्येयों में सन्तुलन के लिए ही हुए हैं। पर इन सबके साथ एक और संघर्ष निरन्तर और अनवरत चल रहा है। वह श्रेष्ठतर शान्ति प्राप्त करने और आध्यात्मिक अथवा भौतिक एकता अथवा दोनों को प्राप्त करने के लिए चल रहा है। यह मानव-समाज के गति-प्रवाह और ध्येय में सन्तुलन के लिए है।

अब प्रश्न यह है कि किसी भी युग की अपेक्षा आज यह संघर्ष ही सबसे विकट क्यों होगया है?

इसका उत्तर स्पष्टत: इस वस्तुस्थिति में है कि यद्यपि हमारी सरणी की तीसरी वस्तु, यानी मानव-जाति इतिहास में पहले किसी भी समय की अपेक्षा आज के युग में तीव्र गति से प्रमुख व महत्वपूर्ण स्थान पा गई है, पर (इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए) वह आध्यात्मिक मार्ग की अपेक्षा भौतिक मार्ग पर ही ज्यादा वेग से अग्रसर हुई है।

मानव-जाति ने पहले एकता की ओर अपनी प्रगति के लिए आध्यात्मिक या धर्म का मार्ग ग्रहण किया; परन्तु उसका परिणाम भयंकर और विनाशकारी हुआ। धर्म के अत्यन्त पवित्र मन्त्रों ( सिद्धान्तों ) के विपर्यास से प्रत्येक स्थान में धर्म के कारण संघर्ष, कलह, फूट और रक्तपात हुआ। तब मानव-जाति ने स्वतन्त्र विचार और विवेक-बुद्धि द्वारा प्रत्येक प्रश्न का निर्णय कर लेने की पद्धति से जिसे उन्नीसवीं

शताब्दी में विज्ञान का धर्म भी कहा जाता था, अपने उद्देश्य तक पहुँचने का प्रयत्न किया। इस बार उसे सफलता पूरी मिली, परन्तु वह भी उतनी ही विनाशकारी थी।

सफलता पूरी इसलिए कि मानव-जाति ने प्रकृति की शक्तियों पर आश्चर्य-जनक विजय प्राप्त करने और वैज्ञानिक सत्य की रक्षा के लिए एकता के अन्य सब आदर्शों का ( यहाँ धार्मिक आदर्शों की ओर निर्देश है ) परित्याग करके मानव-जाति की एकता प्राप्त की। मानव-जाति इतनी सर्वव्यापक पहले कभी नहीं थी, जितनी कि वह आज है। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम भाग में वैज्ञानिक आविष्कारों की लहर के साथ उसकी संख्या अंकगणित के परिमाण से बढ़ी; पर आजकल तो वह वस्तुतः ही बढ़ गई है; क्योंकि आवागमन की इतनी अधिक शक्ति उसे प्राप्त है कि वह अपने को सर्वव्यापक अनुभव कर सकती है। संख्या और गमन-गति में वृद्धि से घनता भी बढ़ी है। आज मानव-समाज का शरीर बहुत विस्तृत हो गया है; साथ ही उसमें एकता की भावना और चेतनता भी बढ़ी है, पर उतनी मात्रा में नहीं।

और यह उन्नति विनाशकारी इसलिए हुई कि उक्त श्रृंखला के दूसरे दो अंगों - मनुष्य और राष्ट्र ने इस परिवर्तन को स्वीकार नहीं किया। वे व्यक्ति और राष्ट्र अपने-ही-अपने में चरम-ध्येय हैं, इसीकी चेतन अथवा अर्द्ध-चेतन भावना में वे बद्ध रहे, मानों उनका बृहद् मानव-जाति से कोई सम्बन्ध ही नहीं था।

यही कारण है कि मानव-जीवन के व्यक्तिगत, राष्ट्रीय और सार्वलौकिक तीन रूपों में समन्वय सन्तुलन आज इतना कठिन हो रहा है। पर मानव-समाज के इतिहास में तो यह चिरसमस्या है।

जब कभी समाज में सन्तुलन के भंग होने की आशंका पैदा होती है, जिससे कि समाज के उपादनभूत एक या अन्य ध्येय खतरे में पड़ जायँ, तब समाज उस सन्तुलन को बनाये रखने के लिए बल-प्रयोग की प्रणाली चलती है। इस प्रकार अपने नैतिक आदर्श से भटककर मनुष्य ने ज़बर्दस्त समाज को, स्वस्थसमाज अथवा अधिक स्पष्ट शब्दों में, दमन करने, कुचलने तथा एकाधिकार जमानेवाले समाज को ज़बर्दस्त समाज समझने की भूल की। परन्तु यह स्पष्ट ही है कि समाज की उन्नति बल-प्रयोग के क्रमशः ह्रास में होती है। समाज पूर्णता की ओर उतना ही विकसित होता जाता है जितनी उसके सुचारु संचालन में बल-प्रयोग और दबाव की मात्रा कम होती है।

अतः समाज के प्रति बल-प्रयोग मनुष्य-शरीर के प्रति शल्य-प्रयोग के समान एक कृत्रिम साधन है, जो तत्काल के लिए वह काम कर देता है जिसे रुग्णकाय की जीवन-शक्ति स्वयं अन्दर से करने में असमर्थ है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यह समस्या सन्तुलन के आधार पर ही हल की जा सकती है। और क्योंकि मनुष्य, राष्ट्र और मानव-समाज का परस्पर समन्वय-सन्तुलन ही निश्चित ध्येय है, अतः न तो उदारतावाद, न सत्तावाद ( चाहे सत्ता

संसार के सामने अहिंसा की शक्ति प्रत्यक्ष कर दिखाई। यह उस संसार के सामने एक महान् उदाहरण था, जो तलवार की शक्ति के सिवाय और किसी शक्ति को मानता ही नहीं, और प्रत्यक्षतः यह बात स्वीकार करने में असमर्थ है कि हिंसा से हिंसा की समाप्ति नहीं, बल्कि वृद्धि होती है।

मैं यह बखूबी जानती हूँ कि अहिंसा का सिद्धान्त महात्माजी ने नया नहीं निकाला। वह तो एक धार्मिक मंतव्य के रूप में भारत में सदियों से मौजूद था। लेकिन जैसा कि श्री ब्रेल्सफ़ोर्ड ने कहा है, उन्होंने 'पश्चिमी शिक्षा-दीक्षा और आचरण की लहर के विरोध में' उसकी पुनः स्थापना की और इस प्रकार अपने देशवासियों के नेता के रूप में उनकी नैतिक शक्ति अत्यन्त प्रभावशाली हो उठी। १९३० के राष्ट्रीय आन्दोलनों में उन्होंने अपने लाखों-करोड़ों अनुयायियों को एक राजनैतिक विधि ही नहीं, बल्कि एक गहरी धार्मिक श्रद्धा भी दी, जैसी कि ईसामसीह ने पहले के उन ईसाइयों को दी थी, जो 'सत्य' की अपनी ईश्वर-प्राप्त व्याख्या की खातिर शहीद हो गये।

उन्होंने भारत की जनता को बन्दूकों और मशीनगनों की शक्ति नहीं दी जिसका प्रयोग उसके दमनकारी करते थे; बल्कि वह शक्ति दी जो जनता के व्यक्ति-व्यक्ति में अन्तर्निहित है, जो युद्धों से पीड़ित इस संसार को अभी प्राप्त करनी है और जिसका यदि पूर्णता के साथ उपयोग किया जाय तो वह युद्धों को असम्भव बना सकती है। राजनीतिज्ञ और युद्ध-प्रेमी लोग, अपने उद्देश्यों की सिद्धि के लिए हिंसात्मक साधनों का प्रचार करते समय एक बात को भूल जाते हैं और वह यह कि मनुष्य का स्वतन्त्रता में से विश्वास उठ नहीं सकता। संक्षेप में, बन्दूक और मशीनगनें मनुष्य की या राष्ट्र की आत्मा को नष्ट नहीं कर सकतीं। किसी राष्ट्र को कुचल कर ग़ुलाम बनाया जा सकता है, परन्तु 'शक्ति' के बूटों की ठोकरें स्वतंत्रता की जीवित भावना को निर्मूल नहीं कर सकतीं। वे कुछ समय के लिए उसे आँखों से ओझल कर सकती हैं, ज़मीन-तले छिपाकर रख सकती हैं, पर वह अंधेरे में भी चुपचाप बढ़ती रहती और पुनः शक्ति प्राप्त कर लेती है। और एक दिन आता है जब वह प्रज्ज्वलित हो उठती और मानव-जाति के लिए पथ-प्रदर्शक ज्योति बन जाती है।

जिस मनुष्य का अपनी आत्मा पर अधिकार है, उसे गुलाम नहीं बनाया जा सकता। उसका शरीर नष्ट होजाने से तो उसकी आत्मा अधिकाधिक शक्तिशाली होती जाती है। सूली पर चढ़ा हुआ ईसामसीह उस ईसामसीह को अपेक्षा कहीं अधिक शक्तिशाली था जिसके विजयोत्सवों के जुलूसों के मार्ग में लोग ताड़ के पत्ते बिछा देते और आकाश-मण्डल को जय-जयकार के स्वर से गुंजा देते थे।

हिंसा का जवाब हिंसा से देना तो उस अत्याचारी के निम्न धरातल पर उतर आना है, जो शक्ति की नाप केवल मृत्यु और विनाश द्वारा करता है। अहिंसात्मक उपायों की शक्ति जीवन की, उस आत्मा की शक्ति है, जिसकी पिपासा कभी शान्त

नहीं होती। हम कह सकते हैं कि अपनी शिक्षा से गांधीजी ने भारत की 'आत्मा' को मुक्त कर दिया है। नीच और नगण्य दासों से भारतवासी फिर मनुष्य होगये हैं। वे अपना मस्तक ऊँचा उठाकर अपनी आँखों में आशा और विश्वास की ज्योति लिये हुए, अपने दमनकारियों द्वारा अपनाये हुए नीच साधनों की उपेक्षा करके अपनी अन्तिम मुक्ति की ओर कूच करने में समर्थ एक राष्ट्र बन गये हैं। महिलाओं ने अपनी दासता का प्रतीक परदा उतार फेंका और उन्होंने भी स्वतन्त्रता के लिए इस रक्तहीन संग्राम में पुरुषों के कंधे-से-कंधा भिड़ाकर काम किया। उनमें गर्व के साथ नम्रता थी, नम्रता के साथ गर्व था। आत्म-सम्मान की भावना उनमें फिर से भर गई थी और क्योंकि उनके हृदय में स्वतन्त्रता की पवित्र ज्योति जगमगा रही थी, अतः वे मुक्त थीं। सभी अवस्थाओं के स्त्री-पुरुषों ने अनुभव किया कि जीवन वस्तुतः एक 'पवित्र ज्योति' है, और अपने अभ्यन्तर में स्थित एक अदृश्य सूर्य के प्रकाश से ही हम अपने जीवन-पथ पर चलते हैं और इस अनुभूति के प्रकाश में पराजय का नाम भी नहीं है।

सन् १९३० में राष्ट्रवादी भारत ने अहिंसा की शक्ति को एक व्यावहारिक राजनैतिक अस्त्र के रूप में सफलतापूर्वक सिद्ध कर दिखाया। वह मनुष्य की आत्मा की महान् विजय का भी प्रदर्शन था। हज़ारों-लाखों आदमी जेलों में ठूँस दिये गये, उनपर पाशविक अत्याचार किये गये; परन्तु यह सब भारतीय जनता की उस महान् नैतिक जाग्रति के ज्वार-भाटे को रोक न सका।

यह समझने के लिए, कि अहिंसा का मूल्य एक राजनैतिक अस्त्र से बढ़कर है, यह जान लेना आवश्यक है कि महात्माजी तप और त्याग पर इतना ज़ोर क्यों देते हैं। यह बात भी साफ़ तौरपर समझने की है कि 'अहिंसा' प्रेम के तत्वज्ञान और सत्य की साधना सिद्धान्त के साथ इस प्रकार जुड़ी हुई है कि उसे अलग नहीं किया जा सकता। वस्तुतः विश्व-प्रेम का नाम ही अहिंसा है। इन्द्रियों के दमन और आत्मा के विकास का सिद्धान्त कोई नया सिद्धान्त नहीं है। यह तो ईसामसीह की शिक्षा का भी एक अंग था। पर महात्मा गांधी ने आज के जीवन में इसे घटित करके दिखा दिया है और इससे उनकी गणना सन्तों, महापुरुषों और प्रभावशाली नेताओं में हुई है।

महात्मा गांधी की शिक्षाओं का यह एक मुख्य भाग है कि मनुष्य किसी बुराई को मिटाने या किसी झगड़े को निपटाने के लिए जितना ही अधिक हिंसा से काम लेगा उतना ही वह सत्य से परे हटता जायगा। वह कहते हैं कि वह बाहरी शत्रु पर आक्रमण करके भीतर के शत्रु की अपेक्षा कर देते हैं। "हम चोरों को इसलिए दण्ड देते हैं, कि वे हमें तंग करते हैं। कुछ समय के लिए वे हमें छोड़ देते हैं, पर होता यह है कि अपना ध्यान हमपर से वे हटाकर दूसरे शिकार पर केन्द्रित कर देते हैं। यह दूसरा शिकार दूसरे रूप में हम ही हैं। इस प्रकार हम एक चंडाल-चक्र में फँस जाते हैं।...कुछ समय बाद हम यह अनुभव करने लगते हैं कि चोरों को सह लेना उन्हें दंड देने से अच्छा है। अगर हम उन-

को दरगुज़र करते जायेंगे तो आशा है कि उनकी बुद्धि आप ही ठिकानें आजायगी। जब हम उन्हें सहन करते हैं तब हम आप ही यह अनुभव करने लगते हैं कि चोर हमसे भिन्न नहीं, बल्कि हमारे ही सगे-सम्बन्धी और मित्र हैं और उन्हें दंड नहीं दिया जा सकता।"

नैतिक दृष्टि से उनके अहिंसा के तत्त्वज्ञान का यही सार है और इसी रूप में हम उसे युद्ध या स्वतंत्रता के लिए सामाजिक संग्राम में भी लागू कर सकते हैं। गांधीजी दैनिक जीवन की तथा संसार की समस्याओं के हल के लिए अहिंसा के उपयोग में भेद नहीं करते। वह स्वीकार करते हैं कि अहिंसा के मार्ग में निरन्तर कष्ट-सहन और अनन्त धैर्य की आवश्यकता हो सकती है। लेकिन वह बतलाते हैं कि इसके फल-स्वरूप मन की शान्ति और साहस की अधिकाधिक वृद्धि होती है। हम यह भेद करना सीख लेते हैं कि कौनसी वस्तु मूल्यवान् और स्थायी है और कौनसी नहीं। दैनिक जीवन को नियंत्रित करनेवाला यह साधुओं का-सा तप, पश्चिमी सभ्यता के लिए उतना ही दुर्बोध है, जितनी कि ईसाइयत। ध्यान रहे, मैंने ईसाइयत का ज़िक्र किया है, "पॉलीएनिटी" (सन्त पॉल द्वारा चलाया हुआ धर्म) का नहीं। तो भी पीड़ित मानव-जाति को घृणा की जगह विश्व-प्रेम को अपनाने और हिंसा का सर्वथा परित्याग करने से ही शान्ति की प्राप्ति हो सकती है और उस शान्ति का अर्थ केवल युद्ध का अभाव नहीं, बल्कि मानव-सुख के लिए आवश्यक आन्तरिक शान्ति है।

महात्मा गांधी का बीसवीं शताब्दि के उस अद्वितीय सन्त के रूप में अभिवादन करना चाहिए जो अपनी शिक्षा और अपने उदाहरण द्वारा उस संसार में शान्ति का मार्ग-दर्शन कर रहे हैं, जो अगर उसकी शिक्षाओं पर ध्यान न देगा तो नष्ट होजायेगा। यद्यपि उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन द्वारा भारत की महान् सेवायें की हैं और उनके उपवासों का राजनीति पर बहुत प्रभाव पड़ा है, तो भी उन्हें एक राजनैतिक नेता नहीं, बल्कि एक आध्यात्मिक नेता और शिक्षक मानना चाहिए। उनके तथाकथित राजनतिक कार्य, उनके नीतिशास्त्र और दार्शनिक मन्तव्यों का एक स्वाभाविक परिणाम है।

किसी सन्त का आदर और स्तवन करने के लिए आवश्यक नहीं कि हम उसके आचार-विषयक सिद्धान्तों का समर्थन ही करें। महात्माजी ने अहिंसा की जो व्याख्या की है उसमें अगर विरोधी भौतिकवाद के अनुयायियों को जीवनविहीनता की गन्ध आये, तो भी यह मानना पड़ेगा कि आध्यात्मिक धरातल पर, जिसपर कि महात्माजी का सारा आग्रह है, स्थिति इससे ठीक विपरीत होती है। महात्माजी नें स्वयं कहा है कि प्रत्येक धर्म ने महान् स्त्री-पुरुष उत्पन्न किये हैं। आज के संसार में तो महात्मा गांधी हमारे बीच अहिंसा की शक्ति के जीवित उपासक के रूप में एक प्रखर ज्योति के समान जगमगा रहे हैं। "दूसरों का तो दोष-दर्शन हुआ है, किन्तु तू इस से परे है।... तेरा ज्ञान सर्वोच्च है।"

गांधीजी का ज्ञान सब मनुष्यों, और सब काल के लिए है।

: ३१ :

## गांधीजी और बालक

### डॉ० मेरिया मॉन्टीसरी, एम. डी., डी. लिट्

[ लन्दन ]

महात्मा गांधी के निकट रहनेवाले उन्हें जिस रूप में देखते हैं, उससे बिलकुल भिन्न रूप में हम यूरोपियन उन्हें देखते हैं। हम जब रात को एक तारा देखते हैं, तो वह हमें एक छोटी-सी चमकदार टिमटिमाती हुई-सी चीज़ मालूम देती है, लेकिन अगर किसी तरह हम उसके पास जा सकें तो वह छोटी या ठोस चीज़ मालूम न होगी, बल्कि भौतिक पदार्थ से हीन एकरंग और ज्योति का एक पुंज दिखाई देगा।

हम यूरोपियनों को भी गांधी एक मनुष्य-सा ही—एक बहुत छोटा मनुष्य जो सिर्फ एक लंगोटी लगाये रहता है—लगता है। यूरोप के कोने-कोने में एक-एक बच्चा उसे जानता है। जब भी कोई आदमी उसका चित्र देख लेता है, वह फ़ौरन अपनी भाषा म चिल्ला उठता ह—"यह गांधी है।"

पर हम यूरोपियन, जो उससे बहुत दूर और उससे बिलकुल भिन्न एक सभ्यता में रहते हैं, उसके वारे में क्या ख़याल करते हैं? यूरोपियन उसे शान्ति का उपदेश देने वाले एक मनुष्य के रूप में जानते हैं। परन्तु वह यूरोप के शान्तिवादियों से भिन्न है। हमारे यूरोपियन शान्तिवादी बहस करते और इधर-उधर हड़बड़ाये हुए भागते फिरते हैं। उन्हें बहुत-सी सभाओं में भाग लेना होता है और पत्रों में लेख लिखने होते हैं। परन्तु गांधीजी कभी उतावले नहीं होजाते। कभी-कभी वह जेल में रहते हैं, जहाँकि वह बहुत कम बोलते और बहुत कम खाते हैं। लेकिन फिर भी भारत के लाखों-करोड़ों आदमी उनके पीछे-पीछे चलते हैं, क्योंकि वे उनके अन्तःकरण को पहचानते हैं।

उनकी आत्मा उस महान् शक्ति के समान है, जिसमें मनुष्यों का एकीकरण करने की शक्ति है, क्योंकि वह तो उनकी आन्तरिक अनुभूतियों पर अपना असर डालती है और उन्हें एक दूसरे के निकट खींचती है। यह रहस्यमय और चमत्कारक शक्ति 'प्रेम' कहलाती है। प्रेम ही वह शक्ति है, जो मनुष्यमात्र को वास्तव में एक कर सकती है। बाहरी परिस्थितियों और भौतिक हितों से बाध्य होकर मनुष्य परस्पर संगठित होते हैं, पर उनमें प्रेम नहीं होता और बिना प्रेम के संगठन स्थिर नहीं रहता और ख़तरे की ओर जाता है। मनुष्यों को दोनों प्रकार से संगठित होना चाहिए—एक तो आध्यात्मिक शक्ति से जो एक दूसरे की आत्मा को अपनी ओर खीचे और दूसरे भौतिक संगठन द्वारा।

कुछ साल पहले जब गांधीजी यूरोप गये थे तब भारत लौटते समय कुछ दिनों के लिए रोम ठहरे थे। इसका मेरे हृदय पर बड़ा गहरा असर हुआ। मैंने देखा कि गांधीजी में से एक अगम्य शक्ति प्रस्फुटित होती थी। जब वह लन्दन में थे, मेरे स्कूल के बालकों ने उनके सम्मानार्थ उनका स्वागत किया। जब वह फ़र्श पर बैठे हुए तकली कात रहे थे, सब बच्चे उनके चारों ओर बड़ी शान्ति के साथ बैठे रहे। वयस्क पुरुष भी इस स्वागत के समय, जिसे हम कभी नहीं भूल सकते, चुपचाप और स्थिर बैठे हुए थे। हम सब एक साथ थे। यही हमारे लिए काफ़ी था। नाचने, गाने या भाषण देने की ज़रूरत ही नहीं थी।

लेकिन मुझपर तो उस समय बहुत प्रभाव पड़ा जब मैंने कुछ कुलीन महिलाओं को सवेरे साढ़े चार बजे महात्माजी को प्रार्थना करते देखने और उनके साथ प्रार्थना करने के लिए जाते देखा। एक दूसरी महत्त्वपूर्ण घटना यह हुई कि रोम-प्रवास के दिनों में वह एक गांव के एकान्त मकान में ठहरे हुए थे। एक दिन सवेरे एक युवती पैदल चलती हुई वहाँ आई। वह गांधीजी से एकान्त में बातचीत करना चाहती थी। वह थी इटली के सम्राट् की सबसे छोटी पुत्री राजकुमारी मेरिया !

हमें इस आध्यात्मिक आकर्षण के विषय में अवश्य विचार करना चाहिए। यही शक्ति है, जो मानवता की रक्षा कर सकती है। केवल भौतिक हितों के बन्द रहने के बजाय हमें परस्पर इस आकर्षण का अनुभव करना सीखना चाहिए। पर यह हम सीखें कैसे ?

जिस तरह सारे संसार में प्रकाश की सर्वव्यापी किरणें मौजूद हैं, उसी तरह हमारे चारों ओर यह आत्मिक शक्तियाँ भी विद्यमान रहती हैं। लेकिन ये सर्वव्यापी किरणें ख़ास-ख़ास यन्त्रों द्वारा ही, जिनके द्वारा कि हम उन्हें देख सकते हैं, केन्द्रित की जा सकती हैं। पर ये यन्त्र इतने दुर्लभ नहीं हैं, जैसा कि हम ख़याल करते हैं। ये यन्त्र बच्चे हैं ! जिस प्रकार हम आकाश में गरमी और प्रकाश के पुंज के तारे को एक छोटे-से चमकदार बिन्दु के रूप में ही देखते हैं; ठीक उसी प्रकार अगर हमारी आत्मा बच्चे से बहुत दूर है तो हम उसका छोटा-सा शरीरमात्र ही देख सकते हैं। अगर हम उसके चारों ओर चक्कर लगानेवाली रहस्यमयी शक्ति को अनुभव करना चाहते हैं तो हमें उसके अधिक नज़दीक पहुँचना चाहिए।

बच्चों के जिनसे कि हम वास्तव में बहुत दूर हैं, आध्यात्मिक रूप से निकट पहुँचने की कला में एक ऐसा रहस्य है जो संसार में विश्व-भ्रातृत्व पैदा कर सकता है। यह एक ईश्वरीय कला है, जो मानवजाति को शांति देगी। बच्चे तो बहुत-से हैं। वे असंख्य हैं। वे एक तारा नहीं हैं। वे तो आकाश-गंगा के समान हैं—उस तारिका-पुँज के समान हैं, जो आकाश में एक ओर से दूसरी ओर को घूमते हैं।

गांधीजी के जन्म-दिन पर मैं उनसे एक ही प्रार्थना करूँगी कि वह भारत में

और संसार में बच्चे का मान करें और अपने अनुयायियों को, जो उनकी शक्ति और उनकी शिक्षा में विश्वास रखते हैं, बच्चे में विश्वास करने के लिए प्रेरित करें।

## : ३२ :

# महात्मा गांधी का विकास

### आर्थर मूर

[ सम्पादक, स्टेट्समेन, दिल्ली-कलकत्ता ]

सत्तर वर्ष की आयु में भी महात्माजी चालीस वर्ष की आयु के बहुत-से आदमियों से उत्साह में अधिक युवा हैं। वह अब भी एक विद्यार्थी और परीक्षार्थ प्रयोग करनेवाले हैं। यह सच है कि उनके अपने कुछ सिद्धान्त हैं; परन्तु उनकी सीमायें संकुचित नहीं हैं। और मुझे यह मानना चाहिए कि उन्होंने हमेशा सत्य की खोज को अपना मुख्य लक्ष्य रक्खा है। उस सत्य का उपदेश और दूसरों का नेतृत्व या सार्वजनिक कार्य उनका गौण कार्य है। जब-जब वह लम्बे समय के लिए सार्वजनिक नेतृत्व से अलग हो जाते हैं, तब-तब वह सत्य के उज्ज्वल प्रकाश की ही तलाश करते हैं।

मैं उनसे पहली बार दिल्ली में सितम्बर १९२४ में मिला। उस समय वह हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए इक्कीस दिन का उपवास कर रहे थे। उनके मित्रों को उनके जीवन की भारी चिन्ता थी। मौलाना मुहम्मदअली प्रत्येक व्यक्ति को, जिसका नाम उन्हें याद आता जाता था, 'एकता-सम्मेलन' में भाग लेने को दिल्ली आने के लिए तार देते जाते थे, ताकि महात्माजी को यह जानकर कुछ सान्त्वना प्राप्त हो कि उनके उपवास का एकदम असर पड़ा है और आपस में लड़ती रहनेवाली दो जातियों में एकता कराने के लिए फौरन ही असाधारण प्रयत्न आरम्भ हो गये हैं। उस साल गर्मियों में लगातार बहुत-से साम्प्रदायिक दंगे हुए थे। मैं भी उन व्यक्तियों में से था जो निमन्त्रण पाकर दिल्ली आये थे। जिस दिन मैं आया, बड़े सवेरे ही मेरे होटल के सोने के कमरे में मौलाना मुहम्मदअली मुझे मिले और मुझसे कहा कि मैं आपको एकदम गांधीजी के पास ले जाना चाहता हूँ। महात्माजी रिज में स्व० ला० सुल्तानसिंह के मकान में श्री सी. एफ़. एण्ड्रूज़ आदि परिचर्य्या करनेवालों के बीच लेटे थे। वह कमजोर थे, परन्तु मुस्करा रहे थे। हम दोनों में कुछ देर बातचीत हुई, परन्तु महात्माजी ज्यादा बोल नहीं सकते थे और अब तो मुझे याद भी नहीं कि उन्होंने क्या कहा था। पर उनकी मूर्ति इस समय भी मेरे हृदय पर उतनी ही स्पष्टता से अंकित है। वह सम्पर्क बहुत घनिष्ठ और आनन्दप्रद था। उसके बाद पिछले सालों में यद्यपि मुझे उनसे बातचीत करने का मौक़ा छः या सात बार से ज्यादा न पड़ा

होगा, परन्तु उस समय उन्होंने जो मित्रता तथा घनिष्ठता की भावना प्रदर्शित की वह मेरे मन पर सदा अंकित रहेगी। एक पत्रकार की हैसियत से और कुछ दिन केन्द्रीय असेम्बली में कांग्रेस-विरोधी दल के सदस्य की हैसियत से मुझे उनके कार्यों और ख़ासकर १९३०-३२ के कार्यों व नीति की आलोचना करनी पड़ी और यथाशक्ति उनका विरोध भी करना पड़ा। परन्तु इस सबका उस व्यक्तिगत सम्बन्ध पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। कभी-कभी हम दोनों में पत्र-व्यवहार भी हुआ है। मैं हमेशा साफ़-साफ़ बातें लिखता और वह सदा सहानुभूतिपूर्ण उत्तर देते। सन् १९२७ और १९२९ में उनकी आत्मकथा के दो भाग निकले और मुझे उनकी विस्तृत आलोचना लिखनी पड़ी। खादी की जिल्द चढ़ी हुई और अहमदाबाद में उनके अपने प्रेस में सुन्दर और स्पष्ट छपी हुई दोहरी जिल्दें ('सत्य के प्रयोग' या 'आत्मकथा') बड़ी रोचक, समान् साहित्यिक कृति हैं। उनको पढ़ने के बाद मैंने अनुभव किया कि इस रहस्यमय शक्ति के सम्बन्ध में मेरा ज्ञान बहुत बढ़ गया। उनके मन की गति सरल नहीं है और आसानी से समझ में नहीं आ सकती। परन्तु इन पुस्तकों की भाषा बहुत स्पष्ट है। इसके साथ ही, बहुत से अवसरों पर उनके कामों की सरलता, काम करने का सीधा ढंग और वक्तव्यों की स्पष्टता उतनी ही असाधारण और अमूल्य होती है जितनी कि दूसरे मौक़ों पर उनके विचारों और युक्तियों की सूक्ष्मता और गूढ़ता।

महात्माजी के जीवन के दो रूप हैं—एक राजनैतिक नेता का और दूसरा धार्मिक नेता का। अपने देशवासियों के राजनैतिक नेता के रूप में उन्होंने अपना जीवन उनमें राष्ट्रीय भावना भरने, उनका नैतिक बल बढ़ाने, उन्हें आत्म-सम्मान की शिक्षा देने और स्वेच्छा से त्याग व बलिदान की उनमें भावना भरने में लगाया। इस सबके साथ उन्होंने अपने तप और अपरिग्रह के आधार पर जनता से अपील की। पूर्वी देशों में ख़ासकर भारत में, जहाँ धन और भौतिक इच्छाओं के क्रमशः परित्याग द्वारा आत्मदर्शन तक पहुँचने की शिक्षा दी जाती है, तप और अपरिग्रह बहुत महत्त्वपूर्ण समझे जाते हैं। अपनी पुस्तक में उन्होंने लिखा है कि मेरे राजनैतिक अनुभवों का मेरे लिए कोई विशेष मूल्य नहीं है, परन्तु आध्यात्मिक जगत् में 'सत्य के प्रयोगों' ने ही मेरा वास्तविक जीवन बनाया है। १९२७ तक की कठोर जीवन-यात्रा की कहानी में, एक दृष्टि से, वास्तव में उन्होंने अपनी सफलता को स्वीकार किया है। तीस वर्षों से वह 'आत्म-दर्शन' और 'ईश्वर का साक्षात्कार करने और मोक्ष प्राप्त करने' के लिए प्रयत्न व उद्योग कर रहे हैं। इसके लिए उन्होंने अहिंसा, ब्रह्मचर्य, निरामिष भोजन और अपरिग्रह का परीक्षण व प्रयोग किया और तलवार की धार के समान तंग व तीक्ष्ण मार्ग पर चले। लेकिन इतने वर्षों के बाद भी उनका कहना है कि मैं पूर्ण सत्य "ईश्वर' की एक झलकमात्र" देख पाया हूँ। यद्यपि उन्हें यह पूर्ण विश्वास हो गया है कि ईश्वर है और वही चरम सत्य है, परन्तु उन्हें अभी पूर्ण सत्य या ईश्वर के दर्शन नहीं हुए।

महात्मा गांधी एक 'प्यूरिटन'[१] हैं, जिन्हें जैसाकि उन्होंने हमसे कहा है, 'ओरिजिनल सिन[२] ( मूल पाप ) के सिद्धान्त की सचाई में पूरा-पूरा विश्वास है। अन्य सब तपस्वियों के समान वह भी मनुष्य-जीवन को त्यागों की एक शृंखला मानते हैं, ईश्वर का यश प्रकट करने के लिए धन्यवादपूर्वक सांसारिक सुखों का उपभोग करने की वस्तु नहीं। उनके विचार से स्त्री-पुरुष-सम्बन्धी काम-वासना ही सारी बुराइयों की जड़ है। महात्मा गांधी के एतद्विषयक विचार तथा ब्रह्मचर्य पर लिखे गये उनके अध्यायों के विषय में यही कहा जा सकता है कि वे वर्तमान मनोविज्ञान और चिकित्सा-शास्त्र के सिद्धान्तों के इतने विरोधी हैं कि जिसकी आज के ज़माने में कल्पना ही नहीं की जा सकती। मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों को वह बिलकुल शर्मनाक समझते हैं और इनका उनकी राय में एक ही उपचार है। वह है उनका दमन और अत्यधिक दमन। उनका कहना है कि "अपरिग्रह की तो कोई सीमा ही नहीं है।" और वह स्वयं इस बात से बहुत दुखी हैं कि वह अभीतक दुग्ध-पान, जिसे वह ब्रह्मचर्यव्रत के पालन के लिए बहुत हानिकर वस्तु समझते हैं, नहीं छोड़ सके। उनके सिद्धांतानुसार ताजे फल और सूखी मेवा ही "ब्रह्मचारी का आदर्श भोजन" है। परन्तु जितना अधिक-से-अधिक सहन किया जासके, उतना उपवास इन सबसे अच्छा है।

यह कोई आश्चर्य की बात न होती यदि जनता की पहुँच से बहुत दूर के इन आदर्शों के कारण महात्माजी भी ईसाई सन्तों के समान असहिष्णु और कठोर बन जाते। लेकिन इस तरह की कोई बात नहीं हुई। संयम के सभी कठिन अभ्यासों के बावजूद, जिनसे उन्होंने जीवन को अपने ही लिए एक कठिन वस्तु बना लिया है, उनके होते हुए भी चरित्र में वह मृदुता और प्रेम है जिसने उन्हें इतनी भारी शक्ति दी है। सत्य के पवित्र दर्शन करने की पिपासा के होते हुए भी उनका सबसे उत्तम गुण—मानवसमाज के प्रति उनका सच्चा प्रेम है। एक ओर उन्हें निर्दयता और अत्याचार से घृणा है तो दूसरी ओर बीमारी और गंदगी से। तप की भावना से ही उन्होंने कभी किसी नाच-घर में पैर नहीं रक्खा। उनके जीवन के प्रारम्भिक दिनों की कहानी में हम उन्हें तरह-तरह के नये तजुरबों और मौज की ज़िन्दगी से पीछे हटता हुआ पाते हैं।

इंग्लैण्ड में विद्यार्थीजीवन में ही उनकी अपने सनातन धर्म में श्रद्धा और भक्ति बढ़ी और उन्होंने वहीं पहलेपहल सर एडविन आर्नल्ड के अनुवाद द्वारा गीता का परिचय प्राप्त किया।

**१. रानी एलिजबेथ के समय का एक ब्रिटिश सम्प्रदाय, जो राजनीति में भी जीवन की शुद्धता तथा धार्मिकता पर जोर देता था।**

**२. बाइबिल में आदम को मानव-जाति का आदिपितामह मानकर कहा गया है कि वह पापी था, और उसके पाप का अंश पितृ-परम्परा से मनुष्य-मात्र में आ गया है। इस कारण मनुष्य-प्रकृति स्वभाव से ही पतित है। इसी को 'ओरिजिनल सिन' कहते हैं।**

अब भी जब मैं ये पक्तियाँ लिख रहा हूँ एक बहुत महत्त्वपूर्ण घटना घटी है। महात्मा गांधी अब एक नये युग में प्रवेश कर रहे जान पड़ते हैं।

हाल ही में महात्मा गांधी ने लिखा है कि राजकोट के अनुभवों के परिणाम-स्वरूप उन्हें नया प्रकाश मिला है। वह नई रोशनी क्या है, इसका स्वरूप अब बताया गया है और वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। महात्मा गांधी का पिछले वर्षों में हिन्दू-जनता पर बहुत प्रभाव रहा है और भारत के वर्तमान इतिहास के निर्माण में उनका जो भाग है, उसमें कोई सन्देह नहीं कर सकता। कुछ वर्षों के व्यवधान से उन्होंने दो सविनय आज्ञाभंग आन्दोलनों को जन्म दिया, जिन्होंने देश में उथल-पुथल मचा दी और अधिकारियों के लिए भारी चिन्ता पैदा कर दी। इसके अलावा इन आन्दोलनों नें देश पर अपने प्रभाव की वह धारायें छोड़ी जो उनके समाप्त हो जाने के बाद भी आजतक काम कर रही हैं। अतः महात्मा गांधी के सिद्धान्त और उनकी शिक्षाओं में—इस बड़ी अवस्था में जबकि उनका कांग्रेस और जनता के मन पर एकच्छत्र अधिकार प्रत्यक्ष गोचर हुआ है—मौलिक परिवर्तन होना वस्तुतः एक महत्वपूर्ण घटना है। इसका प्रभाव भारत पर ही नहीं ससार में अन्यत्र भी पड़ेगा, क्योंकि महात्मा गांधी अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त व्यक्ति हैं और उनके अनुयायी सारे संसार में हैं।

दूसरे लोगों के साथ मैंने भी अहिंसात्मक असहयोग के सिद्धान्त के आध्यात्मिक दावे की आलोचना की है, क्योंकि वह शारीरिक और मानसिक हिंसा के बीच एक आध्यात्मिक भेद मानता है। यह अहिंसात्मक असहयोग निश्शस्त्र मनुष्यों की लड़ाई का ही एक तरीका है। बहिष्कार व हड़ताल से, जो इस असहयोग के अंग भी हैं, इसकी तुलना की जा सकती है। इसके उपाय की सफलता या असफलता दो बातों पर निर्भर है। एक तो अपने और विरोधी के संगठन का बल, दूसरे संघर्ष के मुख्य उद्देश्य की महत्ता। लेकिन यह निश्चित है कि यह उपाय सशस्त्र-विद्रोह या युद्ध से अधिक आध्यात्मिक हथियार नहीं है। ईसाइयों के लिए तो यह बात साफ ही है कि उनके अनुसार पाप तो मन के विचार और हृदय की भावनाओं ही में है। कार्य तो उसकी व्यंजना-मात्र है। अहिंसात्मक आन्दोलन को बल व बढ़ावा देने के लिए स्वयं महात्मा गांधी ने हिंसामय विचार-धारा को उत्तेजित किया, अँग्रेज़ों की निन्दा की और विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का प्रचार किया। उनके अनुयायियों ने जाति-द्वेष की भावना पैदा करने के लिए सबकुछ किया और कहा। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत में "अहिंसात्मक" आन्दोलन के समय पत्रों और भाषणों में जितनी अधिक असंयत तथा हिंसामय भाषा का प्रयोग किया गया, उतनी संभवतः संसार के किसी और देश में नहीं पाई जायगी। स्वभावतः इसके परिणामस्वरूप हिंसात्मक घटनायें भी हुईं। बस, उन दिनों का यही काम था। युद्ध ने जो रूप धारण किया, उसकी अँग्रेज़ों ने कभी शिकायत नहीं की,

क्योंकि आखिर तो वह युद्ध का ही एक रूप था। पर उन्होंने भारतीयों का यह दावा नहीं माना कि इस प्रकार के असहयोग का धरातल ऊँचा और नैतिक था, अथवा कि वह ईसाइयत या उससे भी किसी ऊँची चीज़ का फलितरूप था। सच्चे और खरे शब्दों में कहें तो, लंकाशायर के माल का वहिष्कार करने का उद्देश्य भारत में कुछ मनुष्यों को काम, रोज़ी और रोटी देना और इंग्लैण्ड में दूसरों का काम, रोज़ी और रोटी छीनना था। भूखा मारने और जान से मारने में कोई बड़ा नतिक भेद नहीं है। कोई सच्चा अँग्रेज़ इस बात का दावा नहीं करेगा कि पीड़ित जर्मन नागरिकों तथा सिपाहियों पर युद्ध बन्द कराने का दबाव डालने के लिए की गई जर्मन की सामुद्रिक नाकेबन्दी और रणक्षेत्र में की गई लड़ाई में कुछ भी नैतिक भेद है। और उन्होंने यदि कुछ भेद माना भी तो वह नाकेबन्दी को ज्यादा बुरा बतायेंगे।

जिस समय वह हिंसा भड़क उठी, जो कि स्पष्टतः इस असहयोग आन्दोलन की ही उपज थी तो महात्माजी के पास उसका एक ही इलाज था। वह था उनका निजी उपवास। उनका विश्वास था कि आठ दिन के उपवास से चौरी-चौरा-काण्ड के पापों का थोड़ा-बहुत प्रायश्चित अवश्य हो जायगा। बाद में उन्होंने अपने उपवासों के उद्देश्यों का दायरा बड़ा कर दिया। १९२४ में उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए इक्कीस दिन का उपवास किया। दूसरे असहयोग आन्दोलन में जब उन्हें जेल भेज दिया गया, तब उन्होंने उपवास द्वारा ही अपनी रिहाई कराई। साम्प्रदायिक निर्णय में संशोधन कराने के लिए भी उन्होंने उपवास किया। परन्तु मालूम होता है कि उनके पिछले उपवासों में, जिनमें राजकोट का उपवास भी शामिल है, प्रायश्चित्त की भावना नष्ट हो गई थी। उनके बहुत-से साथियों ने ही उनको दबाव डालने वाला कहकर आलोचना की।

असहयोग और उपवास में निर्दिष्ट अहिंसा के आध्यात्मिक मूल्य या गुण की जो आलोचनायें हुईं उनपर महात्मा गांधी ने पहले कोई ध्यान नहीं दिया। उन्होंने जो कुछ कहा, उससे ऐसा मालूम होता था मानों वह अपने आन्तरिक अनुभव से यह जानते हैं कि इनको आध्यात्मिक महत्व देने में वह गलती पर नहीं हैं। और जहाँ दुनिया ने स्पष्टतः उनको असफलता बतलाया, वहाँ भी गांधीजी ने उन्हें सफलता ही माना। परिणाम यह हुआ कि भारत में सर्वत्र जिस किसी भी बात पर उपवास या 'अहिंसात्मक' सत्याग्रह की नकल करनेवाले बहुत-से लोग पैदा हो गये।

परन्तु अब यह सब बदल गया है। महात्मा गांधी को नई रोशनी मिली है। वह स्वयं अपनी नीयत में सन्देह करने लगे हैं। वह यह सोचने लगे हैं कि उस समय जब कि मैं समझता था कि मैं आध्यात्मिक उद्देश्यों के लिए कार्य कर रहा हूँ, मैं वास्तव में राजनैतिक और भौतिक उद्देश्यों के लिए कार्य कर रहा होता था। उन्होंने हमसे कहा है कि "मेरे राजकोट के उपवास में 'हिंसा का दोष' था।" अब उन्होंने अपने सब

अस्त्र नीचे डाल दिये हैं। यदि आत्म-शुद्धि के लिए किये गये इतने प्रयत्नों, इतने वर्षों के तप और त्याग और अपने विरोधियों को प्रेम करने के प्रयत्नों के बाद भी वह यह समझते हैं कि वह इन साधनों का प्रयोग करने के योग्य नहीं हैं तो क्या इस बात की कभी आशा की जा सकती है कि जनता, अथवा जो आदमी इस समय इन साधनों द्वारा काम करने का प्रयत्न कर रहे हैं, वे कभी भी इनका प्रयोग करने के योग्य होंगे ?

पर महात्माजी ने स्वयं जो उन्नति की है वह इस विचार से कहीं अधिक महत्त्व-पूर्ण है और उसके भारत में तथा अन्यत्र भी आश्चर्यजनक परिणाम होंगे। बहुत वर्षों से महात्माजी ईसाई-धर्म के सिद्धान्तों व मान्यताओं के बहुत निकट पहुँच चुके हैं। उन्होंने हाल ही में जो कुछ कहा है उससे मालूम होता है कि उन्होंने बौद्ध-धर्म और ईसाई-धर्म के आन्तरिक तत्त्व को समझ लिया है। 'अ' अर्थात् 'नहीं' का महत्त्व बहुत नहीं है। 'सहयोग' में 'अ-सहयोग' से अधिक सद्गुण हैं। संसार इस समय हिंसा से पीड़ित हो रहा है। मनुष्यों का हृदय-परिवर्त्तन करने के लिए एक नई प्रेरक क्रान्तिकारी शक्ति की भारी और ज्ञानपूर्वक आवश्यकता है। सभी देशों में इस बात की मांग भी शुरू हो गई है। वहाँ ऐसे आन्दोलन चल पड़े हैं जो 'मानव-जाति के लिए अत्यन्त आवश्यक' नये परिवर्तन के आने की भूमिका हैं। हो सकता है कि महात्माजी का विकास इससे भी अधिक बातों का द्योतक हो।

हमारे समय की अनेक समस्याओं में सबसे अधिक जटिल समस्या यह है कि युद्ध के प्रति हमारा रुख़ क्या हो ? बहुत-से बौद्ध, ईसाई तथा वे सच्चे लोग जो किसी धर्म-विशेष को माननेवाले नहीं हैं, यह जानते हैं कि आत्म-रक्षा के लिए भी युद्ध करना ठीक नहीं। बुराई का प्रतिरोध न करने का ईसाइयों का सिद्धान्त व्यक्तियों के समान राष्ट्रों पर भी लागू होता है। मुझे साफ़ कहना चाहिए कि महात्माजी ने टाल्स्टाय का जो सिद्धान्त अपनाया है, वह मुझे दार्शनिक अराजकतावाद ही मालूम होता है। इस युक्ति का मुझे कोई जवाब नहीं मिलता कि जब हमें रक्षा के लिए सेनायें रखने की ज़रूरत है तब हमें पुलिस भी न रखनी चाहिए। एक व्यक्ति अपने ऊपर आक्रमण करनेवाले के प्रति सच्चा प्रेम होने के कारण उसके आक्रमण को बरदाश्त करके अन्त में उसके हृदय पर विजय प्राप्त कर सकता है। लेकिन यदि एक राष्ट्र के आदमी, जिन्हें स्वयं कोई व्यक्तिगत तकलीफ़ न उठानी पड़े, आक्रमणकारी राष्ट्र को अपने पर और अपने ही कुछ आदमियों पर मनमाने अत्याचार करने दें, तो मैं उनके इस काम को अच्छा और रुचिकर नहीं मान सकता। जो लोग इस सिद्धान्त का प्रचार करते हैं, वे एक प्रकार के नैतिकता के जोश में, जो उतना ही ख़तरनाक है जितना कि नैतिक घृणा, अपने में व्यक्तिगत रूप से सच्ची नम्रता पैदा करने में सन्तोष मानने के बजाय दूसरों पर एक विशेष प्रकार का आचरण लादने का प्रयत्न करते हैं। हममें से सभी आदमी

नीचे कहे गये दो प्रकार के व्यक्तियों में से एक-न-एक प्रकार के हैं। एक तो वे मनुष्य हैं जिनका हृदय अपने आक्रमणकारियों के प्रति नैतिक घृणा से परिपूर्ण ह, और जो नम्रता को भूलकर यह समझने में भी असमर्थ हो गये हैं कि आक्रमणकारी और वे स्वयं दोनों मनुष्य ही तो हैं। दूसरे मनुष्य वे हैं जो नम्रता के नैतिक जोश की अधिकता के कारण अपने नैतिक जीवन में (दूसरों के द्वारा पहुँचाये गये) आघातों को प्रेमपूर्वक स्वयं सह लेने का अभ्यास करने के बजाय, जिन लोगों तक उनकी पहुँच है, उन्हें आक्रमणकारियों के सामने नम्रता से झुक जाने का उपदेश देने में ही अधिक समय व्यतीत करते हैं। इन दोनों प्रकार के व्यक्तियों में कोई विशेष भेद नहीं है। ये दोनों ही जीवन में असफल हैं, और स्वयं आदर्श आचरण करने की अपेक्षा 'पर उपदेश कुशल' अधिक हैं। दोनों प्रकार के व्यक्ति जिस समय नैतिक द्वेष या नैतिक शान्ति-वाद के जोश में बह जाते हैं उस समय मानव-जाति के साथ अपनी एकता की भावना को भूल जाते हैं। नैतिकता के इन उत्साही आदमियों की बुराई का सम्मिलित प्रति-रोध न करने का सिद्धान्त चल जाये तो बुराई को खुलकर खेलने का अवसर मिल जायगा और नैतिकतावादियों की दो पीढ़ी पीछे की सन्तान ऋषि या सन्त नहीं, बल्कि ग़ुलाम होगी। नम्रता के बजाय दासता फले-फूलेगी। दास जाति की गिनी-चुनी आत्मायें ही संसार के लिए पथ-प्रदर्शन का काम करती हैं। जनता को तो चाटुकारी, गुप्तता और छल-कपट की कला सीखनी पड़ती है।

मुझे तो यह मालूम होता है कि भगवद्गीता में अर्जुन को उपदेश देते समय भगवान् कृष्ण बहुत पहले ही 'शान्तिवाद' की युक्ति का पूर्णतया खण्डन कर चुके हैं। तीन वर्ष पूर्व मैंने महात्माजी से यह युक्ति मनवाने का प्रयत्न किया। पर उनका मन्तव्य, जहाँतक कि मैं उसे समझ पाया हूँ, यह था कि भगवद्गीता में युद्ध की कथा तो रूपक मात्र है, वास्तविक नहीं, अतः यह युक्ति भौतिक युद्ध और वास्तविक प्राण-हरण पर लागू नहीं हो सकती।

पर राजकोट के बाद से तो मैं एक नये ही महात्मा को देख रहा हूँ। हम सबको उस व्यक्ति का आदर करना चाहिए, जिसने अपने सेवा-मय जीवन में निरन्तर कठोर आत्म-संयम, कठोरतम तपस्या और आत्म-शुद्धि के लिए सतत प्रयत्न किया। यदि उन्हें एक नवीन-ज्योति प्राप्त हुई है तो वह उस दर्पण के द्वारा प्रतिक्षिप्त होकर और भी चमक उठेगी, जिसे बनाने में इतने वर्ष लगे और इतना परिश्रम करना पड़ा है। आज प्रत्येक देश यह बात मान रहा है कि संसार की आशा व्यक्ति की आत्मा के विकास में ही है। प्रत्येक को अपनेंसे ही आरम्भ करना होगा। पर हमें एक ऐसी शक्ति की आवश्यकता है, जो वह नीरवता पैदा करदे, जिसमें हम अपनी आत्मा की आवाज़ सुन सकें; अन्यथा हम अपने मार्ग से भटककर दूर जा पड़ेंगे। नैतिक जोश के प्रवाह में बहे हुए आदमी शान्ति के इन क्षणों के सम्बन्ध में बड़ा शोर मचाते हैं

और अन्तरात्मा की आवाज़ सुनने के बजाय दूसरों को अपने मत में परिवर्तित करने के लिए अधिक चिन्तित रहते हैं। कम-से-कम भारत में तो महात्माजी वह नीरवता उत्पन्न कर सकते हैं, जिसमें सच्ची शान्ति जन्म ले सके।

## : ३३ :

## गांधीजी का आध्यात्मिक प्रभुत्व

**गिलबर्ट मरे, एम. ए., डी. सी. एल.**

[ एमरीटस अध्यापक, आक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी ]

जिस संसार में राष्ट्रों के शासक पाशविक शक्ति पर अधिक-से-अधिक भरोसा किये हुए हैं और राष्ट्रों के निवासी अपने जीवन के अस्तित्व और आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए ऐसी पद्धतियों पर भरोसा रक्खे हुए हैं. जिनमें क़ानून, और भ्रातृभाव के लिए तनिक भी गुंजाइश नहीं रही है, उसमें महात्मा गांधी एकाकी खड़े दीख पड़ते हैं और उनका व्यक्तित्व अत्यन्त आकर्षक है। वह ऐसे राजा या शासक हैं, जिनका कहना लाखों मानते हैं। इसलिए नहीं कि वे उनसे डरते हैं, बल्कि इसलिए कि वे उन्हें प्यार करते हैं और इसलिए नहीं कि उनके पास विपुल सम्पत्ति, गुप्तचर, पुलिस और मशीनगन हैं; बल्कि इसलिए कि उनके पास ऐसा नैतिक प्रभुत्व है कि जब वह उससे काम लेनें लगते हैं तब ऐसा प्रतीत होता है कि वह भौतिक संसार के सारे महत्व को धूल में मिला देंगे। मैं 'प्रतीत होता है,' इसलिए कहता हूँ कि भौतिक शक्ति के विरुद्ध उसका प्रयोग सहृदयता, सहानुभूति अथवा दया के बिना निरर्थक है। इसे अपने मोर्चों में केवल इसलिए विजय प्राप्त होती है कि यह अपने दुश्मन की अन्तरात्मा में सोई हुई उस नैतिकता या मनुष्यता को जगाती है, जो ऐसा मृदुल-मधुर तत्त्व है कि मनुष्य पशु बनने का कितना भी यत्न क्यों न करे, उससे पूरी तरह छुटकारा नहीं पा सकता। बीस वर्ष पहले मैंने इसीसे गांधीजी के बारे में लिखा था कि, "वह एक ऐसे युद्ध में लगे हुए हैं, जिसमें असहाय और निश्शस्त्र आत्मिक शक्ति का भौतिक साधनों से अत्यधिक सम्पन्न लोगों के साथ मुक़ाबिला है। उस युद्ध का अन्त हमें इस भय में दीख पड़ता है कि भौतिक साधनों से सम्पन्न लोग धीरे-धीरे युद्ध का एक-एक मोर्चा हारते जाते हैं और आत्मिक शक्ति की ओर झुकते चले जा रहे हैं।"

हम, निस्सन्देह, यह नहीं मान सकते कि आत्मिक प्रभुता रखनेवाले व्यक्ति का नेतृत्व सदा ही सही होता है। उसके दावों और कार्यों का समर्थन या प्रतिवाद सहसा शायद ही किया जा सकता है, क्योंकि उसका संचालन तो उन मानवों द्वारा ही होता है, जो साधारण मनुष्यों के समान भूलों से परे नहीं हैं और शक्ति-सम्पन्न होने पर जिनका स्वेच्छाचारियों के समान पतन होना संभव है। लेकिन नैतिकता के बल पर

शासन करनेवालों, अथवा अन्य साधारण शासकों में भी गांधीजी का स्थान अद्वितीय ही है। पहली बात तो यह है कि वह कोई आदेश या हुक्म नहीं देते। केवल अपील करते हैं, हमारी अन्तरात्मा को संबोधन करते हैं। वह बताते हैं कि उनके पास 'सत्य' क्या है। लेकिन उनकी उपेक्षा और निन्दा नहीं करते, जो उनसे भिन्न क्षेत्र में सचाई की खोज करते हैं।

दूसरी बात यह है कि उनका लड़ाई का तरीक़ा अजीब और अनूठा है, जिसे कि उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में हिन्दुस्तानियों के अधिकारों के लिए लगातार पन्द्रह वर्ष तक लड़ी गई लड़ाई में ख़ूब अच्छी तरह प्रकट कर दिया है। वह और उनके अनुयायी बार-बार गिरफ्तार करके जेल भेजे गये, नैतिक अपराध करनेवालों के साथ रक्खे गये और उनके साथ अमानुषिक व्यवहार किया गया। लेकिन जब भी कभी उनकी दमन करनेवाली सरकार कमज़ोर पड़ी या उसपर कोई संकट आया, अपनी बात को मनवाने एवं लाभ उठाने के बजाय उन्होंने अपना रुख बदल दिया और उसकी सहायता की। जब वह भीषण युद्ध की भयानक दलदल में धँस गई, तब उसकी सहायता के लिए उन्होंने हिन्दुस्तानी स्वयंसेवकों की सेना खड़ी की। अपने हिन्दुस्तानी अनुयायियों की अहिंसात्मक हड़ताल के जारी रहते हुए जब सरकार के लिए क्रान्तिकारी लोगों की रेलवे की हड़ताल की आशंका उपस्थित हुई, तब उन्होंने सहसा अपने लोगों को काम शुरू करने की आज्ञा दे दी, जिससे उनके विरोधी निरापद हो जायँ। इसमें आश्चर्य ही क्या कि अन्त में उनकी विजय हुई। कोई भी सहृदय शत्रु इस तरीके की लड़ाई का सामना नहीं कर सकता।

तीसरी बात, जो कि एक नेता के लिए बड़ी कठिन होती है, यह है कि गांधीजी कभी यह दावा नहीं करते कि उनसे भूल या दोष नहीं होता। यह भी उस हालत में जबकि असंख्य लोग उन्हें एक आदर्श मानकर पूजते हैं। हमें पता है कि इस समय उन्होंने अपने असहयोग आन्दोलन को रोक रक्खा है, जिससे कि वह और उनके विरोधी आत्म-निरीक्षण तथा परीक्षण कर सकें।

एक निःशस्त्र व्यक्ति का करोड़ों मनुष्यों पर नैतिक प्रभुत्व होना स्वतः ही आश्चर्यजनक है। लेकिन जब वह न केवल हिंसा को छोड़ने की शपथ लिये हुए है, बल्कि अपने शत्रुओं तक की संकट में सहायता करता है और अपनी मानवीय कमज़ोरियों को भी स्वीकार करता है तब वह निर्विवाद रूप से सारे संसार का श्रद्धा-भाजन बन जाता है। एक दूसरे देश में बैठे हुए, बिल्कुल भिन्न सभ्यता को मानते हुए जीवन-सम्बन्धी अनेक व्यावहारिक समस्याओं के बारे में उनसे सर्वथा विपरीत विचार रखते हुए, उस यूरोप के चिन्ताशील तथा संघर्षमय विचारों में निमग्न रहते हुए भी जिसमें मनुष्य का दिल और दिमाग़ पाशविक शक्ति और अज्ञान की चोट खाकर अपने को कुछ समय के लिए असहाय-सा अनुभव कर रहा है, मैं बहुत ख़ुशी के साथ इस

महापुरुष को 'महात्मा गांधी' के उस शुभ नाम से पुकारता हूँ, जिसका कि उसके भक्त उसके लिए दावा करते हैं और बड़ी श्रद्धा और आदर के साथ उसका उच्चारण करते हैं।

## : ३४ :

# सुदूरपूर्व से एक भेंट

### योन नागूची

**[ कियो विश्वविद्यालय, टोकियो, जापान ]**

दिसम्बर १९३५ के अन्त में नागपुर मे बंबई जाते हुए मैं वर्धा ठहरा था। वर्धा एक साधारण-सा शहर है। लेकिन नैतिक दृष्टि से वह गांधीजी के आन्दोलन का केन्द्र बना हुआ है। मुझे गांधीजी को आश्रम में देखकर बहुत खुशी हुई। वह आश्रम एक तपोभूमि या साधना-मन्दिर था, जहाँ पुराने ऋषि-मुनियों या साधकों से सर्वथा भिन्न रूप में इस युग के ऋषि पर अपने राष्ट्र के जीवन की आशा या पीड़ा की समस्त हलचलों की प्रतिक्रिया होती है। बीमारी के कारण वह उस समय वर्गाकार और बीच में आंगनवाली दुमंज़िले मकान की पक्की छत पर लगाये गये एक तम्बू में लेटे हुए थे। सन्त की जैसी एक मुस्कराहट उनके चेहरे पर थी। उनकी नंगी टांगें दुबली-पतली पर लोह-शलाका-सी मज़बूत, सामने फैली थीं। एक शिष्य मालिश कर रहा था। इस साधारण और अलिप्त-से आदमी का उन महान् ऐतिहासिक उपवासों के साथ मेल मिलाना मेरे लिए कठिन हो गया, जिन्होंने इंग्लैण्ड की विशाल आत्मा को भी एक बार भय से थर्रा दिया था। जब मैंने सूती कपड़े में कुछ लपेटा उनके सिर पर रक्खा देखा, तब मैंने पूछा कि यह क्या है ? उन्होंने बताया कि वह गीली मिट्टी है, जो कि उनके डाक्टरों के कथनानुसार उनके जैसे खून के दबाव वाले लोगों के लिए फायदेमन्द होती है। फिर कुछ व्यंग और कुछ दार्शनिकता से मिश्रित मुसकान के साथ बोले, "मैं हिन्दुस्तान की मिट्टी से पैदा हुआ हूँ और यही हिन्दुस्तान की मिट्टी मेरे सिर का ताज है।"

थोड़ी-सी बात करने के बाद मैं उनसे विदा लेकर उनके तीन या चार शिष्यों से मिलने के लिए नीचे उतर आया, जो मुझे सारा आश्रम दिखाने के लिए नीचे खड़े मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। मधु-मक्खियाँ रहने के स्थान के पास से गुज़रने के बाद मैं तेल की घानी के पास पहुँचा। उसके बाद मैं वहाँ पहुँचा, जहाँ कागज़ बनाने का प्रयोग किया जा रहा था। उन मेरे साथवालों में से एक ने कहा कि "कागज़ बनाना कितना सुगम है। यदि पूरक धन्धे के तौर पर इसका हमारे देश में चलन हो जाय तो हम

अपना कितना रुपया अपने ही देश में बचाकर रख सकेंगे ?" यह कहने की ज़रूरत नहीं कि आश्रम में चरखे को प्रधान स्थान प्राप्त है। एक छोटा-सा लकड़ी का डिब्बा लाया गया. जिसे खोलने पर एक छोटा-सा चरखा प्रकट हुआ। इसका गांधीजी ने जेल में खाली समय में स्वयं आविष्कार किया था। मुझे कहा गया, "आप इसे हैण्डबेग तक में रख सकते हैं और खाली समय में सूत कातने के लिए रेलगाड़ी के सफ़र में इसे साथ ले जा सकते हैं।"

फिर मुझे बताया गया कि "गांधीजी एक विशेष वैज्ञानिक व्यक्ति हैं। उनका अटूट धैर्य सदा उनके आविष्कारक मन का साथ देता है, जिससे उन्हें पूरी तरह सफलता मिलती है। अगर वह घड़ीसाज़ होते तो उन्होंने संसार में सर्वोत्तम घड़ी बनाने का श्रेय-सम्पादन किया होता। सर्जन या वकील के रूप में भी उन्होंने सर्वोच्च प्रतिष्ठा प्राप्त की होती। लेकिन १९२२ के मुक़दमे के समय अपने को पेशे से किसान और जुलाहा उन्होंने बताया और इस तरह हाथ की मजूरी की पवित्रता में निष्ठा प्रकट की। ऐसे कामों में वह कताई को सबसे अधिक महत्त्व देते हैं, क्योंकि उनका ख़याल है कि इससे मनुष्य मितव्ययी बनने के साथ-साथ समय का भी ठीक-ठीक उपयोग करना सीख जाता है। वह किसी भी वस्तु के अपव्यय को सबसे अधिक घृणा की दृष्टि से देखते हैं। उनका यह विश्वास है कि हाथ की मिहनत से ही हिन्दुस्तान को नया जीवन मिल सकता है। इसलिए चरखे को अपना आदर्श मानकर वह जनता से स्वतन्त्र जीवन के झण्डे के नीचे आने के लिए अपील कर रहे हैं।"

यह तो केवल आकस्मिक घटना है कि उनका आन्दोलन ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध एक विद्रोह प्रतीत होता है, क्योंकि वह आन्दोलन, जहाँ एक ओर भारत को नीति-भ्रष्टता से बचावेगा तहाँ वह दूसरे देशों को भी उबारेगा। क्योंकि वह शक्ति को उत्पादक कामों में लगाने की तथा खेतों और खलिहानों से मिलते-जुलते जीवन बिताने की महान् शिक्षा देता है। दूर के आदर्शों के पीछे भटकते-फिरने की अपेक्षा अपने आस-पास के लोगों की ही सेवा करनें का महत्त्व केवल हिन्दुस्तान तक ही सीमित नहीं रह सकता। स्वदेशी की 'आत्मनिर्भरता और स्वावलम्बन' की भावना का प्रभाव समस्त देश और काल में व्यापक होकर रहेगा।

दीन-दुखियों और गरीबों की सेवा करने और उनके साथ अपने को तन्मय करनें से अधिक पवित्र और ऊँचा मार्ग ईश्वरोपासना के लिए गांधीजी नहीं ढूँढ़ सकते। उदाहरण के लिए वह जब रेल में सफ़र करते हैं, तो सदा ही तीसरे दर्जे का टिकिट लेते हैं। इससे वह अपने आपको यह याद दिलाते हैं कि वह उन निम्नतम मनुष्यों में से हैं, जिनमें मानवता और स्नेह ही सबसे बड़ी सम्पत्ति माने जाते हैं। ऐसे व्यक्ति के रूप में जिसनें अपने जीवन का सर्वोत्तम भाग मजूरों के साथ बिताया हो और उनके सुख-दुख में समान भाग लिया हो, गांधीजी आत्म-निर्भर और स्वावलम्बी जीवन

बिताने की प्रेरणा देते रहने के लिए अपने मित्रों को चरखा भेंट करते हैं।

बम्बई जाते हुए गाड़ी में अपने डिब्बे में अकेला लेटा हुआ मैं अपने मन से महात्मा गांधी की मूर्ति को थोड़े समय के लिए भी दूर नहीं कर सका। मुझे एकबार उनका एक छोटा-सा निबन्ध 'स्वेच्छापूर्वक ग़रीबी' (अपरिग्रह) पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, जिसमें उन्होंने उन वस्तुओं के परित्याग से होनेवाले अपने आनन्द का वर्णन किया है, जो कभी उनकी अपनी थीं। उनका यह विश्वास है कि हिन्दुस्तान सरीखे देश में अनिवार्यत: आवश्यक से अधिक अपने पास कुछ रखकर जीवन-निर्वाह करना डाकेजनी करके गुज़ारा करने के समान है। जबतक कि तुम उसके-जैसे न हो जाओ, जो नंगा और भूखा बाहर खुले में सोता है, तबतक तुम्हें यह कहने का अधिकार नहीं कि तुम हिन्दुस्तान और हिन्दुस्तानियों की रक्षा कर सकते हो। मुझे बताया गया है कि जिस कपड़े से गांधीजी अपने-आपको ढाँपते हैं, वह भी कम-से-कम है। यह स्वाभाविक है कि गांधीजी इस ग़रीबी की ऐसी लगन से उस साधना और तप के आदर्श पर पहुँच जायँ, जहाँ आत्मशुद्धि के अर्थ पंचेद्रिय-दमन किया जाता है।

वह योद्धा जो आत्म-दर्शन में जूझता हुआ बिगुल बजाता अदृश्य विजय की निश्चित आशा से स्वर्ग के निकट पहुँच गया है, जिस बिगुल की आवाज़ नरक के कोने-कोने में गूँज उठी है। और जो अकेला ही वहां से भावी को ललकार रहा है।

दुर्बल, क्षीणकाय परन्तु जिसकी महान् आत्मा ने संसार कँपा दिया है। विस्मृत और तिरस्कृत प्रेम ने, जीवन की कुचली और झंझोड़ी हुई स्वतन्त्रता ने, अपुरस्कृत और अपमानित शारीरिक परिश्रम ने इस पुरुष की गर्जना में अत्याचार के विरुद्ध चुनौती की आवाज़ उठाई है, ईश्वरीय न्याय के लिए प्रार्थना की है। धरती-माता के अत्यन्त निकट जीवनयापन का करुण मन्त्र पढ़नेवाला जादूगर, उस मनुष्य से बढ़कर कौन पुरुष है जिसके हृदय में देश-भक्ति की ज्वाला इतने ज़ोर से धधक रही हो। सत्य का वह एक एकाकी शोधक है। वह सब सांसारिक सुखों को तिलाञ्जलि दे चुका है। इस मनुष्य की आत्मा से बढ़कर किसकी आत्मा 'अवतारी' हो सकती है? वह भूख और दुख के अनन्त और दुर्गम पथ का पथिक है।[1]

**१. मूल अंग्रेजी पद्य इस प्रकार है:—**

A warrior in combat near Heaven with a prospect of unseen victory,
Blowing a bugle that rings to the last gulf of Hell,
A lonely hero challenging the future for reponse.
Withered and thin,
But with a mammoth soul shaking the world in fear—

: ३५ :

# विविधरूप गांधीजी

**डा० पट्टाभि सीतारामैया, बी. ए., एम. बी, सी. एम.**

**[ मछलीपट्टम ]**

## गांधीजी—अवतार

**"जो व्यक्ति अपने इन्द्रिय-सुख की कुछ परवाह नहीं करता, जो अपने आराम या प्रशंसा या पद-वृद्धि की कुछ चिन्ता नहीं करता, किन्तु जो केवल उसी बात के करने का दृढ़ निश्चय रखता है जिसे वह सत्य समझता है, उससे व्यवहार करनें में सावधान रहो। वह एक भयंकर और असुविधाजनक शत्रु है, क्योंकि उसके जा सकनें वाले शरीर पर क़ाबू पा करके भी तुम उसकी आत्मा पर बिलकुल अधिकार नहीं कर सकते।"**

—प्रो० गिलबर्ट मरे

संसार ने समय-समय पर महान् पुरुषों को जन्म दिया है। प्रत्येक राष्ट्र ने अपने सन्त, अपने शहीद, अपने वीर, अपने कवि, अपने योद्धा और अपने राजनीतिज्ञ उत्पन्न किये हैं। भारतवर्ष में हम अपने महापुरुषों को अवतार कहते हैं। वे ऐसे व्यक्ति हैं जो पुण्य की रक्षा और पाप का नाश करने के लिए ईश्वर के मूर्तरूप होकर पृथ्वी पर आते हैं। हमारे लिए गांधीजी एक अवतार हैं, जिन्होंने इस कर्मरत संसार में पूर्ण अहिंसा को कार्यान्वित करके बताया है।

## गांधीजी—स्थितप्रज्ञ

गांधीजी की सम्मति में स्वराज्य का अर्थ यह नहीं है कि गोरी नौकरशाही की जगह काली नौकरशाही क़ायम होजाय। स्वराज्य का अर्थ है जीवन के ढांचे का

---

Through this man love, profaned and ignored,
Through this man life's independence, shattered and fallen,
Through this man, body-labour bereft of honour and prize,
Cry rebel-call against tyranny; to God's justice be praise!
A Sad chanter of life close to the mother-earth,
( Where is there a more burning patriot than this man?)
A lone seeker of truth denying the night and self-pleasure,
( Where is there a more prophetic soul than this man's?
A pilgrim along the endless road of hunger and sorrow.

बिल्कुल बदल जाना। दूसरे शब्दों में, भारत का पुनर्विजय करना। उनके मस्तिष्क में तो समस्या यह है कि देश के भिन्न-भिन्न टुकड़ों को, जो प्रादेशिक दृष्टि से प्रान्तों और देशी राज्यों में, सम्प्रदायों की दृष्टि से हिन्दुओं, मुसलमानों और ईसाइयों में, व्यवसायों की दृष्टि से शहरी और देहाती समुदायों में बैठे हुए हैं, और जो कहीं 'बहिर्गत प्रदेशों' और कहीं 'अन्तर्गत प्रदेशों' में विभक्त हैं, किस प्रकार एक सूत्र में ग्रथित किया जाय। वह यह भी चाहते हैं कि राष्ट्र की संस्कृति का पुनरावर्तन किया जाय और उसमें आधुनिक जीवन में से नक़ल की जाने योग्य बातों को भी ग्रहण किया जाय, सेवा के आदर्श को पुनर्जीवित किया जाय, नई सभ्यता से उत्पन्न हुई स्वार्थपरायणता के स्थान पर दीन-दरिद्रों के प्रति दया की भावना बढ़ाई जाय, पीड़ित समाज में अत्यन्त धनिकों और अत्यन्त निर्धनों के समुदाय बनने देने के स्थानों पर निम्नश्रेणी वालों की सतह पर लाया जाय, सभी लोगों के लिए अन्न-वस्त्र की व्यवस्था की जाय और कुछ लोगों के उत्कर्ष की खातिर रहन-सहन की कोटि ऊँची करने के बजाय, यदि आवश्यक हो तो, औसत जीवन-कोटि को ही कुछ नीचा कर दिया जाय। इस दृष्टि से उन्होंने अपने जीवन में ही एक नये सामंजस्य का विकास किया है, और हिन्दू-धर्म के चारों **वर्णों** और चारों **आश्रमों** को उन्होंने अपने जीवन में सन्निविष्ट कर लिया है। वह **ब्राह्मण** का कार्य करते हैं, वह व्यवस्था देते हैं। वह **क्षत्रिय** हैं, वह भारत के मुख्य चौकीदार हैं। **वैश्य** के रूप में वह भारत की सम्पत्ति का विनियोग करते हैं, और **शूद्र** के रूप में उन्होंने अन्न और वस्त्र की उत्पत्ति की है। अपने ऊपर चलाये गये सुप्रसिद्ध अभियोग में उन्होंने कहा था कि मैं जुलाहा और किसान हूँ। और **गृहस्थ** होते हुए भी वह **ब्रह्मचारी** की भांति संयम से रहते हैं, **वानप्रस्थ** की भांति अपनी पत्नी के साथ मानव-जाति की सेवा करते हैं। और वह सच्चे **संन्यासी** भी हैं, क्योंकि उन्होंने अपना सब-कुछ मनुष्य-जाति के कल्याण के लिए परित्याग कर दिया है। इतने पर भी गांधीजी प्रधानतः एक मनुष्य हैं। वह मानवोत्तर होने का न ढंग रखते हैं न कोई ऐसा दावा ही करते हैं। वह पक्के कार्य-कुशल आदमी हैं, बड़ी उम्र के लोगों में खुश-मिजाज़ हैं, और मनुष्य-जाति के लिए एक साधु हैं, ऋषि हैं, पथ-प्रदर्शक हैं, दार्शनिक हैं और सबके मित्र हैं। उनका चेहरा तेजोमय है, उनकी दोनों आँखों में तेज है और उनकी हँसी में तो उनका सम्पूर्ण अन्तर्तम बाहर प्रकट हो जाता है। वह एक अंश में स्पष्टवक्ता हैं, और उन्हें लोगों के पीठ-पीछे आक्षेप सुनने की आदत नहीं है। किन्तु वह आक्षेपकर्त्ताओं के समक्ष ही आक्षिप्तों के सामने उन्हें रख देते हैं। वह आपके स्पष्टीकरण को स्वीकार कर लेते हैं, और आपकी बात को सत्य मान लेते हैं। वह बातचीत बड़ी निश्चित और नपी-तुली करते हैं और आशा करते हैं कि उनके वक्तव्यों को समझने में उनके 'अगर-मगर' को तथा प्रधान वाक्यांशों को ध्यान में रक्खा जायगा। अधिकांश लोगों ने उनके प्रधान वाक्यांशों को तो ले लिया; पर 'अगर-मगर' को भुला दिया, और इस प्रकार अपने

उत्तरदायित्वों को उठाये बिना उन्होंने बाह्य परिणामों की आशा बाँध ली। उनकी लेखन-शैली अपनी ही और विलक्षण है। उसमें छोटे-छोटे वाक्य होते हैं—छोटे, उतने ही प्रबल, सीधे और उतने ही गतिमान, जैसे तीर और असर करने में भयंकर। गांधीजी उपनिषदों में वर्णित पूर्णपुरुष हैं, जिनसे परिचित होना क सौभाग्य है, और जिनके साथ काम करना एक वरदान है। वह भगवद्गीता के स्थितप्रज्ञ हैं, जिन्होंने अपने आत्मसंयम और आत्मत्याग से अपनेआप पर और संसार पर विजय पाई है।

## गांधीजी का द्विविध कार्यक्रम

सत्याग्रही के रूप में गांधीजी पराजय को जानते ही नहीं। जब राष्ट्र आक्रामक कार्यक्रम से थक जाता है तो उसे फ़ौरन रचनात्मक कार्यक्रम में लगा दिया जाता है। जिस सरलता से कारख़ाने में मशीन का पट्टा फ़ास्ट पुली से लूज़ पुली पर आ जाता है, उसी सरलता से गांधीजी के शक्ति-चक्र का पट्टा भी युद्ध के विध्वंसक-क्षेत्र से रचनात्मक क्षेत्र पर उतर आता है। उतनी ही तेज़ी-फुर्ती से वह सविनय आज्ञाभंग के आक्रामक कार्यक्रम का बटन दबा देते हैं, और यह कार्यक्रम भी तूफ़ान या ज्वार की-सी तीव्रता और वेग के साथ बढ़ जाता है। उनके आक्रमण कितने प्रबल होते हैं, यह संसार अच्छी तरह से जानता है। उन्हें ख़ुद मालूम न था कि सामूहिक सविनय आज्ञा-भंग कैसा होगा। पर वह जानते थे कि वह आज्ञाभंग होगा जो सविनय या अहिंसात्मक रूप में होगा और अपरिमित परिमाण पर सामूहिक रूप में कार्यान्वित किया जायगा। उनके युद्धों में, जो कि देखने में तो नगण्य होते हैं। किन्तु जिनका लक्ष्य एक और निश्चित, तथा परिणाम स्थायी और व्यापक होता है, कोई-न-कोई नैतिक प्रश्न ज़रूर शामिल रहता है। कभी तो अमृतसर-हत्याकाण्ड का प्रश्न ले लिया जाता है, जिसके लिए क्षमा-याचना की माँग की जाती है; कभी खिलाफ़त के अन्याय का प्रश्न होता है, जिसका घटनास्थल तो दूर-देशीय होता है, किन्तु परिणाम और प्रभाव निकटवर्ती होता है; तो कभी-कभी नमक-कर का ही प्रश्न उठा लिया जाता है, जो यद्यपि छोटा-सा कर है, किन्तु जो परिणाम में पापमय है। जब संसार समझता है कि गांधीजी पराजित होगये तब उस पराजय को वह एक वाक्य से विजय बना लेते हैं।

गांधीजी के रचनात्मक कार्यक्रम की देश में स्तुति भी हुई है और निन्दा भी हुई है; और उसके प्रति आज भी अधिकांश जनता का आकर्षण कम है। उनका खद्दर दरिद्रों की रामबाण औषधि है, नया आर्थिक कवच है, विधवाओं और अनाथों का, अपाहिज़ों और अन्धों का आश्रयदाता है। खद्दर किसानों को, जो कि ऋण और कर के असह्य बोझ से दबे जा रहे हैं, सहारा देनेवाला एक सहायक धन्धा है। खद्दर का पुनर्जीवन स्वयं एक सम्पूर्ण पन्थ ही है; क्योंकि वह मानव-जाति पर यंत्रवाद के जो कि अच्छा नौकर किन्तु बुरा मालिक है, आघात का विरोध करता है। खद्दर भारत की

उत्पादनशील प्रतिभा के पुनर्जीवन का एक चिन्ह है। खद्दर कारीगर की अपनी स्वतन्त्रता और मिल्कियत की भावना का, जो कि भारतीय कारीगर में सदा अनुप्राणित रही है, मूर्तस्वरूप है। खद्दर पवित्रता और परिवार की अक्षुण्णता के वातावरण का, जिसमें कि भारतीय शिल्पकला सदा फूली-फली है, एक प्रतीक है। खादी भारतीय देशभक्त की वर्दी है और राष्ट्रीय स्वतंत्रता का बिल्ला है। गांधीजी के प्रधान-काल के प्रथम पाँच वर्ष खद्दर की जड़ मज़बूत करने में लग गये, जिससे कि अन्य ग्रामीण उद्योगों और घरेलू धंधों का रास्ता साफ़ होजाय और जीवन में मशीन की, जो कि हिंसा का ही एक चलता-फिरता रूप है, मर्यादा सुनिश्चित होजाय।

गांधीजी के रचनात्मक कार्यक्रम के तीन भाग हैं—वह **खद्दर** के रूप में आर्थिक, **अस्पृश्यता-निवारण** के रूप में सामाजिक और **मद्य-निषेध** के रूप में नैतिक है। पहले भाग को पूर्ण करके वह दूसरे भाग में लग गये, और सितम्बर १९३२ में उनके आमरण अनशन करने की घटना तो अब विश्व-इतिहास का एक अध्याय ही बन गई है। और तीसरे भाग मद्य-निषेध को प्रान्तीय स्वतन्त्रता के अधीन मंत्रियों के कार्यक्रम में सम्मिलित करके कार्यान्वित किया जा रहा है। अभी कुछ ही हफ्ते पहले गांधीजी ने बड़े दुःख के साथ निराशा प्रकट की थी कि उनके विश्वस्त सहयोगी इस सुधार की दिशा में बहुत धीरे-धीरे क़दम बढ़ा रहे हैं, क्योंकि उन्होंने भारत में पूर्ण मद्य-निषेध के लिए जो मियाद रक्खी है, वह साढ़े तीन वर्ष की ही है। रचनात्मक कार्यक्रम का चौथा भाग सांस्कृतिक है और वह है **राष्ट्रीय शिक्षा**, जिसके लिए हरिपुरा में एक अखिल-भारतीय बोर्ड क़ायम कर दिया गया है, और उसके तत्वावधान में वर्धा-योजना नामक शिक्षा-पद्धति का प्रचार किया जा रहा है, जिसका लक्ष्य है बच्चों के शिक्षण को राष्ट्र के जीवन से सम्बन्धित करना। केवल एक बड़े सुधार का होना रहा ह—**साम्प्रदायिक एकता** का, जो मुख्यतः हिन्दू-मुस्लिम एकता ही है। इसका गुरुमंत्र तैयार होने में कुछ देर नहीं है, और इस एकता का जो तरीक़ा सोचा गया है उसमें अनुपातों का सौदा नहीं होगा, किन्तु भारत के दो बड़े समुदायों की उदात्त भावनाओं और बुद्धिमत्ता को जाग्रत करना होगा। इस प्रकार जब राष्ट्र की प्रवृत्तियों और ध्यान को एक बार सैन्य और शस्त्र-संग्रह करने में और दूसरी बार युद्ध करने में लगा दिया जाता है, या कभी-कभी यह क्रम पलट भी दिया जाता है, तो जीत या हार की बात कोई नहीं कह सकता।

गांधीजी के विचारानुसार ब्रिटेन से लड़ाई मूलतः एक नैतिक लड़ाई है, क्योंकि अंग्रेज़ों ने जो सात किलेबन्दियाँ की हैं वे अपनी केन्द्रीय सत्ता के चारों ओर सात नैतिक (अथवा, अनैतिक) प्राकार (चहारदीवारियाँ) खड़ी की हैं। इनके नाम हैं—सिविल सर्विस (सरकारी नौकरियाँ), व्यवस्थापिका सभायें, अदालतें, कालिज, स्थानीय स्वशासन-संस्थायें, व्यापार और उपाधिकारी वर्ग। गांधीजी के असहयोग के

कार्यक्रम का उद्देश्य बारी-बारी से इनमें से हरेक को और अन्त में सभीको नष्ट कर देना ही है। कौंसिलों, अदालतों और कालिजों का बहिष्कार इसी योजना का एक भाग है। एक बार सरकारी नौकरों और फ़ौजवालों से भी अपनी गुलामी छोड़ देने की अपील की गई थी। इस प्रकार भारत के अंग्रेज़ी राज्य की मोहकता और अजेयता का नाश किया गया था।

## गांधीजी और सत्याग्रह

हिंसा और युद्ध के युग में सत्याग्रह उतना ही विचित्र हथियार है जितना कि पत्थर युग में लोहे की छुरी या बैलगाड़ियों के बीच में पेट्रोल का एँजिन। लोग इसे समझ नहीं सकते, इसमें विश्वास नहीं करते, इसकी ओर देखना भी नहीं चाहते। जब ट्रांसवाल की सफलता का उदाहरण दिया जाता है, तो लोग कहते हैं कि वह घटना तो एक छोटे-से परिणाम में हुई थी। वह एक छोटी-सी लड़ाई थी। वह उदाहरण भारत-जैसे विशाल देश के लिए लागू नहीं हो सकता। चम्पारन, खेड़ा और बोरसद को भी यह कहकर तुरन्त नगण्य बता दिया जाता है कि वे भी छोटी-छोटी-सी सफलतायें थीं, जिनकी राष्ट्रव्यापी रूप में पुनरावृत्ति नहीं हो सकती। किन्तु आज तो सारी शंकायें मिट चुकी हैं और सब कठिनाइयाँ हल होगई हैं। समस्या यही है कि सत्याग्रह को सत्य और उसकी आनुषंगिक—अहिंसा—की सीमा के भीतर रक्खा जाय। सत्य और अहिंसा जो इस नये हथियार के दो अंग हैं, निष्क्रिय नहीं हैं; निषेधात्मक तो हैं ही नहीं। वे विधानात्मक, आक्रमक शक्तियाँ हैं, जिनसे कि कार्यक्रम में वही सब गुण आजाते हैं जो कि हिंसा के क्षेत्र में युद्ध में होते हैं। अपने शत्रुओं को घबरा देने और भयभीत करने और अन्त में उनका हृदय-परिवर्तन करके उन्हें जीत लेने; अपने अनुयायियों में एक सख्त अनुशासन-भावना पैदा करने; इस नये शस्त्र के समर्थकों के मस्तिष्क और भावना को प्रभावित करने; साहस, त्याग और धैर्य को जाग्रत करने; अत्यल्प पूंजी से और विनाशक शस्त्रास्त्र की सहायता के बिना ही राष्ट्रव्यापी प्रतिरोध खड़ा करने के कारण सत्याग्रह एक निश्चयात्मक और अदम्य शक्ति का काम देता है, और अनुभव भी इसकी उपयोगिता का काफ़ी प्रमाण देता है।

गांधीजी की सत्य और अहिंसा-सम्बन्धी धारणा को बहुत कम लोग समझते हैं। उनके मतानुसार दोनों के दो-दो स्वरूप हैं—क्रियात्मक और निषेधात्मक। चम्पारन के कलक्टर ने उन्हें एक कड़ा पत्र लिखा था, जिसे उसने बाद में वापस लेने का निश्चय किया और वापस माँगा। जब गाँधीजी के नये अनुयायी उसकी नक़ल करने लगे तो उन्होंने उन्हें फटकारा और कहा कि अगर उसकी नक़ल रखली गई तो पत्र वापस लिया हुआ नहीं कहा जायगा। यह सत्य की एक नई परिभाषा थी, और इसीकी पुनरावृत्ति गांधी-अरविन समझौते के समय भी हुई, जबकि होम सेक्रेटरी श्री इमरसन

का अपमानकारक पत्र पुनर्विचार के बाद वापस लिया गया। कांग्रेस के काग़ज़ों में उसकी नक़ल नहीं है। इसका कारण भी यही था कि वापस लिये हुए पत्र की नक़ल रखना अपनी फ़ाइलों में और अपने हृदयों में उसे बनाये रखने के बराबर है। और ऐसा करना असत्य होगा और अहिंसा के विरुद्ध होगा।

गांधीजी हिंसा के सूक्ष्मतम प्रोत्साहन को भी सहन नहीं करते। सन् १९२१ में जब गांधीजी की यह राय हुई कि अलीबन्धुओं के भाषणों में से हिंसा के अनुकूल अर्थ निकाला जा सकता है तो उन्होंने उनसे एक वक्तव्य निकलवाया कि उनका ऐसा कोई इरादा नहीं था। किन्तु जब उन्हीं अलीबन्धुओं पर अक्तूबर १९२१ में कराची-भाषण के कारण मुकदमा चलाया गया तो उन्होंने उसी भाषण को त्रिचनापल्ली में दोहराया और सारे भारतवर्ष से उसीको हज़ारों सभामंचों पर दोहरवाया। उनके सामने एक ही कसौटी रहती है—क्या भाषण पूर्णतया अहिंसात्मक है? यदि अहिंसात्मक है, तो वह उतनी ही शीघ्रता से उसपर रण-ललकार देने को तत्पर रहते हैं, जितनी शीघ्रता से कि यदि वह अहिंसात्मक नहीं है तो क्षमायाचना करने को भी तैयार हो जाते हैं। चूँकि उनका अहिंसा-सम्बन्धी दृष्टिकोण ऐसा है, इसलिए जब १९२१ के सविनय आज्ञाभंग आन्दोलन में, ब्रिटिश युवराज के आगमन के समय, ५३ आदमी मारे गये और ४०० घायल हुए तो उनके हृदय को बड़ा आघात अहुँचा। उन दिनों में उन्होंने प्रायश्चित के रूप में पाँच दिन का उपवास किया था जोकि उनके बाद के २१ दिन और २८ दिन और अन्त में किये गय प्रायोपवेशन के मुकाबिले में आज इतने समय बाद भले ही बहुत छोटा-सा दिखाई देता हो।

गांधीजी का असहयोग सदा अन्त में सहयोग स्थापित करने के इरादे से किया गया है, किन्तु उन्होंने अपने सत्य और अहिंसा के मूल तत्त्वों को कभी नहीं छोड़ा है, जैसाकि उनके १ फरवरी १९२२ के लार्ड रीडिंग को लिखे हुए पत्र से प्रकट होता है—

"किन्तु इससे पहले कि बारडोली के लोग सचमुच सविनय आज्ञाभंग प्रारम्भ करदें, मैं भारत-सरकार के प्रमुख के नाते आपसे सादर अनुरोध करूँगा कि आप अपनी नीति का पुनर्निरीक्षण करें, और समस्त असहयोगी कैदियों को, जो देश में अहिंसात्मक कार्यों के कारण दण्डित हुए हों या विचाराधीन हों, छोड़ दें, चाहे वे खिलाफ़त का अन्याय दूर कराने के कारण हों या पंजाब के अत्याचारों के कारण हों या स्वराज्य के या अन्य कारणों से हों, और चाहे वे ताजीरात हिन्द की या ज़ाब्ता फ़ौजदारी या दूसरे किसी भी दमनकारी क़ानून की धाराओं के भीतर भी आते हों। शर्त केवल अहिंसा की है। मैं आपसे यह भी अनुरोध करता हूँ कि आप अखबारों को शासन-विभाग के समस्त नियन्त्रणों से मुक्त करदें। और हाल में लागू किये हुए जुर्मानों और ज़ब्तियों को भी वापिस करदें, इस प्रकार के अनुरोध में मैं आपसे वही माँगता हूँ, जो कि आज प्रत्येक सभ्य शासनाधीन देश में हो रहा है। यदि आप इस वक्तव्य के प्रकाशन की

तारीख से सात दिन के अन्दर आवश्यक घोषणा निकाल देने में समर्थ हो सकेंगे, तो मैं तबतक के लिए आक्रामक ढंग के सविनय आज्ञाभंग को स्थगित करने की सलाह देने को तत्पर हो जाऊँगा जबतक कि क़ैदी कार्यकर्ता जेलों से छूटकर सारी परिस्थिति पर नये सिरे से पुनर्विचार न करलें।"

## गांधीजी की असंगतियाँ

गांधीजी पर नरम विचारों के लोग यह आरोप लगाते हैं कि उनके आदर्श अव्यवहार्य हैं, उग्रविचार के लोग यह आरोप लगाते हैं कि उनका कार्यक्रम बहुत नरम है। और दोनों यह आरोप लगाते हैं कि उनके कार्य बहुत असंगत होते हैं। पर अपने जीवन और कार्य-सम्बन्धी इन परस्पर-विरोधी अनुमानों के बीच वह चट्टान की भांति अविचल खड़े रहे हैं, निन्दा और स्तुति के प्रवाह का उनपर कोई प्रभाव नहीं हुआ है। उनके जीवन का एकमात्र पथ-प्रदर्शक सिद्धान्त भगवद्गीता के इस श्लोक में है—

**सुखदुःखे समेकृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।**
**ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥**[1]

१८९६ में गांधीजी पूना गये और तिलक और गोखले के चरणों में बैठकर उन्होंने राजनीति का प्रथम पाठ पढ़ा। उन्होंने कहा कि तिलक तो हिमालय के समान हैं—महान् और उच्च किन्तु अगम्य और गोखले पवित्र गंगा के समान हैं,जिसमें वह निर्भीकता-पूर्वक डुबकी लगा सकते हैं। १९३९ में तो गांधीजी स्वयं हिमालय-जैसे ऊँचे होगये हैं, किन्तु वह सबके लिए सुलभ हैं,उन्होंने गंगा की थाह लेली है और सदा पावन करनेवाले हैं।

जब सत्याग्रह को स्थूलरूप से निष्क्रिय प्रतिरोध कहा करते थे उस समय बहुत कम लोग समझते थे कि सत्याग्रह क्या है। गोखले ने (१९०९ में) इस प्रकार उसकी परिभाषा की थी—

"उसका स्वरूप मूलतः रक्षणात्मक है, और वह नैतिक और आध्यात्मिक हथियारों से युद्ध करता है। निष्क्रिय प्रतिरोधक अपने शरीर पर कष्ट सहकर जुल्मों का प्रतिरोध करता है। वह पाशवी शक्ति का मुक़ाबिला आध्यात्मिक शक्ति से करता है; मनुष्य की पाशविक वृत्ति के सामने दैवी वृत्ति को खड़ा कर देता है; जुल्म के मुक़ाबिले में कष्ट-सहन को अपनाता है; पशुबल का सामना आत्मबल से करता है; अन्याय के विरुद्ध श्रद्धा का, और असत्य के विरुद्ध सत्य का सहारा लेता है।"

१९३९ में सत्याग्रह एक घर-घर-व्यापी शब्द बन गया है, और वह पीड़ित लोगों का चाहे वे ब्रिटिश भारत के हों चाहे देशी राज्यों के, एक सर्वमान्य साधन होगया है। जर्मन-आक्रमणों के मुक़ाबिले में यहूदियों से और जापानी हमलों के मुक़ाबिले में चीनियों से भी सत्याग्रह की ही ज़ोरदार सिफ़ारिश की जाती है।

१. गीता—२-३८

१९१३ में कराची में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने "भारत के आत्मसम्मान की रक्षा के लिए और भारतीयों के कष्ट दूर कराने के लिए दक्षिण अफ्रीका की लड़ाई में गांधीजी और उनके अनुयायियों ने जो वीरतापूर्ण प्रयत्न किये और जो अनुपम बलिदान किया", उसकी प्रशंसा का प्रस्ताव पास किया। यह प्रस्ताव सर्व-सम्मति से पास हुआ था। और १९३१ में कांग्रेस के ४५वें अधिवेशन में जोकि फिर करांची में ही हुआ था, गांधीजी को अपने वीरतापूर्ण प्रयत्नों के लिए राष्ट्र की प्रशंसा फिर प्राप्त हुई। किन्तु दक्षिण अफ्रीका के मुट्ठीभर लोगों की ओर से नहीं, बल्कि ३५ करोड़ जनता के पूरे राष्ट्र की ओर से, जिनकी मुक्ति का श्रीगणेश सत्याग्रह के उन्हीं मुख्य और स्थायी सिद्धान्तों के आधार पर सफलतापूर्वक किया गया था।

१९१४ में गांधीजी ब्रिटिश साम्राज्य के एक राजभक्त नागरिक थे, और जैसे उन्होंने बीसवीं सदी के प्रारम्भ में जुलू-विद्रोह और बोअर-युद्ध में रेड क्रास सोसाइटी का संगठन किया था, इसी तरह महायुद्ध के लिए भी सिपाहियों की भर्ती में सहायता दी थी। हालाँकि युद्ध-सम्बन्धी उनका रुख अब एक छोर से दूसरे छोर पर आगया है, फिर भी कभी वह इस तरफ़ और कभी उस तरफ़ रहा। यद्यपि १९१८ के अगस्त मास तक वह भर्ती के मामले में अंग्रेज़ों को बिना शर्त के सहायता देने के पक्ष में थे, तथापि १९३८ के सितम्बर में, जबकि यूरोप पर युद्ध के बादल झुके आ रहे थे, वह युद्ध की परिस्थिति से भारत के लिए लाभ उठाने के या आगामी युद्ध में किसी अंश में भी भाग लेने के सख्त ख़िलाफ़ थे। इन दोनों चित्रों का कुछ अधिक विस्तृत अध्ययन करना ठीक होगा।

१९१९ में तिलक के नाम एक आर्डर निकाला गया कि वह ज़िला मजिस्ट्रेट की आज्ञा के बिना कोई भाषण न दें। कहा जाता है कि इससे एक सप्ताह पहले ही वह भर्त्ती कराने के पक्ष में ज़ोरदार काम कर रहे थे, और अपनी सद्भावना के प्रमाण के तौर पर उन्होंने महात्मा गांधी के पास पचास हज़ार रुपये का एक चेक भेजा था कि यदि मैं शर्त को पूरा न कर दिखाऊँ तो यह रक़म शर्त हारने के जुर्माने के रूप में ज़ब्त करली जाय। शर्त यह थी कि यदि गांधीजी सरकार से पहले यह प्रतिज्ञा प्राप्त करलें कि भारतीयों को सेना में कमीशण्ड ओहदा दिया जायगा तो तिलक महाराष्ट्र से पचास हज़ार आदमियों की भर्त्ती करा देंगे। गांधीजी का कहना था कि सहायता किसी सौदे के रूप में न होनी चाहिए और इसलिए उन्होंने तिलक का चेक लौटा दिया।

सितम्बर १९३८ में यूरोप की युद्ध-सम्बन्धी परिस्थिति पर विचार करने के लिए दिल्ली में कांग्रेस-कार्यसमिति की बैठक प्रतिदिन हो रही थी। देश में दो तरह की विचार-प्रणाली के व्यक्ति थे—एक वे जो ब्रिटेन से भारत के अधिकारों की बावत कोई समझौता करने के और उसके बाद सहायता देने के पक्ष में थे। दूसरे वे लोग थे जो युद्ध में किसी परिस्थिति में भी सहायता करने को तैयार न थे। गांधीजी दूसरे दल में थे, और १९३८ में किसी भी परिस्थिति में युद्ध में भाग लेने के उतने ही दृढ़

विरोधी थे जितने कि १९१८ में ब्रिटेन को बिलाशर्त सहायता देने के पक्षपाती थे।

१९१८ में गांधीजी अनेक कार्यों में पड़ गये, जिनमें सबसे प्रसिद्ध कार्य रौलट-बिलों का विरोध था। आज भी वह उसी प्रकार के उन अनेक क़ानूनों से लड़ने में लगे हुए हैं जो भारत के अनेक देशी राज्यों में—त्रावणकोर, जयपुर, राजकोट, लीम्बड़ी धेनकानल आदि में—पूरे ज़ोर-शोर से अमल में आ रहे हैं। उनकी योजना और उद्देश्य की बाबत भारत-सरकार द्वारा प्रकाशित 'इण्डिया—१९१९' के लेखक के लेख से अच्छा और क्या प्रमाण दिया जा सकता है :—

"गांधीजी सामान्यतया ऊँचे आदर्श और पूर्ण निस्वार्थता रखने वाले टाल्स्टाय-वादी समझे जाते हैं। जबसे उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में भारतवासियों का पक्ष लिया तबसे उनके देशवासी उन्हें उसी परम्परागत श्रद्धा-भक्ति से देखते हैं, जो पूर्वीय देशों में सच्चे त्यागी धार्मिक नेता के प्रति हुआ करती है। उनमें एक विशेषता यह भी है कि उनके प्रशंसक केवल किसी एक ही मत के नहीं हैं। जबसे वह अहमदाबाद में रहने लगे, तबसे उनका कई प्रकार के सामाजिक कार्यों से क्रियात्मक सम्बन्ध होगया है।

"जिस किसी व्यक्ति या वर्ग को वह पीड़ित समझते हैं उसके पक्ष में पड़कर लड़ने को वह शीघ्र तत्पर हो जाते हैं, और इस कारण वह अपने देश के सामान्य लोगों में बड़े लोकप्रिय बन गये हैं। बम्बई प्रान्त के कई भागों की शहरी और देहाती जनता में उनका प्रभाव असंदिग्ध है, और उनके प्रति लोग इतनी श्रद्धा रखते हैं कि उसके लिए पूजन शब्द कहना अत्युक्ति न होगा। चूंकि गांधीजी भौतिक शक्ति से आत्मिक बल को ऊँचा समझते हैं, इसलिए उनको यह विश्वास होगया कि रौलट-एक्ट के विरुद्ध निष्क्रिय प्रतिरोध का वही शस्त्र प्रयुक्त करना उनका कर्तव्य है, जो उन्होंने सफलतापूर्वक दक्षिण अफ्रीका में प्रयुक्त किया था। २४ फरवरी को यह घोषणा करदी गई कि अगर बिल पास कर दिये गये तो वह निष्क्रिय प्रतिरोध या सत्याग्रह चलायेंगे। सरकार नें और कई भारतीय राजनीतिज्ञों ने भी इस घोषणा को अत्यन्त गम्भीर समझा। भारतीय लेजिस्लेटिव कौंसिल के कुछ नरम विचार के मेम्बरों ने सार्वजनिक रूप में ऐसे कार्य के भयंकर परिणामों की आशंका प्रकट की। श्रीमती बेसेण्ट ने, जिन्हें भारतवासियों के मानस का अच्छा ज्ञान था, अत्यन्त गम्भीर भाव से गांधीजी को चेता दिया कि जिस प्रकार का आन्दोलन वह चलाना चाहते हैं, उससे भीषण परिणाम पैदा करनेवाली अतोल क्रियाशक्तियाँ उत्पन्न होंगी। यह स्पष्ट कह देना होगा कि गांधीजी के रुख या वक्तव्यों में ऐसी कोई वात न थी, जिससे सरकार के लिए उनके आन्दोलन शुरू करने से पहले उनके विरुद्ध कोई कार्य करना उचित होता। निष्क्रिय प्रतिरोध विधानात्मक नहीं, बल्कि निषेधात्मक क्रिया है। गांधीजी नें प्रकटरूप से पार्थिव बल-प्रयोग की निन्दा की। उन्हें विश्वास था कि क़ानूनों के निष्क्रिय भंग से वह सरकार को रौलट-क़ानून हटा देने को बाध्य कर सकेंगे। १८ मार्च को

रौलट क़ानूनों की बाबत उन्होंने एक प्रतिज्ञापत्र प्रकाशित करवाया, जिसमें लिखा था—"चूंकि हमारी अन्तरात्मा को यह विश्वास है कि इण्डियन क्रिमीनल लॉ एमेण्डमेण्ट बिल नं० १, सन् १९१९, और क्रिमिनल एमर्जेंसी पावर्स बिल नं० २ सन् १९२० अन्यायपूर्ण हैं, स्वतन्त्रता और इन्साफ़ के उसूलों के विरुद्ध हैं, जिनपर कि सम्पूर्ण भारत की सुरक्षितता और स्वयं राज्यसंस्था का आधार है, इसलिए हम गम्भीरतापूर्वक प्रतिज्ञा करते हैं कि यदि ये बिल क़ानून बना दिये गये तो जबतक ये वापस न ले लिए जायँगे तबतक हम इन क़ानूनों का और आगे मुक़र्रर होनेवाली कमेटी जिन-जिन क़ानूनों को बनाना उचित समझेगी उन-उनका पालन करने से विनयपूर्वक इन्कार कर देंगे। और हम यह भी प्रतिज्ञा करते हैं कि इस लड़ाई में हम ईमानदारी से सत्य का अनुसरण करेंगे और जान-माल और ज़ात के प्रति हिंसा न करेंगे।"

१९१९ (२१ जुलाई) में गांधीजी ने सरकार की और मित्रों की सलाह मानली और सविनय आज्ञाभंग स्थगित कर दिया और १९३४ (अप्रैल) में फिर उन्हें अपनें आपके सिवा सबके लिए सविनय आज्ञाभंग स्थगित करना पड़ा। १९१९ में उन्होंने कहा कि "मुझपर यह आरोप लगाया गया है कि मैंने एक जलती हुई दियासलाई छोड़ दी है। यदि मेरा आकस्मिक प्रतिरोध एक जलती हुई दियासलाई है तो रौलट क़ानून का बनाना और उसको जारी रखने की ज़िद करना तो भारतवर्ष में हज़ारों जलती हुई दियासलाइयाँ बिखेर देने के समान है। सविनय प्रतिरोध की बिलकुल नौबत न आनें देने का उपाय है उस क़ानून को ही वापस ले लेना।" फिर सविनय आज्ञाभंग स्थगित करते समय ७ अप्रैल १९३४ को अपने पटना के वक्तव्य में उन्होंने कहा :

"मुझे प्रतीत होता है कि सामान्य जनता को सत्याग्रह का पूरा सन्देश प्राप्त नहीं हुआ है, क्योंकि सन्देश उस तक पहुँचते-पहुँचते शुद्ध नहीं रह पाता है। मुझे यह स्पष्ट होगया है कि आध्यात्मिक साधनों का प्रयोग जब अनाध्यात्मिक माध्यमों द्वारा सिखाया जाता है तब उनकी शक्ति कम होजाती है। आध्यात्मिक सन्देश तो स्वयं-प्रचारित होते हैं।

"मैं सब कांग्रेसवादियों को सलाह देता हूँ कि वे स्वराज्य की ख़ातिर सविनय भंग, जो विशेष कष्टों को दूर कराने की ख़ातिर किये जानेवाले सविनय भंग से भिन्न हैं, स्थगित करदें। वे इसे केवल मेरे ऊपर छोड़ दें। मेरे जीवित रहने तक इस शस्त्र का प्रयोग दूसरे लोग केवल मेरे नियन्त्रण में रहकर करें, जबतक कि कोई और व्यक्ति ऐसा खड़ा न होजाय जो इस विज्ञान को मुझसे ज्यादा जानने का दावा करता हो और विश्वास उत्पन्न कर सके। मैं सत्याग्रह का जन्मदाता और प्रारम्भकर्त्ता होनें के कारण यह सलाह देता हूँ। इसलिए जो लोग मेरी सलाह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूप से पाकर स्वराज्य-प्राप्ति के लिए सविनय आज्ञाभंग में लग गये थे, वे कृपया सविनय

आज्ञाभंग करने से रुक जायँ। मुझे पूर्ण विश्वास है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति की भारत की लड़ाई के हित में ऐसा करना ही सर्वोत्तम मार्ग है।

"मानव-जाति के इस सबसे बड़े शस्त्र के विषय में मेरे मन में बहुत ही सर-गर्मी है।"

उसी पटना-वक्तव्य में १९३४ में उन्होंने शोक प्रदर्शित किया कि "बहुत-से लोगों के आधे हृदय से किये हुए सविनय आज्ञाभंग के कारण, चाहे उसका परिणाम कितना भी भयंकर क्यों न हुआ हो, सामान्यतया न तो आतंकवादियों के हृदय पर प्रभाव पड़ा और न शासकों के हृदयों पर।" किन्तु आज उन्हें यह संतोष मिला है कि २५०० से अधिक ऐसे मित्र नज़रबन्दी से छूट गये हैं, और उन्होंने अहिंसा पर अपना विश्वास भी प्रकट कर दिया है। हिंसा पर अहिंसा की विजय का सबसे बड़ा उदाहरण तो यह हुआ कि सरदार पृथ्वीसिंह ने, जिसे मरा हुआ मान लिया गया था, किन्तु जो वास्तव में दूसरी जगह ले जाते समय हिरासत में से चलती रेल से कूदकर भाग गया था और तबसे सत्रह वर्ष तक भारत और यूरोप के बीच सरलता से फिरता रहा था, गांधीजी के हाथों में अपने आपको सौंप दिया, और उन्होंने भी उसे भारत की ब्रिटिश सरकार की जेल के सुपुर्द कर दिया, और वह अब फिर उसकी रिहाई के लिए ज़ोरदार प्रयत्न कर रहे हैं।[१]

१९१९ में सविनय आज्ञाभंग को स्थगित करने के बाद गांधीजी को पंजाब की घटनाओं के इस अप्रत्याशित ढंग से घटित होने की बात जानकर निःसन्देह बड़ा आघात पहुँचा। उन्होंने स्वीकार किया कि उनसे 'हिमालय-जैसी बड़ी भूल हुई', जिसके कारण ऐसे अयोग्य लोग जो सच्चे सविनय आज्ञाभंगकारी न थे, गड़बड़ पैदा कर सके।"

जब १९१९ का शासन-सुधार-क़ानून बना, तब गांधीजी का यह मत था कि यद्यपि सुधार असंतोषजनक और अपर्याप्त हैं, तो भी कांग्रेस को सम्राट् की घोषणा की भावनाओं को मानकर प्रकट करना चाहिए कि उसे विश्वास है कि "सरकारी अधिकारी और जनता दोनों इस प्रकार सहयोग करेंगे कि जिससे उत्तरदायी सरकार क़ायम होजायगी।" अब इससे उनके उस रुख़ का मुक़ाबिला कीजिए, जबकि उन्होंने १९३७ में प्रांतीय शासन के दैनिक कार्य में गवर्नरों द्वारा अपने विशेषाधिकारों का प्रयोग न करने और दख़ल न देने का आश्वासन सरकार से माँगा और हिंसा-संबंधी क़ैदियों के छोड़े जाने, उड़ीसा के गवर्नर के नियुक्त किये जाने, देश के जमींदार और भूमि-सम्बन्धी क़ानूनों का आमूल सुधार करने और बारडोली के किसानों को उनकी ज़ब्तशुदा ज़मीनें वापस दिलाने के मामलों में उन्होंने उस आश्वासन को कार्यान्वित करवाया।

**१. सरदार पृथ्वीसिंह २२ सितम्बर १९३९ को रिहा कर दिये गये।** —संपादक

अमृतसर-कांग्रेस में गांधीजी ने कहा था कि "सरकार के पागलपन का जवाब समझदारी से देना चाहिए, न कि पागलपन का जवाब पागलपन से।" आज वह देश को विश्वास दिला रहे हैं कि राजकोट में और दूसरी रियासतों में जहाँ-जहाँ शासकवर्ग पागल होरहा है वहाँ अन्त में जनता की ही विजय होगी, यदि वे अहिंसा पर दृढ़ रहें और पागलपन का जवाब समझदारी से दें।

गांधीजी का पूर्णतया मानव-सेवा के क्षेत्र से निकलकर विशुद्ध राजनैतिक क्षेत्र में पहुँच जाना धीरे-धीरे अज्ञातरूप से और इच्छा के बिना ही हुआ—यह नहीं कि वह इस क्षेत्र-परिवर्तन को जानते न थे, किन्तु वह इसको रोक न सकते थे। और जब वह ऑल इण्डिया होमरूल लीग में शामिल हुए और उसके अध्यक्ष बन गये तो उन्हें अपनी शर्तों के अनुसार कर्तव्य की पुकार सुनाई दी। उनकी शर्तें उन्हींके कथनानुसार ये थीं—"जिन कार्यों में उन्हें विशेषज्ञता प्राप्त थी उनके, अर्थात् स्वदेशी, साम्प्रदायिक एकता, राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी, और प्रान्तों से भाषा-आधार पर पुनर्विभाजन के कार्यों के प्रचार में सत्य और अहिंसा का कड़ाई से पालन किया जाय।" उनकी दृष्टि में सुधार तो गौण थे। इस प्रकार धर्म के मार्ग द्वारा सामाजिक सेवा से राजनीति में आजाना उनके लिए एक सरल परिवर्तन था। आज भी वह उसी मार्ग द्वारा राजनीति से फिर सामाजिक सेवा में चले आते हैं। वास्तव में उनकी दृष्टि में दोनों चीजें एक ही हैं, जैसे कि किसी सिक्के की दो बाजुयें होती हैं, और वह सिक्का स्वयं सत्य और अहिंसा की धातुओं से बना हुआ है, जो सारे धर्मों के मूल सिद्धान्त हैं।

गांधीजी के लिए असहयोग स्वयं कोई उद्देश्य नहीं है, किन्तु किसी उद्देश्य का साधन है। उनका सहयोग का हाथ उनके विरोधी के सामनें हमेशा खुला रहता है, बशर्ते कि राष्ट्र के आत्म-सम्मान को उससे धक्का न लगता हो। १९२० में भी उनकी यही स्थिति थी और आज भी उनकी यही स्थिति है। १९२० में सरकार ने उसका तिरस्कार किया, १९३९ में सरकार ने उसको उत्साह के साथ अपनाना चाहा।

इसी प्रकार का परस्पर-विरोध गांधीजी के रुख में पूर्ण स्वाधीनता के विषय में १९२१ मेंऔर १९२९ में मिलता है। १९२१ में उन्होंने अहमदाबाद में कहा था :

"इस प्रश्न को आप में से कुछ लोगों ने जैसा मामूली-सा समझ रक्खा है उससे मुझे दुःख हुआ है। दुःख इसलिए हुआ है कि इससे जिम्मेदारी की कमी मालूम होती है। यदि हम जिम्मेदार स्त्री-पुरुष हैं तो हमें नागपुर और कलकत्ता के पिछले दिनों पर वापस पहुँच जाना चाहिए।"

१९२८ में जब स्वाधीनता का प्रश्न फिर आगे लाया गया, तब गांधीजी ने निम्नलिखित अनूठी बात कही :

"आप स्वाधीनता का नाम अपने मुँह से उसी प्रकार लेते रहें जैसे मुसलमान अल्लाह का या धार्मिक हिन्दू राम व कृष्ण का नाम लेते रहते हैं। किन्तु केवल

मन्त्र रटने से कुछ न होगा, जबतक कि उसके साथ अपने आत्मगौरव का भाव न होगा। यदि आप अपने शब्दों पर टिके रहने के लिए तैयार नहीं हैं तो स्वाधीनता कैसी होगी ? आख़िरकार स्वाधीनता तो बहुत कष्ट-साध्य वस्तु है। वह केवल शब्दाडम्बर से नहीं आजाती।"

और १९२९ में २३ दिसम्बर को जब उन्होंने लार्ड अरविन से बातचीत समाप्त की तो प्रायः यह चुनौती देदी कि अब वह देश को पूर्ण स्वाधीनता के लिए संगठित करेंगे।

१९२० में सरकार ने यह आशा और विश्वास प्रकट किया कि "ऊँचे वर्ग और सामान्य वर्ग के लोग इतने समझदार हैं कि वे असहयोग को एक काल्पनिक और असम्भव योजना समझकर त्याग ही देंगे। यदि यह सफल होजाय तो परिणामय ही होगा कि सर्वत्र अव्यवस्था होजायगी, राजनैतिक अराजकता फैल जायगी और देश में जिन-जिनकी कोई माल-मिलकियत है उन-उनका सर्वनाश होजायगा।" सरकार नें कहा कि "असहयोग में द्वेष और नादानी को जाग्रत किया जाता है। उसके सिद्धान्त में कोई रचनात्मक बीज नहीं है।" वही सरकार आज उस आन्दोलन के जन्मदाता से, तथा उसके सर्वोत्तम भाग अर्थात् सविनयभंग के उत्तराधिकारी से संधि करने को उत्सुक है।

१९२१ में जब लार्ड रीडिंग ने गांधीजी से बातचीत की—औरवह बातचीत इसलिए असफल होगई कि कलकत्ता में लार्ड रीडिंग के नाम गांधीजी का तार कुछ देरी से पहुँचा—उस समय प्रत्येक व्यक्ति का अनुमान था कि गांधीजी एक अव्यावहारिक, बल्कि असम्भव आदमी हैं। किन्तु जब लार्ड अरविन ने १९३१ में दस साल बाद उनको और उनके छब्बीस साथियों को जेल से छोड़ दिया, तो प्रत्येक व्यक्ति ने उनके उचित बात मानने और मनवाने की तथा उनके उचित दृष्टिकोण रखने के गुणों की प्रशंसा की। और जून १९३७ में जब गांधीजी और लार्ड लिनलिथगो के बीच सौजन्यपूर्ण सन्धि-चर्चा हुई तो उसमें भी यही सद्गुण फिर उसी प्रकार सामने आये। और उसी प्रकार परिणामकारी हुए, जिससे कि अन्त में कांग्रेस ने पदग्रहण करना स्वीकार कर लिया।

१९२२ में चौरी-चौरा-काण्ड के कारण, जिसमें कि इक्कीस पुलिस के सिपाही और एक सब-इन्सपेक्टर और वह थाना जिसमें कि वे सब बन्द थे जला दिये गये, गांधीजी ने सविनय आज्ञा-भंग के सारे कार्यक्रम को स्थगित कर दिया और१९३९ में राणपुर (उड़ीसा) में बेज़लगेटी की हत्या के कारण भी उन्होंने उड़ीसा व ईस्टर्न एजेन्सी के देशी राज्य के लोगों को वही सलाह दी। अहिंसा की सर्व-प्रधानता के मार्ग में स्वप्रतिष्ठा का ख़याल कभी आड़े नहीं आया है। १९२४ में गांधीजी के जेल से छूटनें के बाद उन्होंने एक वक्तव्य दिया, जिसमें उन्होंने कहा कि मेरी राय

अब भी यही है कि कौंसिल-प्रवेश असहयोग के साथ असंगत है।" परन्तु १९३४ में जब सविनय आज्ञा-भंग स्थगित कर दिया गया तो कौंसिल-प्रवेश का उन्होंने समर्थन किया, और उसको ऐसी शर्तों के साथ मन्त्रिपद ग्रहण कर लेने तक पूरी तरह कार्यान्वित कर दिया, जिससे कि मन्त्रिगण रिफ़ार्म्स एक्ट पर राष्ट्र की इच्छा व माँग के अनुसार, न कि अंग्रेज़ों की मर्ज़ी के अनुसार, अमल करने में समर्थ हुए।

१९३४ में ७ अप्रैल को अपने प्रसिद्ध पटना-वक्तव्य में उन्होंने देशी राज्यों के विषय में लिखा कि "देशी राज्यों के बाबत कुछ व्यक्तियों नें जिस नीति का समर्थन किया, वह मेरी नीति से बिल्कुल भिन्न थी। मैंने इस प्रश्न पर कई घण्टे गम्भीर चिंता के साथ विचार किया है, किन्तु मैं अपनी सम्मति बदल नहीं सका हूँ।"

१९३९ में उन्होंने अपनी सम्मति पूरी तरह बदल ली, और इसका कारण यही था कि देशी राज्यों की परिस्थितियाँ बिलकुल बदल गईं। देशी राज्यों की जाग्रति ने उनकी सहानुभूति यहाँ तक प्राप्त कर ली है कि आज वह देशी राज्यों की जनता के पक्ष को अधिक-से-अधिक समर्थन दे रहे हैं, यहाँतक कि श्रीमती (कस्तूर बा) गांधी आज राजकोट की जेल में बन्द हैं और गांधीजी ने कह दिया है कि देशी नरेशों को या तो अपनी जनता को उत्तरदायी शासन देदेना पड़ेगा या मिट जाना पड़ेगा।

## गांधीजी की आन्तरिक प्रेरणा

सत्य और अहिंसा मनुष्य के ऊँचे अनुभव की बातें हैं, जिनको समझने के लिए आदमी में उसी प्रकार की अभ्याससिद्ध अनुभव-शक्ति की आवश्यकता पड़ती है जैसी कि संगीत और गणित को या खद्दर-वस्त्र और साम्प्रदायिक एकता को समझने के लिए। अभ्यस्त संवेदन शक्ति से अन्तरात्मा की अनुभूतियाँ बढ़ जाती हैं, और गांधीजी सदा अन्तरात्मा की अनुभूति अन्तःप्रेरणा से निर्णय करते हैं न कि बुद्धि-प्रयोग से। सद्गुणी लोग सत्य को अन्तरात्मा की प्रेरणा से अनुभव कर लेते हैं। इसी प्रकार सद्गुणों की यह साकार मूर्ति भी सत्य का अनुभव अन्तरात्मा की प्रेरणा से किया करती है। और गांधीजी के चरणचिन्हों पर चलनेवाले अनुयायियों का यह कर्तव्य होजाता है कि उनकी शिक्षाओं का अपने काल और अपने देश के नैतिक नियमों और सामाजिक व्यवहारों के अनुसार अर्थ लगायें और व्याख्या करें। अपनी आन्तरिक प्रेरणा से ही उन्होंने १९२२ में बारडोली में सविनय आज्ञा-भंग को सहसा स्थगित करने का, १९३० में नमक-सत्याग्रह चालू करने का, १९३४ में सविनय आज्ञाभंग बन्द करने का, और १९३९ में देशी राज्यों सम्बन्धी नीति का निर्णय किया। उन्हें सहसा नये प्रकाश, नये ज्ञान का अनुभव होता है। कई बाई उन्होंने कहा है कि मुझे प्रकाश नहीं मिल रहा है, और उसको पाने के लिए मैं प्रार्थना करता रहता हूँ: और जब उन्हें प्रकाश मिल जाता है तो उनके अनुयायियों को वह विचित्र प्रतीत होता है, क्योंकि उनका

उपाय भी अभूतपूर्व और भयोत्पादक होता है। यदि अखिल-भारतीय महासभा-समिति की किसी बैठक में एक विक्षिप्त मनुष्य बाधा डालता है तो वह स्वयंसेवकों को उसे बाहर निकाल देने से रोक देते हैं और तीन सौ सदस्यों की उस सभा को ही स्थगित कर देते हैं। बाधा डालनेवाला लाचार, निष्क्रिय, होजाता है। यदि चिराला-पेराला की जनता पर ज़बरदस्ती और लोगों की मर्ज़ी के विरुद्ध एक म्युनिसिपल कमेटी लाद दी जाती है तो उनका उपाय यह है कि जनता को स्थान ख़ाली करदेना चाहिए। और वास्तव में जनता नें शहर उसी तरह खाली कर दिया जैसा कि प्राचीनकाल में ज़ेबेक डोरची के विरुद्ध विद्रोह करनेवाले तातारों ने किया था। बारडोली और छरसदा के करबन्दी आन्दोलनों में किसानों से कहा गया कि अपने घर-बार छोड़दें और निकट-वर्त्ती बड़ौदा राज्य में जा बसें, और इस प्रकार बड़ी-बड़ी पल्टनें रखनेवाली शक्तिशाली ब्रिटिश सरकार को भी लड़ाई में बेबस होना पड़ा। जब उड़ीसा के नीलगिरी राज्य के लोगों पर राजा ने ज़ुल्म किये तो ग़लती करनेवाले राजा को सीधी राह पर लाने के लिए तैयार और पुराना नुस्ख़ा देशत्याग बता दिया गया, और उस पर अमल भी हुआ। इन सब मामलों में सफलता जनता की सहनशक्ति और हृदय की पवित्रता पर निर्भर करती है। परन्तु गांधीजी के अनुयायी सदा उनसे सहमत नहीं होते। उन्होंने फरवरी १९२२ में बारडोली के सविनय आज्ञाभंग के त्याग का जोरदार विरोध किया, और अराजकता-काण्ड में जो भावना रही थी, उसकी प्रशंसा की। १९२४ के हेमन्त में जब महासभा-समिति की बैठक में अहमदाबाद में सिराजगंज-प्रस्ताव पर फिर वोट लिया गया, तो गांधीजी खुली सभा में रो पड़े। उन्हें रोना इसलिए आया कि कुछ उनके ही परम अनुयायियों ने अपराध करनेवाले युवक की प्रशंसा में वोट दिया था।

गांधीजी की आदत आग से खेलने की है, किन्तु वह इस ज़ोखिम के खेल में से सदा बेदाग़ निकल आते हैं। वह कई बार गिरफ्तार हो चुके हैं। प्रत्येक बार अग्नि-परीक्षा ने उनके शरीर की धातु को और भी चमकदार बना दिया है। उन्होंने अपने लोगों के पागलपन की ख़ातिर अगणित बार खेद-प्रकाशन किया है, और कांग्रेस से भी ऐसा ही करने का आग्रह किया है। उन्होंनें सामूहिक सविनय आज्ञाभंग की अपनी परमप्रिय योजनाओं को भी स्थगित करना बार-बार मंजूर कर लिया है, केवल इसलिए कि कहीं-न-कहीं, कितनी ही दूर पर क्यों न हो, हिंसा होगई।

गांधीजी जब बात करते हैं, तब की अपेक्षा देश पर उनका प्रभाव उस समय अधिक पड़ता है जब वह मौन रहते हैं, और जब वह कांग्रेस के अन्दर रहते हैं, तबकी अपेक्षा अधिक प्रभाव उस समय पड़ता ह जब वह उसके बाहर रहते हैं। लोग शायद भूल गये होंगे कि उन्होंने १९२५ में कानपुर में राजनैतिक मौन रखने का प्रण किया था, जिसे उन्होंने दिसम्बर १९२६ में गोहाटी में समाप्त किया। लेकिन उनके लिए तो शारीरिक और राजनैतिक मौन की ऐसी अवधियाँ मानसिक मन्थन की ही अवधियाँ होती हैं,

जब उनके मस्तिष्क में बड़ी-बड़ी योजनायें बनती हैं और वे पूर्ण परिपक्व होकर सुनिश्चित कार्यक्रमों और सिद्धान्त-सूत्रों के रूप में प्रकट कर दी जाती हैं। ऐसी एक लम्बी अवधि कानपुर-अधिवेशन (१९२५) और कलकत्ता-अधिवेशन (१९२९) के बीच में रही थी, जिसके बाद कि लाहौर (१९२९) में पूर्ण स्वाधीनता के आधार पर सरकार को चुनौती देदी गई। गांधीजी अपने अनुयायियों की बात को नहीं मानते और उनको भी उसी प्रकार की कसौटी पर चढ़ाते हैं जिस प्रकार कि अपने विरोधियों को। यदि उनकी कसौटी पर वे ठीक बैठते हैं तो वह उनके विचारों को ग्रहण कर लेते और अपने बना लेते हैं। यदि वे कसौटी पर नहीं बैठते तो छोड़ दिये जाते हैं। उन्होंने सविनय आज्ञाभंग के विषय में, पूर्ण स्वाधीनता के विषय में, और अन्त में देशी राज्यों के विषय में भी ऐसा ही किया। आजकल वह देशी राज्यों के मामले में बड़े उग्र हो रहे हैं, जिससे कि उनके साथियों को भी बड़ा आश्चर्य और उनके विरोधियों को बड़ा क्लेश हो रहा है। नवयुवक काँग्रेसवादी उनकी नेकनीयती में संदेह करते हैं, और उन्होंने उनपर अँग्रेज़ों के फ़ेडरेशन के मामले में समझौता करने की तैयारी का सार्वजनिक आरोप लगाया है। वे ज़ोर-ज़ोर से चिल्ला कर घोषित करते हैं कि फ़ेडरेशन की इमारत को, जो कि दोमंज़िला है, नष्ट कर देने का उनका निश्चय है। नवयुवक अपनी तोपों का मुँह ऊपरी मंज़िल की ओर कर रहे हैं। गांधीजी पहले से ही पहली मंज़िल को और उसके खंभों को गिरा रहे हैं। ये खंभे हैं देशी राज्य, जिनके बिना फ़ेडरेशन की इमारत नहीं बन सकती और नीचे की मंज़िल के प्रांतीय कमरे भी गिरते हुए से हो रहे हैं, क्योंकि ऊपरी मंज़िल को उठानेवाले खंभे भी तेज़ी से टूट-टूट कर गिरते जा रहे हैं। गांधीजी की रण-नीति का आधार सत्य है। उनका अस्त्र-शस्त्र अहिंसा है। वह जो शब्द कहते हैं सच्चे अर्थों में कहते हैं। और जो कहते हैं वह कर दिखाते हैं। जब उन्होंने दूसरी गोलमेज परिषद् में इंग्लैण्ड में कहा था कि यदि सरकार हरिजनों के लिए पृथक चुनाव-क्षेत्र बनायगी तो अपने प्राण देकर भी मैं हिन्दू-समाज को टुकड़े किये जाने से बचाऊँगा, तो उन्होंने यह कथन सच्चे अर्थों में किया था। उन्होंने इंग्लैण्ड से लौटकर ( २८ दिसम्बर १९३१ को ) आज़ाद मैदान में फिर इस कथन की पुष्टि की। उन्होंने इस बात को मार्च १९३२ में सर सैम्युअल होर के नाम एक पत्र में लिखित रूप में भी भेज दिया और २० सितम्बर १९३२ को उन्होंनें इसी बात पर 'आमरण अनशन' प्रारम्भ कर दिया। आज वह देशी राज्यों के प्रश्न पर फिर एक भयानक प्रतिज्ञा कर रहे हैं, और वह फ़ेडरेशन को तोड़ देंगे। "और तो क्या, यदि ईश्वर ने चाहा तो, मैं तो यह अनुभव करता हूँ कि मुझ में अभी पहली लड़ाइयों से भी ज़ोरदार एक और लड़ाई लड़ने का बल और उत्साह मौजूद है।"

गांधीजी के जीवन और व्यवहार में परस्पर-विरोध मिलते हैं, किन्तु वह दिखावटी और काल्पनिक ही हैं, क्योंकि जो व्यक्ति अत्यन्त धार्मिक और बहुत

व्यावहारिक होता है उसमें ऐसी विशेषतायें होना आवश्यक ही हैं। वास्तविक जीवन से आदर्श को मिलाना, सावधानी से साहस को जोड़ना, प्राचीनता-प्रेम से क्रांति-भावना को संयुक्त करना, भूतकाल के आग्रह के साथ भविष्य की दौड़ को सम्मिलित करना, सार्वभौमिक-मानवता-वाद की तैयारी के साथ राष्ट्रीयता-विकास का सामंजस्य करना—अर्थात्, संक्षेप में, बन्धुत्व-भावना के साथ स्वतन्त्रता का सामंजस्य करना और दोनों में से मानवता को विकसित करना, ऐसा ही कार्य है जैसा कि एक सुनिर्मित रेलगाड़ी के एञ्जिन के ब्रेक लगाना, और उसे अपनी पटरी पर उचित स्थानों पर ठहराते हुए और उचित समय पर चालू करते हुए आगे ले जाना। इस यात्रा में कहीं धीरे-धीरे चढ़ाई चढ़नी होगी, कहीं शीघ्रता से उतरना होगा, कहीं सीधी समभूमि पर चलना होगा और कहीं असमतापूर्ण और चक्करदार मार्ग से जाना होगा। भारत को यह गौरव प्राप्त है कि उनका नेता एक ऐसा व्यक्ति है जो सामान्य जनता में से ही एक साधारण मनुष्य है, किन्तु आजकल की दुनिया जिसे देखकर चकित है। वह चमत्कारी बन गया है। वह है तो एक दुबला-पतला मनुष्य ही, किन्तु मानों वास्तविक आलोक है, स्थितप्रज्ञ है, बल्कि अवतार ही है, जिसने समाज के भीतर होनेवाले संघर्षों को उच्च नैतिकता और मानवता के स्पर्श से प्रभावित कर दिया है, और जो उस दूरवर्ती दिव्य घटना—मनुष्यजाति की महापंचायत और विश्व-संघ—के शीघ्र-से-शीघ्र घटित करने का प्रयत्न कर रहा है।

## : ३६ :

# गांधीजी का विश्व के लिए संदेश

**कुमारी मॉड डी. पेट्री**

**[ स्टारिंगटन, ससेक्स, लंदन ]**

मैं एक अंग्रेज महिला हूँ, फिर भी ऐसे व्यक्ति के जीवन पर कुछ कहना चाहती हूँ जिसने खुद मेरे देश के चारित्र्य और जीवन-व्यवहार की आलोचना करने में दया नहीं दिखलाई है और जिसने बहुत हद तक उसके विरोध में अपना जीवन लगाया है। फिर भी जब उन्हें भेंट की जानेवाली इस पुस्तक में मुझे कुछ लिखने के लिए कहा गया तो उसे मैंने बेखटके स्वीकार कर लिया; क्योंकि मैं जानती हूँ कि यद्यपि महात्मा गांधी ने अपने देशवासियों की सेवा में ही सारा जीवन लगाया है तो भी उन्होंने उससे बड़े और बहुत व्यापक उद्देश, अर्थात मानव-जाति की सेवा के सिद्धान्त का भी समर्थन और प्रतिपादन किया है। और इस कारण मैं मानती हूँ कि ऐसा करके उन्होंने आवश्यक रूप से उन तमाम देशों के आदर्शों की पूर्ति के लिए काम किया है, जो इस बात को जानते हैं कि हमें संसार के भाग्य-निर्माण में क्या खेल खेलना है और खुद अपने देश

के काम-काज में क्या हिस्सा लेना है। क्योंकि एक व्यक्ति की तरह एक राष्ट्र के मन में भी दो प्रकार की जीवन प्रेरणायें होती हैं। एक तो यह कि अपनी परंपरा और संस्कृति के अनुसार अपना जीवन क़ायम रक्खें और खुद अपने कल्याण की दृष्टि से उसे चलावे; और दूसरी यह कि तमाम राष्ट्रों और मनुष्य-जाति के इस महान् समाज का एक अंग बनकर अपना जीवन-यापन करें।

महात्माजी प्रत्येक मनुष्य और मानव-समाज के हृदय में उठनेवाली इस दूसरी विशाल प्रेरणा के एक संदेशवाहक और नेता हैं; इसलिए उनके जीवन का अकेला राजनैतिक पहलू मुझे और बातों की अपेक्षा महत्वहीन मालूम है। और इसलिए मैं यहाँ उनकी उन्हीं शिक्षाओं के बारे में कहने का साहस करूँगी, जो उन्होंने मानवी निःस्वार्थता और विश्वजनीन उदारता के विषय में निरंतर हमें दी हैं। क्योंकि मैं मानती हूँ कि इन शिक्षाओं पर भावी पीढ़ी को भी अपना ध्यान केन्द्रित करना होगा।

उन्होंने खुद भी तो ऐसा ही कहा :

**"आज अगर मैं राजनीति में भाग लेता हुआ दिखाई देता हूँ तो इसका कारण यही है कि आज राजनीति हमसे उसी तरह चारों ओर लिपटी हुई है जैसे के साँप के उसकी केंचुल, जिससे कि हजारों प्रयत्न करने पर भी हम नहीं छूट सकते हैं। मैं उस साँप के साथ कुश्ती लड़ना चाहता हूँ...मैं राजनीति में धर्म की पुट देने का प्रयत्न कर रहा हूँ।"[१]**

अब एक ऐसे व्यक्ति के जीवन से जिसकी मुख्य दिशा सारे मानव-समाज का नैतिक पुनरुज्जीवन अर्थात् स्वार्थभाव, प्रतिस्पर्धा और निर्दयता का परस्पर सहिष्णुता और भाई-चारे के सहयोग में रूपांतर करना रही है, हम क्या अपेक्षा रख सकते हैं ? समझदार आदमी की अपेक्षा तो ऐसे मामलों में निराशा की, जिल्लत की और असफलता की ही हो सकती है; और मैं यह कहने की धृष्टता करती हूँ कि गांधीजी अपनी बहुत-सी सफलताओं के बावजूद वीरतापूर्ण असफलता के एक उदाहरण हैं। सुधारकों को तो हमेशा इस बात के लिए तैयार रहना पड़ता है कि वे आदर्श के एक किनारे खड़े देखते-देखते खत्म होजायँ; क्योंकि हज़रत मूसा की तरह वे अपने आदर्श की झलक ही देख सकते हैं, उसको पा नहीं सकते।

"मैंने तेरी अपनी आँखों से उसे दिखाया है, पर तू वहाँ न जाना।" क्योंकि खुद गांधीजी ने ही कहा है—"एक सुधारक का काम तो यह है कि जो हो सकनेवाला नहीं दीखता है, उसे खुद अपने आचरण के द्वारा प्रत्यक्ष करके दिखा दे।" लेकिन जब वह अपने खुद की "अल्पता और मर्यादाओं" का खयाल करते हैं, तो "चकाचौंध हो जाते हैं।"

क्योंकि जब एक बार महान् आध्यात्मिक उद्देश के अनुसार प्रत्यक्ष कार्य और

**१. रोम्यां रोलां कृत 'महात्मा गांधी' से उद्धृत।**

उद्योग किया जाता है तब शरीर और आत्मा का शाश्वत युद्ध शुरू हो जाता है; आध्यात्मिक साधना की शुद्धि में मलीनता आजाती है; हमारा उद्देश धूमिल होकर छिपने लगता है और उसका प्रवर्त्तक मानवी राग-द्वेषों के अखाड़े में आ खिचता है; उसकी अच्छी-से-अच्छी योजनाओं को पूरा करने का काम नादान लोगों के हाथ में चला जाता है; उसके अत्यन्त शुद्ध प्रयत्न पूर्ण होते-होते माननीय राग-द्वेषों और स्वार्थ-साधना से कलुषित होनें लगते हैं।

हाँ, ऐसे संग्राम में तो हार-ही-हार है। पर यही हार है जो, अन्त में, कारीगरों द्वारा तिरस्कृत पत्थरों की तरह नये जेरूसलेम अर्थात् नवीन धर्म की दीवारों की आधारशिला जैसी साबित होती है। हज़रत मूसा को अपने आदर्श की प्राप्ति तो नहीं हुई। उसके दर्शन अवश्य हुए। पर उसका लक्ष्य था सच्चा, इसलिए वहाँतक उनके पहुँच पानें या न पहुँच पाने से इसराईल के भविष्य पर कोई असर नहीं पड़ा। जिसके किनारे उन्होंने अपना शरीर छोड़ा, उस सुरम्य स्थान में बैठकर दूसरे कइयों ने शांति-लाभ किया।

और इसलिए, मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि जीवन के प्रधान प्रयत्नों की गिनती करते समय हम उसकी असफलताओं की गिनती करते हैं; क्योंकि असफलता अनिवार्य है, मगर असफलता ही फल भी लाती है।

यहाँ मैं गांधीजी की कुछ ऐसी लड़ाइयों का जिक्र करती हूँ, जिनमें उनकी हार तो हुई है, लेकिन जिनकी शिक्षायें सदा अमर रहेंगी।

सबसे पहले मशीन के खिलाफ़ उनकी लड़ाई को ही लीजिए, जिसका मुक़ाबिला तलवार या बन्दूक के सहारे नहीं, बल्कि चर्खे से करना उन्होंने चाहा। कितना दया-जनक उद्योग था यह—जैसा कि उनके कितने ही अनुयायियों ने कहा भी! यह एक ऐसा प्रयत्न था जिसकी असफलता निश्चित थी, लेकिन फिर भी उसी चर्खे ने सत्य का—आत्म-शोधक सत्य के मधुर मंत्र का—गुंजार किया है, जिसे हम बहुतों ने कभीसे और बहुत दुःखित हृदयों से अनुभव कर लिया है।

मशीन का परिणाम मनुष्य-जीवन को मानवता-हीन बनाने में हुआ है। उसमें हमारे जीवन की अधिक श्रेष्ठता आ गई है, जिससे हिन्दुस्तान के तमाम चर्खे उस पर विजय प्राप्त नहीं कर सकते। लेकिन फिर भी संभव है हिन्दुस्तान का चर्खा हमें अपनी दासता को महसूस करा दे। वह जो सादे और अधिक मानवीय जीवन की पुकार मचा रहा है उससे मनुष्य अन्त को खुद अपनी आदिमता का जोर जमाने में कामयाब हो, और इस भीमकाय राक्षस (मशीन) की काया को घटाकर उसे उचित सीमा में ला रक्खे। उसे मानवीय आत्मा का मालिक नहीं, बल्कि सेवक बनावे और जब वह मनुष्य के शरीर और आत्मा के वास्तविक कल्याण के विरुद्ध जाने लगे तब वह उसकी लगाम खेंचकर रक्खे और उससे जो क्षणिक भौतिक लाभ होते हैं उनसे भी मुँह मोड़ लेने के लिए कहे।

अब दूसरी लड़ाई लीजिए, जो उन्होंने मनुष्य और पशु के सम्बन्ध में की जाने-वाली निर्दयताओं के विरुद्ध ठानी थी और इसमें उन्हें, दूसरे देश के लोगों की तरह, अपने देश के लोगों से भी लड़ाई और विवाद में पड़ना पड़ा। उन्होंने इस बात पर ज़ोर दिया है कि "अपनी जाति से बाहर के प्राणियों का भी ध्यान रक्खो और प्राणी-मात्र के साथ अपनी एकात्मता का अनुभव करो।"

और जहाँ कि उन्होंने प्राणिमात्र को पवित्र मानने के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, तहाँ उन मूक प्राणियों के कष्टों को देखकर, जो वास्तव में क़त्ल नहीं किये जा रहे थे, बल्कि जिनकी अच्छी तरह से सम्हाल नहीं की जा रही थी, उनके हृदय ने ख़ून के आंसू बहाये हैं।

उनकी तीसरी और सबसे बड़ी लड़ाई हुई है एक के दूसरे पर दबदबे और हिंसा की भावना के खिलाफ। लेकिन इसमें वह मनुष्य के पाशविक बल और राग-द्वेष रूपी राक्षस के सामने दाऊद से भी अधिक निःशस्त्र होकर आगे बढ़ गये हैं। उनके पास एक ही हथियार है—अहिंसा।

लेकिन वह अपने शत्रुओं द्वारा ही नहीं, बल्कि इससे अधिक दुःख की बात क्या होगी कि, अपने मित्रों के द्वारा बारबार असफल बनाये गये हैं। अब वह इस उलझी हुई शान्तिवाद की समस्या को सुलझाने के लिए जोरों से जुट पड़े हैं कि इस हिंसामय जगत् में एक अहिंसाधर्मी कैसे जीवित रहे और इस हिंसा-प्रधान जगत् में खुद अहिंसा भी कैसे अपनी हस्ती कायम रख सके ?

जो लोग यह अनुभव करना चाहें कि वे कौनसी समस्या हैं, जिन्होंने महात्मा-जी को निरन्तर व्याकुल कर रक्खा है, तो उन्हें 'यंग इण्डिया' (अब हरिजन) पढ़ना चाहिए।

और वे देखेंगे कि यही वह विषय है जिसमें महात्माजी की असफलता की विजय अच्छी तरह दिखाई देती है; क्योंकि वह फिर-फिरकर कहते हैं कि "अहिंसा-सिद्धान्त का पूरा-पूरा अमल वास्तव में अबतक किया ही नहीं गया है।"

और इसलिए वह कहते हैं कि "इसको आज़माओ। क्योंकि जबतक हम शरीर-बल के द्वारा अपनी आत्मा की रक्षा करना बन्द न करेंगे, तबतक हम आत्मबल का सच्चा अन्दाज़ कभी नहीं लगा सकेंगे।

"मैं तो ज़ालिम की तलवार की धार को ही बिलकुल भोंटा कर देना चाहता हूँ। उससे अधिक तेज़ धारवाले हथियार से नहीं, बल्कि इस आशा में उसे निराश करके कि मैं शरीर-बल से उसका मुक़ाबिला करूँगा। इसके बदले में जिस आत्मबल से उसका प्रतिकार करूँगा उसे देखकर वह भ्रान्त रह जायगा। पहले तो चकाचौंध में पड़ जायगा, पर अन्त में उसे उसका लोहा मानना ही पड़ेगा, जिसके फलस्वरूप उसका तेजोनाश नहीं होगा, बल्कि वह ऊँचा उठेगा। इसपर यह कहा जा सकता है

## : ३७ :

# गांधीजी का उपदेश

## हेनरी एस. एल. पोलक

[ लन्दन ]

डॉ० मॉड रायडन के मंत्रित्व-काल में, जब कुछ साल पहले, गिल्ड हाउस में 'आधुनिक विचार-धारा के निर्माता' विषय पर कुछ व्याख्यान हुए थे, तब उनमें गांधीजी का भी नाम शामिल था। मगर यह कोई दैवयोग की बात नहीं थी; क्योंकि आज के महापुरुषों की क़ीमत आंकने का और संसार के विचार और आचार में किसने क्या देन दी है, इसकी चर्चा करने का जब समय आवेगा तब, मैं समझता हूँ, हिन्दुस्तान के इस सबसे बड़े नेता से बढ़कर शायद ही किसी का नाम अधिक प्रमुखता से और विधायक रूप में लिया जा सके।

संसार में दूसरे नेता भी ऐसे हैं जिनके नाम इनसे भी ज्यादा मनुष्यों की ज़बान पर आते हैं। वे नेता तो हैं मगर जीवन के नहीं, मौत के। वे नेता अवश्य हैं, मगर रसातल की ओर लेजानेवाले, न कि शिखर की ओर। वे नेता हैं द्वेष और हिंसा के, न कि प्रेम और अहिंसा के। वे ऐसे नेता हैं जो कि वापस बर्बरता की ओर ले जाते हैं, न कि आगे अधिक उत्तम सभ्यता की ओर। वे नेता हैं एक परमपिता परमेश्वर की गोद में खेलनेवाले बालकों के, भ्रातृ-भाव के नहीं, बल्कि जाति-विशेष की श्रेष्ठता के सिद्धान्त के, जो कि मिथ्या देवत्त्व की कोटि तक पहुँचा दिया गया है।

परन्तु क्या वह पुरुष जो भूतकालीन इतिहास के धुँधले प्रकाश को देखता है, उसकी शिक्षाओं को हृदयंगम करता है और उसके परिणामों को ध्यान से देखता है, यह सन्देह कर सकता है कि अन्त में जाकर गांधीजी की अहिंसा की शिक्षा ही विजय के सिंहासन पर बैठने वाली है, न कि इन नये क़ैसरों के हिंसा के अवलम्बन? गांधीजी की जो विजय हुई हैं वे आत्मिक जगत् में हुई हैं, जिन्होंने मानव-जाति के पुनरुज्जीवन के बीज बोये हैं, जबकि इन नेताओं की सफलतायें पार्थिव जगत् की हैं और उनके पथ पर ख़ून और आँसुओं की बूँदें बिखरी हुई हैं। गांधीजी अपने विरोधी को ख़ुद कष्ट-सहन करके जीतेंगे, जबकि ये नेता जो कोई भी उनके रास्ते में खड़ा हो उसके निष्ठुर विनाश के द्वारा मानव-जाति के कष्टों और दुःखों में उलटे वृद्धि करते हैं।

कई साल पहले गांधीजी ने मुझसे कहा था कि लोग कहते हैं कि "मैं सन्त हूँ, मगर राजनीति में फँसकर अपने आपको गँवा रहा हूँ। पर सच बात यह है कि मैं एक

राजनीतिज्ञ हूँ और सन्त बननें का भगीरथ यत्न कर रहा हूँ।" यह मानवीय अपूर्णता का एक नम्रतापूर्ण, घरेलू और आधुनिक ढंग का स्वीकार है, जो कि आत्मानुशासन के द्वारा निश्चित रूप से पूर्णता के शिखर की ओर उत्तरोत्तर बढ़ने का यत्न कर रहा है। पिछले पचास वर्षों की 'सत्य-शोध' की अपनी यात्रा में जो दोष उनके कार्यों में प्रकट हुए हैं और जो निर्णय की भूलें उनसे हुई हैं, जिन्हें कि बार-बार उन्होंने क़बूल किया है, उनका स्पष्टीकरण उनके इस कथन से हो जाता है। उन्होंने अपने इस निरन्तर आग्रह में कि "सत्यान्नास्ति परो धर्मः" कभी कसर नहीं की है और इस बात को जानने और मानने के लिए यह जरूरी नहीं है कि कोई उनके परिस्थिति-सम्बन्धी या उसके मुक़ाबिला करने के सर्वोत्तम साधन-सम्बन्धी विचारों से सहमत ही हों। और हम एक मनुष्य से और क्या माँग सकते हैं, सिवा इसके कि वह अपने आदर्श की ओर बराबर ध्यान लगाये रहे और अपने विश्वास पर अटल रहे। अगर वह कहीं किसी समय लड़खड़ाता है या अटकने लगता है, तो उसे ऐसी कठिन यात्रा के मनुष्यमात्र को होनेवाले अनुभवों के सिवा और क्या कह सकते हैं ? ऐसे समय गांधीजी हमसे यह विश्वास करने के लिए कहते हैं कि ये तो हमारे लिए चेतावनियाँ हैं, जिनसे कि हम अपनी ग़लतियों को सुधार सकें और अपने निश्चित ध्येय की ओर ज्यादा सही तरीके से आगे बढ़ सकें।

अपनी इस पवित्र यात्रा के दरमियान उन्होंने बहुत-से पाठ सीखे हैं और बहुतेरे व्यावहारिक अनुभव प्राप्त किये हैं, जो इस पथ के तमाम पथिकों के लिए बड़ी संपत्ति का काम देंगे। केवल मंत्रोच्चार की उनके नज़दीक कोई क़ीमत नहीं है। उनकी राय में उनमें मानवीय जीवन की आवश्यकता की पूर्ति और मामूली व्यवहार में उपयोगी बनने का भाव भी अवश्य होना चाहिए। फिर उनका कहना है कि वे ऐसे हों जो सब जगह लागू हो सकें। और यदि वे ऐसे नहीं हैं तो कहना होगा कि वे मुख्यतः असत्य हैं। इसलिए अहिंसा का जो अर्थ जीवन के व्यवहार-नियम के तौर पर हमारे सामने उन्होंने रक्खा है, उसपर हमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

वह कहते हैं—"जो दूसरों के प्रति अपने व्यवहार में अहिंसा ( जिसको दूसरी जगह गांधीजी ने सत्य का 'परिपक्व फल' कहा है ) का आचरण नहीं करते और फिर भी बड़ी बातों में उसका उपयोग करने की आशा रखते हैं, वे बड़ी गलती पर हैं। पुण्य की तरह अहिंसा की शुरुआत भी घर से होनी चाहिए। और अगर एक व्यक्ति को अहिंसा की तालीम लेने की ज़रूरत है, तो उससे भी अधिक एक राष्ट्र के लिए उसकी तालीम ज़रूरी है। यह नहीं होसकता कि हम अपने घर-आँगन में तो अहिंसा का व्यवहार करें और बाहर हिंसा का। नहीं तो कहना होगा कि हम अपने घर-आँगन में भी दरअसल अहिंसक नहीं हैं। हमारी अहिंसा अक्सर दिखाऊ होती है। आपकी अहिंसा की कसौटी तभी होती है जब आपको किसी प्रतिकार का सामना करना पड़े।

भद्र पुरुषों में रहते हुए आपका सभ्यता और शिष्टता का व्यवहार अहिंसा नहीं भी कहा जा सकता है। अहिंसा तो कहते हैं परस्पर सहिष्णुता को। अतएव जब आपका यह विश्वास होजाय कि अहिंसा हमारे जीवन का धर्म है, तो आपके लिए यह ज़रूरी है कि आप उनके प्रति अहिंसक रहें जोकि आपके साथ अहिंसा का व्यवहार करते हों। और यह नियम जैसे व्यक्ति पर घटता है वैसे ही एक-दूसरे राष्ट्रों पर भी लागू करना चाहिए। हाँ, यह ठीक है कि दोनों के लिए तालीम की ज़रूरत है और शुरुआत तो थोड़े से सभी जगह होती है। पर अगर हमें सचमुच विश्वास होगया है तो और चीज़ें अपने आप ठीक होजावेंगी।" इसका सार उनके एक पुराने कथन में समा जाता है—"तुम अपना आदर्श और नियम ठीक रक्खो, किसी दिन अवश्य सफल होगे।"

इस क़िस्म की शिक्षा—जो कि भारत (और फिलस्तीन) में प्राचीन समय से रही है—उन तानाशाहों को महज़ पागलपन मालूम होगी जिनकी सत्ता-लोलुप राजनीति हमारे संसार की उच्च और उदार बातों को नष्ट कर करती हुई संसार के लिए महान् संकट सिद्ध होरही है। और हिंसा तथा निर्दयता के कोप-भाजन बने भयत्रस्त लोगों को भी, तथा उन लोगों को भी जो आधुनिक विजयों की हृदयहीनता और अर्थलिप्सा के हमले की आशंका से कांप रहे हैं, महज़ पागलपन ही दिखाई देगा। मगर फिर भी क्या गांधीजी की और उनके ऋषि-मुनि पूर्वजों की, जिन्होंने यह सिखाया कि द्वेष को प्रेम से जीतो, दूसरों को अपने ही समान समझो और प्रेम करो, और यह कि हम एक-दूसरे के भाई-भाई हैं, शिक्षा और उपदेश सही नहीं है? और क्या यह भी सही नहीं है कि द्रुत सम्पर्क और आवागमन के परस्पराश्रय के स्वीकार, और बढ़ते हुए परस्पर विचार-मिश्रण की इस दुनिया में मनुष्य के और उच्च-उदात्त वस्तुओं के जीवित रहने का एक ही अवसर है, और वह यह कि इस नये पैग़ंबर ने आधुनिक भाषा में जो यह प्राचीन शिक्षा दी है उसपर अमल किया जाय?

जबकि लोग औरों को 'नेता' कहते हैं और गांधीजी को 'महात्मा' (हालाँकि गांधीजी को इसपर दुःख ही होता है) तो यह निरर्थक नहीं है। सचमुच ही वह महान् आत्मा थी, जिसने तीस साल पहले अपनी अन्तर्दृष्टि से लिखा था: "आत्म-बल की दुनिया में कोई जोड़ नहीं। शस्त्र-बल से वह कहीं श्रेष्ठ है। तब उसे महज़ कमज़ोर का शस्त्र कैसे कह सकते हैं? सत्याग्रही के लिए जिस साहस की जरूरत होती है उसे वे लोग नहीं जानते जो शरीरिक बल से काम लेते हैं।...सच्चा योद्धा कौन है? वह जोकि मृत्यु को हमेशा अपना आत्मीय मित्र समझता है।...सिर्फ मन पर अपना अधिकार होने की ज़रूरत है, और जब वहाँतक पहुँच गये तो मनुष्य स्वतंत्र हो जाता है... फिर उसका एक दृष्टिपात ही शत्रु को निस्तेज कर देता है।" तब कोई आश्चर्य नहीं, यदि उन्होंने निःशंक और निश्चयात्मक रूप से कहा—"मेरा यह विश्वास अटल बना हुआ है कि अगर एक भी सत्याग्रही आखिरतक डटा रहे तो विजय अवश्य ही निश्चित है।"

आजकल तलवार खड़खड़ानेवाले लोग ध्वनि-वाहकों ( माईक्रोफोन ) के द्वारा संसार को आदेश देते हैं और बम-गोले गिराकर तथा ज़हरीली गैस छोड़कर अपने आदेश को विराम देते हैं। वे दूसरे राष्ट्रों पर हुई अपनी विजय की शेखी बघारते फिरते हैं और आज़ादी के खंडहरों में अकड़कर चलते हैं। और लोग एक ओर उनके इस अभिमान के साधन बनते हैं तो दूसरी ओर उनकी हिंसा के शिकार। कहाँ यह और कहाँ इस भारतीय गुरु की धीमी वाणी, उनका आत्मिक शक्तियों पर दिया हुआ ज़ोर और शान्ति, प्रेम तथा बन्धुता के प्राचीन सन्देश का पुनःस्मरण। सदा की तरह अब भी नवयुग का यह सन्देश हमको पूर्व से मिला है। क्या हममें उसे सुनने की अक्ल और उसे सीखने की समझदारी है? गांधीजी यह ढोंग नहीं करते कि उनका सन्देश मौलिक है। अपनी 'आत्म-कथा' में वह कहते हैं—"जिस ऋषि ने सत्य का साक्षात्कार किया है उसने अपने चारों ओर व्याप्त हिंसा में से अहिंसा ढूँढ़ निकाली है और गाया है—हिंसा असत् है और अहिंसा सत् है।"

नवयुवक लोगों में एक पीढ़ी या उससे कुछ पहले जैसी हवा बही थी वैसी अब भी बह चली है। वे धर्म का मज़ाक उड़ाते हैं और यह कहकर उससे इन्कार करते हैं कि यह, इससे भी अधिक हीनकोटि का नहीं तो कम-से-कम मानवीय अज्ञान और मूर्खता का अंधविश्वासपूर्ण अवशिष्ट-मात्र है। निःसन्देह हिन्दुस्तान में भी एक ऐसा ही मिथ्या दर्शन फैल रहा है और बहुत-से नवयुवक और नवयुवतियाँ भूसी के साथ गेहूँ को भी फेंक देने की कोशिश कर रहे हैं।

क्या ही अच्छा हो कि वे अपने महान् ऋषि-मुनियों के वचनों का मनन करें और उस प्राचीन ज्ञान के वास्तविक अर्थ को नये सिरे से ढूँढनें का प्रयत्न करें। परन्तु यदि वे अपने प्राचीन पूर्वजों के विद्या और ज्ञान से लाभ नहीं उठाना चाहते तो, कम-से-कम उन्हें, अपने ही समय के, इस महान् राष्ट्रीय नेता के ज्ञान और शिक्षा पर तो अवश्य ध्यान देना चाहिए, जबकि वह अधिकारयुक्त वाणी से कहते हैं:

"धर्म हम लोगों के लिए कोई बेगानी चीज़ नहीं है। हमी में से उसका विकास होना है। हमेशा वह हमारे भीतर विद्यमान है। कुछ के अन्दर जाग्रत रहता है, कुछ के अंदर बिलकुल सुप्त, मगर है हरेक में ज़रूर। और यह धार्मिक भाव जो कि हमारे अंदर है, उसे चाहे हम बाहरी साधनों की सहायता से, चाहे आन्तरिक विकास क्रिया-द्वारा जाग्रत करें, बात एक ही है। पर हाँ, उसे जाग्रत किये बिना गति नहीं है—यदि हम किसी काम को सही तरीके से करना चाहते हों या किसी स्थायी चीज़ को पाना चाहते हों।" इसी तरह वह और कहते हैं—"अहिंसा सत्य की रूह है और अहिंसा ही परमधर्म है।" आगे वह और भी कहते हैं—हम चाहे इसे मान सकें या न मान सकें—"यदि तुम अपने प्रेम का—अहिंसा का—परिचय अपने तथाकथित शत्रु को इस तरह से देते हो, जिसकी अमिट छाप उसपर बैठ जाय, तो वह अपने प्रेम का परिचय दिये

बिना नहीं रह सकता।"

टॉल्स्टॉय के बाद ही इतनी जल्दी जिस ज़माने ने एक दूसरा महान् 'मानवता-का पुजारी' पैदा किया है उसमें रहना कितना अच्छा है! अहा! ये साधु-संत, ये पैग़ंबर और भक्तगण—फिर वे छोटे हों या बड़े—किस प्रकार वातावरण को स्वच्छ निर्मल बनाते हैं और आसपास फैले हुए 'सघन तिमिर' में प्रकाश चमकाते हैं! इन आध्यात्मिक 'महत्तरों' के बिना हमारा क्या हाल हो, जो कि युग-युग में और पुश्त-दर-पुश्त हमारे अन्त:करण की शुद्धि में सहायक बनने के लिए जन्म लेते हैं, जिससे कि हम अपनी दैवी प्रकृति को पुन: पहचान लें और हमें अपनी साधना-शक्ति को फिर एक बार बढ़ाने का प्रोत्साहन मिले एवं अपने लक्ष्य के शे शिखर तक चढ़ने का दृढ़ निश्चय और साहस हममें पैदा हो?

ओलिव श्रीनर ने अपने एक गद्यकाव्य में 'सत्यरूपी पक्षी' की खोज में प्रयत्नशील साधक का एक चित्र खींचा है। उसे उस पक्षी की झलक एक बार दिखाई दी। उसकी तलाश में वह पर्वत-शिखर पर पहुँचता है, जहाँ जाकर उसका शरीर छूट जाता है। उसके हाथ में उस पक्षी का गिरा हुआ एक पंख है, जिसे वह छाती पर चिपकाये हुए सोया है। गांधीजी अपने सत्तरवें साल में जो संदेश हमारे लिए छोड़ रहे हैं वह हमारे लिए ऐसा ही एक पंख सिद्ध हो, और हम सचमुच बड़भागी होंगे अगर अपनी मृत्यु के समय उसे अपनी छाती से लगाय और अपनाये रहेंगे!

## : ३८ :

# आत्मा की विजय

### लिवलिन पॉविस

[ क्वेवेडेल, डेवोस प्लाज़, स्वीज़रलैण्ड ]

एक पक्का बुद्धिवादी और भौतिक जीवन का प्रेमी होते हुए मेरे लिए महात्मा गांधी-जैसे असाधारण व्यक्ति के द्वारा सुझाये गये विचारों को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करना सरल काम नहीं है। यह तो स्पष्ट है कि उनका हमारे बीच विद्यमान होना एक ऐसी कड़ी चुनौती है जिसकी अवहेलना नहीं होसकती। आज की इस व्यवहारू दुनिया में हम उस पुरुष के प्रति आकर्षित हुए बिना नहीं रह सकते। किसी भी दैनिक पत्र में ज्यों ही हमारी दृष्टि उनके चित्र पर पड़ती है, जिसमें वह मामूली व्यापारिक पृष्ठ पर से निर्मल ज्ञानगरिमा की निगाहों से झाँकते हुए लगते हैं, त्योंही हमारी स्वाभाविक आत्मिक जड़ता में हलचल होने लगती है। कहते हैं, चीन के कुछ हिस्सों में सफेद चिमगादड़ होते हैं और इस दुर्लभ पुरुष के चित्र इस असाधारण जन्तु से शायद कुछ

कम अजीब मालूम पड़ते हों, क्योंकि आँखें उनकी ऐसी हैं जो जीवन के गुप्त-से-गुप्त रहस्यों तक प्रविष्ट करती हुई जान पड़ती हैं, और कान उनके ऐसे हैं जो अपनी उदारतापूर्ण आदत से यह साबित करना चाहते हैं कि उनका स्वभाव ऐसा मधुर है जैसा पूर्व या पश्चिम में कहीं भी शायद ही पाया जावे। हमारे ज़माने में उनसे ज्यादा सफलता के साथ किसी भी मनुष्य ने उस प्रेम की शक्ति का प्रभाव नहीं दिखाया है जो अंगूर की बेलों या लहलहाते खेतों से छाई प्रकृति के सौन्दर्य का नहीं, बल्कि हिन्दू का और ईसाई का और रहस्यवादियों का आदर्श प्रेम है और जो हमारी स्वभावगत पशुता के एकदम विपरीत चलता है। लोकोत्तर कथाओं के विषय में जिनके चित्त शंकाशील हैं उन्हें गांधीजी के विचार निरर्थक ही जान पड़ेंगे। उन्हें लगेगा कि मानों वे हवाई हैं। प्रतीत होगा कि उनकी जड़ में अक्सर वही बने-बनाये नीतिसूत्र हैं जो उन पीड़ितों के मुंह में रहा करते हैं जिन्हें समाज में अधिक सुख-सुविधा के निमित्त हर बात के लिए दैवी समर्थन की ज़रूरत रहती है—उससे गहरी उनकी जड़ें नहीं हैं। साँप-छछूंदर से डरनेवाला यह व्यक्ति युवावस्था में इंग्लैण्ड, दक्षिण अफ्रीका और हिन्दुस्तान की उपासनाओं में और भजनों में बेमतलब ही शरीक नहीं होता था। लेकिन गांधीजी का मस्तिष्क जबकि अलौकिक प्रभावों से सहज प्रभावित होजाता दीखता है, तब उनके हृदय की बात कुछ और ही रहती है। वह तो सदा स्वस्थ, उत्साहयुक्त, दयालु और उदात्त ही रहता है।

गांधीजी की 'आत्मकथा' पढ़ने से सचमुच ही आत्मबल की शारीरिक बल पर विजय होने का सच्चा दिग्दर्शन होजाता है। एक जगह पर वह कहते हैं कि उनका हमेशा प्रयत्न रहा है कि परमसूक्ष्म और शुद्ध आत्मा के निकट-स्पर्श में आ सकें। हमें कल्पना भी होसकती है कि कितने बारीक धर्म-संकट के बीच उनका आत्म-मंथन चलता रहता है? सुई की नोक से भी सूक्ष्म उन बारीकियों पर वह अपने-को कैसे साधते हैं, यही परमआश्चर्य का विषय है। उनके पवित्र मस्तिष्क में जो पहेलियाँ निरन्तर प्रवेश करती रहती हैं वे एक स्वतन्त्र मनवाले को कितनी अजीब लगती हैं! गांधीजी गाय का दूध न पीने का व्रत लेते हैं, और जब वह थोड़ा-सा बकरी का दूध मुँह से लगाते हैं तो फौरन उनके मन में धर्माधर्म का मंथन शुरू हो जाता है कि कहीं यह दूध भी मेरे व्रत में शामिल तो नहीं है? वह एक बछड़े को असाध्य रोग से पीड़ित देखते हैं, तब क्या उनको उसे मरवा डालने की दया दिखलानी उचित ह? और 'हमारे समझदार किन्तु शैतान भाई' बन्दर बिना हिंसा का आश्रय लिये किस प्रकार किसानों की फसलों से दूर हटाये जा सकते हैं? यहाँ इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि इन सुन्दर पहेलियों का हिन्दू-धर्म की गौ-पूजा से घनिष्ट सम्बन्ध है। इस सिद्धान्त का गांधीजी के लिए बड़ा व्यापक महत्त्व है और वास्तव में उस धार्मिक श्रद्धा से किसी अंश में कम नहीं है कि मनुष्य-जाति का यह नैतिक कर्त्तव्य है कि धरती पर रहनेवाले

दूसरे प्राणियों को, चाहे वे कितने ही तुच्छ और नगण्य क्यों न हों, अपनी शरण में लें, उनकी हमेशा रक्षा करें और उनकी कभी हत्या न करें। गांधीजी का नीति-अनीति-सम्बन्धी विवेक कष्टसाध्य होसकता है, परन्तु यह उतना ही अचूक भी होता है। और पश्चिम की घोर नीति-हीनता की भर्त्सना में कभी उनके इतना ज़ोर नहीं आता है जबकि वह जन्तुओं की चीरा-फाड़ी का जिक्र करते हैं तव उनकी वाणी में आजाता है। यह एक काली घिनौनी प्रथा है जिसको, वे सरकारें स्वीकार किये हुए हैं, जो एक तरफ़ भावुक और दूसरी तरफ़ हृदय-हीन हैं, जो नैतिकता में वैसी ही अंधी हैं जैसी कि उदारता में हीन।

फिर भी इस 'अवतारी व्यक्ति' के प्रति यूरोपियनों ने जैसा व्यवहार किया है वह उनके लिए भारी-से-भारी शर्म की बात रहेगी। कभी अपमानित हुए, धक्के-मुक्के दिये गये, कभी धमकियां दी गई, कभी पीटे गये और एकबार तो डर्बन में गोरों के एक गिरोह ने पत्थर मारते-मारते उनका दम-सा निकाल दिया। परन्तु वह कभी नहीं खीझे, बल्कि अपने अटल और दृढ़ क़दमों से अपनी स्वर्गीय कल्पनाओं की ओर बढ़ते चले जा रहे हैं। इस नन्हीं-सी जीर्णशीर्ण देह में कितनी शक्तिशालिनी आत्मा निवास करती है! चाहे दुनिया उनका जयघोष करे चाहे उनके प्रति घृणा करे, उनपर कुछ भी असर नहीं होता। उनका व्यक्तिगत गौरव इतना सर्वोपरि है कि वह प्राणघातक शारीरिक अपमानों को भी बिना अशान्त और क्षुब्ध हुए सह सकते हैं। कभी यहाँ तो कभी वहाँ सताये जाने में, कभी खचाखच भरी रेलगाड़ी की खिड़की से खींचे जाने में, तो कभी रीढ़ झुकाये हुए मज़दूरों का पाखाना साफ़ करने में और कभी 'अछूतों' की सेवा करने में मानों वे उनके निकट-से-निकट सम्बन्धी हों, उनकी पूर्ण सरलता और पूर्ण सज्जनता में कतई कुछ भी फ़र्क़ नहीं आया। उनमें आध्यात्मिकता का वह मिथ्याभिमान नहीं पाया जाता जो हमारे यहाँके आदर्शवादियों में पाया जाता है, चाहे वे पारमार्थिक हों या दुनियवी। उनकी प्रतिभा बादल की भांति मुक्त है और वह एक रातभर में अपने विचार या प्रथा बदल देंगे, यदि उन्हें कहीं सचाई नज़र आ जाय। वह ऐसे कार्त्तिकेय हैं जो कोई बन्धन स्वीकार नहीं करते, सिवाय उनके जो उनके स्वधर्म के मर्यादास्वरूप हैं। अपने ऊँचे-ऊँचे सिद्धान्तों और ऊँचे-ऊँचे विचारों के होते हुए गांधीजी के पास व्यावहारिक विवेक की विलक्षण निधि है। जीवन के प्रत्येक अंग में यही चीज उनकी पूर्ण निस्स्वार्थ-भावना से मिलकर उनको अत्याचार और दमन के विरुद्ध अनेक प्रकार के संघर्षों में अजेय वना सकी है। जहाँ भी कहीं वह जाते हैं, सारा विरोध शान्त होजाता है, मानों अपने साँवले रंग के कातनेवाले हाथ में अँगूठे और अंगुली के बीच में वह कोई जादूगर की छड़ी साधे हुए हों।

अगर कभी किसीने ईसा का सन्देश व्यवहार में ला दिखाया है तो वह इस हिन्दू ऋषि ने किया है। संभवतः यही कारण है कि ईसा के शब्द प्रायः इतने अधिक उनकी

ज़बान पर रहते हैं, हालांकि वह इतनें अधिक स्पष्ट विचारक ह, इतने अधिक सच्चे और ईमानदार मनवाले हैं कि हमारे पश्चिम के नीति-नियमों और ब्रह्मविद्या के आविष्कारों के क़ायल होने को तैयार नहीं हैं। "मेरी बुद्धि इस बात पर विश्वास नहीं करती कि ईसा नें अपनी मृत्यु और अपने रक्त से दुनिया के पापों का प्रायश्चित्त कर लिया है। रूपक में कहें तो इसमें कुछ सचाई हो सकती है।" वह ईसाई मत के आत्मबलिदान के आदर्श के प्रति बहुत आर्कषित हुए हैं और ईसा के 'गिरि-प्रचवन' और उसके अनगिनती निष्कर्षों ने उनपर गहरी छाप छोड़ी है। नीत्से की एक मर्मवेधी विरोधाभास-मूलक उक्ति है—"दुनिया में ईसाई तो केवल एक ही पैदा हुआ है और वह तो क्रूस पर लटका दिया गया।" यदि यह सनकी दार्शनिक इस दूसरे गुरु के जीवन-कार्यों को देखने के लिए जीवित रहता तो संभवतः उसने अपने इस प्रख्यात व्यंग में कुछ संशोधन कर दिया होता।

अत्यन्त सज्जनोचित कोमलता और दृढ़ लगन के साथ गांधी ने जुलू-बलवे के नाम से पुकारे जानेवाले उस अक्षम्य 'नरमेध' में घायलों और बीमारों की सेवा-सुश्रूषा की थी और जब वह अफ्रीका के 'उन गंभीर निर्जन स्थानों' में चल रहे थे, उन्होंने ब्रह्मचर्य-पालन का व्रत लिया। क्या गांधीजी की तरह ईसामसीह भी अपना घर-बार छोड़ कर इस विश्वास पर नहीं चले गये थे कि—"जो परमात्मा से मित्रता करना चाहता है उसे अकेला ही रहना चाहिए ?" एक साहसपूर्ण उद्‌गार और सुनिए—"ईश्वर हमारी तभी मदद करता है जब हम अपने पैरों के नीचे दबी धूल से भी तुच्छ अपने आपको समझनें लगें। कमज़ोर और असहाय को ही ईश्वरीय सहायता की आशा करनी चाहिए।"

इस पृथिवी पर कौन-कौनसे प्रभाव हमारे मानवीय भाग्य का निर्माण करेंगे, यह अभीसे कह देना कठिन है। 'रूपक में कहें तो' निष्पाप और पाप-भीरु इन दोनों प्रकाश-पुत्रों को दैव से ही मानों कुछ भेद प्राप्त हुआ, जिससे पाताल-लोक के असुर कीलित हो रहे हैं। अगर कहीं हम जान जायँ कि उनकी जादूभरी वाणी और देवताओं जैसे स्वभाव से सतयुग फिर से आ सकता है तो जाने कबसे लांछित और क्षुब्ध हमारी मानव-जाति के सौभाग्य का दिन खिल जाय। गांधीजी ने अपने चार हिन्दुस्तानी कार्यकर्त्ताओं से जब पूछा कि क्या वे मृत्यु के समान भीषण और काले प्लेग से पीड़ित आदमियों की सेवा-सुश्रूषा करने चलेंगे, तो उन्होंने सीधा-सा जवाब दिया—"जहाँ आप जायँगे, हम भी साथ चलेंगे।"

जनरल डायर के द्वारा अमृतसर में जो नृशंस और रोमांचकारी कृत्य—एक भीषण युद्ध का भीषण परिणाम—किया गया, उस पर यदि गांधीजी का ईश्वर-प्रेरित सौजन्यमात्र हम अंग्रेजों के हृदयों को दुःखी और टुकड़े-टुकड़े कर सकता है तो उन्होंने हमारे देश में पदा होकर न जाने क्या-क्या अमूल्य सेवायें की होतीं। उन्होंने एक बार

पुनः यह साबित कर दिखाया होता कि संसार पर 'भय' शासन नहीं कर सकता और तलवार की रक्त-रंजित विजय से भी अधिक शक्ति दुनिया में मौजूद है।

× × × ×

यह हमें कैसे सहन हो सकता है कि हमारी अंग्रेज जाति का उज्ज्वल नाम "हिंसक मनुष्यों की बर्बर और पाशविक शक्ति के कारण" उच्चता से गिराया जाकर धूल में मिला दिया जाय। शंकर भगवान् के नेत्र से गांधीजी आर-पार देखते हैं। हमारी पश्चिमी सभ्यता का चापल्य, यंत्रों पर उसका अवलम्बन, दृश्य का उसका लालच, अधिकार की उसकी तृष्णा, जिन्दगी की बाहरी और थोथी बातों का उसका मोह—गांधी उन आँखों से इस सबको भेद कर देखते हैं। निर्दोष जंगली जानवरों को मारते-मारते उसके प्रतिफल में जो हमारी आदत भी तदनुकूल बन गई है, गांधी उसे देखते हैं। वह देखते हैं हमारी यह संस्कृति जो भक्ति-उपासना को नहीं जानती, जो चतुर्दिक् व्याप्त जीवन की कविता को गिराकर धूल कर देती है और खेत की घास की मानिंद मूल्यहीन बना देती है।

सन् १९२२ में हिन्दुस्तान में चौरीचौरा में जनता की एक सामूहिक हिंसा का शर्मनाक नमूना पेश होगया। गांधीजी ने उसी दम अपना सविनय अवज्ञा आन्दोलन बन्द कर दिया और अनशन का एक भीष्म संकल्प लिया। यह आचरण महात्माजी की उस महान् आत्मा के योग्य ही था। चौदहवीं शताब्दी की एक छोटी-सी किन्तु ठोस धार्मिक राजनैतिक पुस्तक 'पियर्स प्लौमैन' में एक वाक्य आया है जिसे मैं अर्से से अपने साहित्य का एक अनमोल रत्न मानता आया हूँ। अपने झिझकते जी की सराहना के इस लेख के अन्त में उसे रखना अनुचित न होगा—

"जब तूने सुई की नोक जैसी तीक्ष्ण या मार्मिकता के साथ तड़पते हुए मानव के रक्त और मांस का हरण किया तब तेरा प्रेम पीपल-पत्र से भी हल्का था!"[१]

## : ३९ :

# चीन से श्रद्धांजलि

### एम. क्युओ तै-शी

[ चीनी राजदूत, लन्दन ]

हमारे इस ज़माने में सारे चीन में जो सामाजिक राजनैतिक नवजागरण की प्रवृत्तियाँ हो रही हैं वे एशिया के और सब देशों में भी हैं और इनका संचालन और

**१. मूल अंग्रेजी इस प्रकार है :—**

"Never lighten was a leaf upon a linden tree than thy love was, when it took flesh and blood of man, fluttering piercing as a needle-point."

संपोषण करने के लिए कुछ नेताओं का समूह निश्चित रूप से तैयार होगया है। हमारे महादेश की सबसे बड़ी आवश्यकता ऐसे दो नेताओं में मूर्तिमान हुई है। वह आवश्यकता यह है कि राष्ट्रीय नवनिर्माण की पद्धतियाँ चाहे जो और विविध हों, राजनैतिक बुद्धि-क्षमता के ऊपर प्रभाव नैतिकता का ही रहेगा। सनयात सेन के परमअनुयायी भक्त होते हुए मुझे इसे अपना सौभाग्य समझना चाहिए कि मैं महात्मा गांधी की ७१वीं जन्म-तिथि के अवसर पर उन्हें श्रद्धांजलि के रूप में कुछ कह रहा हूँ।

## : ४० :

# राजनेता : भिखारी के वेष में

### सर अब्दुल क़ादिर

[ भारत-मन्त्री के सलाहकार ]

कुछ वर्षों पहले मैं वीयना—आस्ट्रिया और जर्मनी के एक हो जाने के पूर्व के प्राचीन और सुन्दर वीयना—को देखने जा रहा था। दोपहर को खाना खाने के लिए मैं एक बड़े भोजनालय में गया। वह कामकाज का वक़्त था और वहाँ काफी भीड़ थी, इसलिए अपने लिए खाली मेज तलाश करने में कठिनाई हुई। एक नौकर मेरे पास आया और मुझसे यह तो नहीं पूछा कि मैं क्या लाऊँ, बल्कि बोला, "आप गांधीजी के देश से आये हैं ?"

"हाँ, मैं हिन्दुस्तान से आया हूँ। मैंने गांधीजी को देखा है और एक-दो बार उनसे बातचीत भी की है।"

यह सुनते ही उसे आनन्द हुआ और वह कहने लगा—"मुझे तो बड़ी खुशी हुई। अब मैं यह कह सकूँगा कि मैं ऐसे आदमी से मुलाक़ात कर चुका हूँ जिसने गांधीजी से मुलाक़ात की है।"

हालाँकि मैं यह जानता था कि गांधीजी की कीर्त्ति दूर-दूर तक फैल चुकी है, मगर मुझे इस बात का पता नहीं था कि ऐसे मुल्कों के बाजार का मामूली आदमी भी उन्हें जानने और इज्जत करने लगा है, जो हिन्दुस्तान से कोई ताल्लुक़ नहीं रखते, बल्कि स्थल और जल से उससे जुदा हैं।

इस बात से मेरा ध्यान पीछे सन् १९३१ की ओर गया। तब मैं लन्दन में था और महात्मा गांधी दूसरी गोलमेज परिषद् में शरीक होने वहाँ आये थे हिन्दुस्तान के कुछ लोगों का खयाल था कि उनके इंग्लैण्ड जाने से उनकी शान को बट्टा लगा और परिषद् में शरीक होकर उन्होंने ग़लती की। मगर मैं इस राय से सहमत नहीं हूँ। मेरा तो ख़याल है कि हालाँकि लन्दन में जनता के सामने प्रकट किये हरेक उद्गार में

उन्होंने इस बात को छिपा नहीं रक्खा कि वह अपने देश के लिए पूरी-पूरी आज़ादी चाहते हैं, तो भी उन्होंने इंग्लैण्ड के राजनैतिक विचारशील लोगों पर बड़ा असर डाला और इस देश में अपने लिए अनुकूल वातावरण बना लिया।

कुछ क्षेत्रों में उनकी पोशाक पर कुछ हलकी आलोचना भी हुई, लेकिन ऐसी आलोचनाओं से गांधीजी को क्या ? उनके व्यक्तित्व ने और परिषद् में उनके भाग लेने का जो महत्व था उसने उसपर विजय प्राप्त करली।

गांधीजी के चरित्र की एक प्रभावक विशेषता यह है कि एकबार उनकी बुद्धि को संतोष देनेवाले कारणों से जब वह अपने आचरण का कोई मार्ग निश्चित कर लेते हैं, तब फिर लोग उसके बारे में कुछ भी कहते रहें, वह उसकी नितांत अवहेलना करते हैं। इसलिए जो पोशाक वह पिछले बरसों से पहनते आये थे, अपनी इंग्लैण्ड की यात्रा में भी पहनते रहे। कमर में एक लंगोटी, टाँगें खुली हुईं और कंधों के ऊपर मौसम के अनुसार खादी की चादर या कंबल। यही उनकी अब पोशाक है। और फ़्रांस में सफ़र करते हुए, जहाँ कि उनका हार्दिक स्वागत हुआ, या लन्दन के बड़े-बड़े जलसों में शरीक होते हुए, यहाँतक कि ख़ुद गोलमेज़ परिषद् की बैठकों तक में उन्होंने इस पोशाक को नहीं छोड़ा। परिषद् की बैठकें आम लोगों के लिए नहीं थीं, क्योंकि सेंट जेम्स के महल का वह हॉल जहाँ परिषद् हुई थी इतना बड़ा नहीं था कि दर्शक भी आते। मगर मुझे मालूम हुआ कि कभी-कभी किसी-किसीको थोड़ी देर के लिए ख़ास तौर पर मन्त्री की जगह बैठने की इजाज़त दी जाती थी। मैं एक दिन वहाँ जा पहुँचा। लार्ड सेंकी अध्यक्ष थे। उनके दाहिनी ओर भारत-मंत्री सर सेम्युअल होर और पार्लमेण्ट के प्रतिनिधिगण बैठे थे। उनके बाईं ओर सबसे पहली जगह गांधीजी को दी गई थी और उनके बाद दूसरे हिन्दुस्तान के प्रतिनिधियों को, जिनमें से कुछ अध्यक्ष की कुर्सी के सामने भी बैठे थे। लार्ड सेंकी ने गांधीजी के प्रति जो आदर प्रदर्शित किया, वह उल्लेखनीय था।

गांधीजी ने पोशाक के मामले में प्रचलित पद्धति से जो स्वतंत्रता ली थी, उसकी सीमा तो तब देखने को मिली, जब मैंने उन्हें कांग्रेस के प्रतिनिधियों और दूसरे अतिथियों के सम्मान में दिये गये शाही भोज के समय बादशाह और मलका के अभिवादन के लिए अपने कंधों पर कम्बल ओढ़े हुए बकिंघम-पैलेस की उन बनात से ढकी हुई सीढ़ियों पर चढ़ते देखा। मैं नहीं समझता कि पहले कभी ऐसे लिबास में कोई मेहमान उस महल में आया होगा और यह धारणा करना भी कठिन है कि किसी दूसरे आदमी को इतनी ही आज़ादी के साथ वहाँ जाने भी दिया जाता।

इस सिलसिले में दो मज़ेदार सवाल उठते हैं। पहला यह कि गांधीजी ने यह पोशाक क्यों धारण की, और दूसरा यह कि वह चीज़ क्या है, जिसने उनको इतना चढ़ा दिया है कि जिससे उनके द्वारा की गई प्रचलित प्रणालियों की उपेक्षा को दर-

गुज़र कर दिया जाता है ?

जिन्होंने गांधीजी की आत्मकथा को, जिसे उन्होंने 'सत्य के प्रयोग' नाम दिया है, पढ़ा है, वे जानते हैं कि जब वह बैरिस्टरी पढ़ने के लिए पहले-पहल इंग्लैण्ड आये तब वह फैशनेबुल आदमी के जीवन से परिचित थे और वेस्ट एण्ड के दर्जी के द्वारा सिले सूट ही पहनते थे। बैरिस्टर होने और हिन्दुस्तान लौट आने के बाद वह एक क़ानूनी मुक़दमे के सिलसिले में दक्षिण अफ्रीका गये और वहीं रहने का उन्होंने निश्चय कर लिया। इसी समय उनके जीवन का गम्भीरपूर्ण उद्देश्य तैयार हुआ। वहींपर उन्होंने अपने प्रवासी देशवासियों के हित के लिए त्याग और बलिदान करने का श्रीगणेश किया। उनके दुःख और दर्द में सहानुभूति रखने से उनके जीवन में एक परिवर्तन होगया। उन्होंने वहाँ जो उपयोगी कार्य कर दिखाये उनकी कथा इतनी अधिक प्रसिद्ध होगई है कि उसकी यहाँ फिर से दोहराने की ज़रूरत नहीं है। जब वह लौटकर हिन्दुस्तान आये और हिन्दुस्तान की आज़ादी की कशमकश में हिस्सा बँटाने लगे, तो उन्होंने वकालत करने के तमाम इरादे को छोड़ दिया और स्वयं को राजनैतिक तथा सामाजिक सुधारों के लिए सर्मपित कर दिया। इसी समय से उन्होंने अपरिग्रह के रूप में लँगोटी पहनना शुरू किया और अपने रहन-सहन को कम-से-कम खर्चीला कर लिया। ग़रीब-से-ग़रीब लोगों के वेश में और गांधीजी के वेश में फ़र्क़ ही क्या ह ? उन्होंने अपनी 'आत्मकथा' में कहा है कि जबसे वह लन्दन में विद्यार्थी-जीवन व्यतीत करते थे तभीसे धर्म के सर्वोच्च स्वरूप—त्याग की भावना उन्हें अत्यंत प्रिय रही है। उनके मन में प्रविष्ट यह बीज आज एक वृक्ष बन चुका है और उसमें फल भी लग गये हैं।

गांधीजी की वेशभूषा के विषय में उठनेवाले पहले प्रश्न के उत्तर से दूसरे प्रश्न का भी उत्तर मिल ही जाता है। उनका बल अपने खुद के लिए किसी भी वस्तु की कामना न करने में ही है। अपने बहुअंगी जीवन-विभाग में, जहाँ कठिनाइयाँ, नज़र-बन्दी और कारावास के पश्चात् विजयोपलक्ष्य में निकलनेवाले जुलूसों तथा सम्मान के लिए किये जानेवाले उत्साहपूर्ण जयघोषों का क्रम आता है, वहाँ 'स्व', पदलोभ, प्रतिष्ठा, प्रभाव अथवा अर्थलाभ की कामना का कोई प्रश्न ही नहीं रहा है। यही उनके जीवन का एक अंग है, जिसने क्या मित्र और क्या विरोधी सबके हृदयों पर समान रूप से असर डाला है।

गवर्नरों और वायसरायों ने हमारे देश (हिन्दुस्तान) के भविष्य पर प्रभाव डालनेवाले मसलों पर साफ़-साफ़ चर्चा करने के लिए उन्हें बुलाया है। राजाओं ने मशविरे किये हैं और मंत्रियों ने उनसे परामर्श माँगा है। हमारे सुप्रसिद्ध हिन्दुस्तानी शायर स्वर्गीय सर मुहम्मद इक़बाल की एक मशहूर ग़ज़ल उनके विषय में बहुत उचित ठहरती है—**"दिल-ए-शाह लरज़ा गिरद-जे गदा-ए-बेनियाज़"** (अर्थात्—ऐसे

भिखारी को देखकर कि जो भीख नहीं मांगता, सम्राट् का भी हृदय काँप उठता है)। यही है वह भीख न माँगना और शारीरिक आवश्यकताओं और कामनाओं से ऊपर उठना, जिससे गांधीजी को प्रभावशाली और आश्चर्यजनक महत्व मिल सका है।

जबतक महात्मा गांधी इंग्लैण्ड में रहे, वह लन्दन के पूर्वी सिरे में किंग्सले हाल में ठहरे। गोलमेज परिषद् के काम से जो कुछ वक्त उनके पास बचता था, उसे वह ग़रीब लोगों में बिताते थे। जब वह उनसे मिलते हैं तो सर्वदा सुखी रहते हैं, एवं उनकी और स्वयं की आत्मा में अभिन्नता के अनुभव का आनन्द उठाते हैं। वह चाहते तो लन्दन के किसी भी शाही होटल में टिक सकते थे। वह अपने किसी मित्र के सजे-सजाये आरामदेह घर में ठहर सकते थे, मगर उन्हें तो बो में किंग्सले हाल की कुमारी म्यूरियल लिस्टर का निमन्त्रण कहीं अच्छा लगा। इस बस्ती में श्रमजीवियों के लिए एक क्लब है जो उनके लिए एक सामाजिक और बौद्धिक विकास का केन्द्र है और यहाँ उनका सम्मेलन हुआ करता है। कुछ रहने के लिए स्थान भी यहाँ है, जहाँ कोई भी रहने और खाने-पीने पर एक पौण्ड प्रति सप्ताह से भी कम खर्च पर सीधेसादे ढंग से रह सकता है। जब गांधीजी गोलमेज परिषद् में हिन्दुस्तान का प्रतिनिधित्व कर रहे थे तब उन्होंने इसी घर में एक छोटा कमरा लिया था। मैंने वह कमरा देखा है। उस जगह के व्यवस्थापक गांधीजी से अपना सम्बन्ध स्थापित होजाने पर गर्व करते हैं और बड़ी खुशी ज़ाहिर करते हुए दर्शकों को वह कमरा दिखाते हैं, जो अब गांधीजी के ही नाम पर पुकारा जाता है।

गांधीजी जहाँ भी रहें वहीं प्रेम और स्नेह पैदा करने की शक्ति का उन्हें विलक्षण वरदान है। जब उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में हिन्दुस्तानियों के अधिकारों के लिए लड़ाई लड़ी थी, तब उन्होंने अपने आस-पास भक्त पुरुष और स्त्री एकत्र कर लिये थे, जिनमें कुछ यूरोपियन भी थे। जब उन्होंने अपने उस कार्यक्षेत्र को छोड़कर हिन्दुस्तान के विशाल कार्यक्षेत्र में पदार्पण किया तब और भी ज्यादा संख्या में उत्साही सहयोगी कार्यकर्ता उनकी ओर आकर्षित हुए। और सन् १९३१ की अपनी अल्पकालिक इंग्लैण्ड-यात्रा में तो उनकी इस मित्र तथा प्रशंसक-मण्डली में और भी वृद्धि हो गई। हिन्दुस्तान लौट आने के बाद जब उन्हें जेल जाना पड़ा तो जेलर उनकी ओर खिंचते हुए अनुभव करते थे और वह जब अस्पताल में बीमार रहे तो उनकी नर्सें उनकी ख़ुशमिजाज़ी पर इतनी मुग्ध होगईं कि जब वह अच्छे होने पर वार्ड छोड़कर चले गये तो उन्हें दुःख हुआ। यह और भी ज्यादा उल्लेखनीय बात है, क्योंकि उनमें यह आकर्षण केवल उनकी आत्मिक सुन्दरता से आया है, शारीरिक रूपरंग और खूबसूरती से नहीं। गांधीजी के प्रेम का स्रोत है ईश्वर में अटल श्रद्धा और धर्म की गहरी भावना। उनकी 'आत्म-कथा' में ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ यह श्रद्धा प्रकट हुई है। उदाहरण के लिए, मानव-जाति के आगे आदर्श प्रस्तुत करते हुए वह कहते हैं—"पूर्णता की ओर बढ़ने का

असीम प्रयत्न करना हमारा मानवोचित अधिकार है। उसका फल तो स्वतः उसके साथ विद्यमान रहता है। शेष सब ईश्वर के हाथ में है।" उसी पुस्तक में वह कहते हैं—दक्षिण अफ़्रीका की अपनी जीवन-धारा की प्रारम्भिक स्थिति में "मेरे अन्तर में बसनेवाली धार्मिक भावना मेरे लिए एक जीती-जागती शक्ति बन गई थी।" तबसे उनके जीवन का जिन्होंने निरीक्षण किया है, वे जानते हैं कि यही भावना है जो उनके भविष्य जीवन में भी काम करती चली आरही है और जिसके कारण वह देश-भक्ति की लगन की उस ऊँचाई पर पहुँच सके हैं और क़ायम हैं।

अपने ऐसे जीवन के ७० वर्ष पूरे करने पर, जो मातृभूमि और धर्म तथा मानवता की सेवा में अर्पित रहा है, गांधीजी को अगणित श्रद्धाञ्जलियाँ समर्पित की जायँगी। इनमें अधिकांश तो उनके साथ कार्य करनेवालों या उन्हें भलीभांति जाननेवालों की ओर से होंगी। मैंने तो केवल उनकी झाँकियाँ प्राप्त की हैं और उनकी नीति तथा कार्यप्रणाली से भी मैं सर्वदा सहमत नहीं रहा हूँ, परन्तु जब मैं उनके ऊँचे व्यक्तिगत चारित्र्य और हिन्दुस्तान के प्रति की गई आजीवन सेवाओं की सराहना करता हूँ तो उतनी ही सचाई से करता हूँ जितनी सचाई से कि वे लोग करते जो उनके अधिक निकट और घनिष्ट सम्पर्क में हैं। हमें हिन्दुस्तान की जनता में जो महान् जाग्रति दिखाई देती है उस सबका श्रेय किसी अन्य जीवित व्यक्ति से बढ़कर उन्हींके उद्योग और प्रभाव को है। आज की इस शंकाशील और भौतिक दुनिया में, जिसे वह 'आत्मबल' कहते हैं, उस आत्मा की ताक़त को दिखाने में ही उनका महत्त्व है। और इसी आधार पर तो उनके देशवासियों ने उन्हें 'महात्मा' का पद दिया है।

: ४१ :

# गांधीजी का भारत पर ऋण

**डॉ० राजेन्द्रप्रसाद, एम. ए.**

**[ सभापति, भारतीय राष्ट्रीय महासभा ]**

भारतीय राजनीति में गाँधीजी की देन महान् है। जब वह दक्षिण अफ़्रीका से १९१५ में अन्तिम रूप से स्वदेश लौट आये तब भारतीय राष्ट्रीय महासभा (काँग्रेस) को स्थापित हुए तीस वर्ष हो चुके थे। काँग्रेस ने एक हदतक राष्ट्रीय भावना जाग्रत और संगठित करदी थी; लेकिन यह जागरण मोटे रूप से केवल अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे मध्यमवर्गीय लोगों तक ही सीमित था। जनता में उसने प्रवेश अभी नहीं पाया था। जनता तक उसे महात्मा गांधी ले गये और उसे जन-आन्दोलन का स्वरूप दे दिया। महात्मा गांधी का आन्दोलन जहाँ व्यापक था वहाँ वह गहरा भी था। उन्होंने वे

कार्य-योजनायें हाथ में लीं, जो नितान्त राजनैतिक नहीं थीं, बल्कि जनता के एक बड़े हिस्से के जीवन में बहुत घुली-मिली थीं। एक शताब्दी या इससे अधिक काल से गोरों के लाभ के लिए जबरन् नील पैदा करने की अन्यायपूर्ण प्रणाली, से कष्ट उठाते आ रहे निलहे खेतिहरों और मजदूरों की ओर से चम्पारन में किये गये उनके सफल सत्याग्रह से कांग्रेस की हलचल एकदम जन-आन्दोलन की सीमा तक जा पहुँची। अन्याय समझे जानेवाले लगानवन्दी के हुक्म की दुबारा जाँच करने के लिए किये गये खेड़ा के उनके उतने ही सफल सत्याग्रह ने भी उस ज़िले की जनता पर वैसा ही असर डाला। अब कांग्रेस की राजनीति, देश की ऊँची-ऊँची पब्लिक सर्विसों में अधिक हिस्सा या गवर्नरों की शासन-समितियों में ज्यादा जगहें दिये जाने की मांगों तक ही सीमित नहीं रह गई। अब वह थकीमांदी जनता की तकलीफ़ों से अभिन्न होकर ही नहीं रही, बल्कि उनको दूर कराने में भी सफल हो सकी। इन सब प्रारम्भिक (१९१७ और १९१८ के) आन्दोलनों से लेकर अबतक अनेक आन्दोलन ऐसे चले हैं और उन सब में ध्येय यही रहा है कि किसी एक श्रेणी या समूह को ही न पहुँचकर व्यापकरूप से समस्त जनता को उसका फ़ायदा पहुँचे। कष्ट-निवारण के लिए सिर्फ़ ब्रिटिश हितों अथवा ब्रिटिश सल्तनत के ही ख़िलाफ़ लड़ाई नहीं छेड़ी गई, बल्कि उसने बिना हिचकिचाहट के हिन्दुस्तानी हितों और ग़लत धारणाओं को भी उतनी ही ताक़त से धक्का पहुँचाया है। इस प्रकार उनकी जाग्रत आँखों से हिन्दुस्तान के कारख़ानों में काम करनेवाले मजदूरों की असन्तोषप्रद हालत छिपी नहीं रह सकी और सबसे पहले जो काम उन्होंने उठाये, उनमें से एक अपने लिए अच्छी स्थिति प्राप्त करने के वास्ते लड़नें में अहमदाबाद के मजदूरों को मदद करना भी था। दलित जातियों की दुःखभरी किस्मत नें अनिवार्य रूप से हिन्दुओं की अस्पृश्यता जैसी दूषित और दुष्टतापूर्ण प्रथा को निष्ठुरतापूर्वक मिटा डालने के आन्दोलन को जन्म दिया और महात्मा गांधी ने अपने प्राणों तक की बाजी लगा-लगाकर उसका संचालन किया। कांग्रेस-संगठन का विस्तार भी इतना हुआ कि इस विशाल देश के एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक वह व्याप्त होगया और आज लाखों स्त्री-पुरुष उसके सदस्य हैं। लेकिन संख्या-मात्र जितना बता सकती है उससे कहीं अधिक व्यापक कांग्रेस का प्रभाव हुआ है। उस प्रभाव की गहराई की परीक्षा इसीसे हो चुकी है कि जनता उसके आमंत्रण पर त्याग और कष्ट-सहन की भीषण आँच में से निकल सकी है।

परन्तु महात्मा गांधी की सबसे बड़ी देन यह नहीं है कि उन्होंने हिन्दुस्तान की जनता में राजनैतिक चेतना उत्पन्न कर दी और उसे एक अभूतपूर्व पैमाने पर संगठित किया। मेरी समझ में तो, हिन्दुस्तान की राजनीति को और संभवतः संसार की पीड़ित मानवजाति को, उन्होंने जो सबसे बड़ी चीज़ दी है वह है बुराइयों से लड़ने का वह बेजोड़ तरीक़ा—जिसे उन्होंने प्रचलित और कार्यान्वित किया। उन्होंने हमें सिखाया

है कि बिना हथियार के शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य से सफलता के साथ किस प्रकार लड़ा जा सकता है। उन्होंने हमें और संसार को युद्ध का नैतिक स्थान ग्रहण कर सकनेवाली वस्तु दी है। उन्होंने राजनीति को, जो कि धोखाधड़ी और असत्य से भरी हुई थी, जो गिरी-से-गिरी हालत में नीच षड़यंत्रों की स्थिति में पहुँच गई थी और ऊँची-से-ऊँची स्थिति में कूटनीतिपूर्ण दुमानी गोल-गोल भाषा और गुप्त चालों से ऊँची न उठ सकती थी, ऊपर उठाकर एक ऐसे ऊँचे आदर्श पर पहुँचा दिया है जिसमें कि कितने ऊँचे उद्देश्य के लिए, किसी स्थिति में भी, दोषपूर्ण और अपवित्र साधनों का उपयोग नहीं किया जा सकता। उन्होंने राजनीति में भी सचाई को गौरव के उच्च मंच पर आसीन किया है, फिर चाहे उसका तात्कालिक परिणाम कितना ही हानिप्रद क्यों न लगता हो ? हमारी कमज़ोरियों और बुराइयों को भी स्पष्टरूप से जानबूझकर तथाकथित शत्रुओं के सामने खोलकर रख देने की उनकी आदत ने पक्षियों और विपक्षियों दोनों को हैरान कर दिया है। लेकिन उनके मत में हमारी शक्ति अपनी कमज़ोरियों को छिपाने में नहीं, बल्कि उन्हें समझकर उनसे लड़ने में निहित है। यह बात अनुभव से सिद्ध होचुकी है कि जहाँ अहिंसा की थोड़ी-सी अवहेलना या अपूर्णता भले ही अस्थायी लाभ लासके, वहाँ भी अहिंसा का कठोर पालन सबसे सीधा रास्ता ही नहीं है, वरन् सबसे अधिक चतुराई की नीति भी है। उनकी शिक्षाओं के भीतर नैतिक और आध्यात्मिक स्फूर्ति थी, जिसने लोगों की कल्पना को प्रभावित किया। लोगों ने देखा और समझ लिया कि जब चारों ओर घना अन्धकार है, ऐसी स्थिति में हमारी ग़रीबी और गुलामी में से छुटकारे का रास्ता दिखलानेवाले वही हैं। जब हम अपनी निपट बेबसी महसूस कर रहे थे तब उन्होंने सत्य और अहिंसा के द्वारा अपनी शक्ति को पहचानने की हमें प्रेरणा की। मनुष्य आखिर अस्त्र और शस्त्र के साथ नहीं जन्मा। न सके चीते के-से पंजे ही हैं और न जंगली भैंसे के-से सींग। वह तो आत्मा और भावना लेकर उत्पन्न हुआ है। फिर वह अपनी रक्षा और उन्नति के लिए इन बाहरी वस्तुओं पर क्यों अवलम्बित रहे ? महात्मा गांधी ने हमें सिखाया है कि अगर हम मौत और विनाश पर भरोसा रक्खेंगे तो वे हमारी बाट देखते रहेंगे। उन्होंने हमें सिखाया है कि अगर हम अपनी अन्तरात्मा को जाग्रत करलें तो जीवन और स्वतन्त्रता हमारे होकर रहेंगे। दुनिया में कोई ताक़त ऐसी नहीं है कि एक बार उस अन्तरात्मा के जाग पड़ने पर, एक बार इन बाह्य वस्तुओं और परिस्थितियों का अवलम्बन छोड़ देने पर और एक बार आत्मविश्वास और आत्म-निर्भरता प्राप्त कर लेने पर वह हमें ग़ुलामी में रख सके। हिन्दुस्तान शनैः शनैः किन्तु उतनी ही दृढ़ता और निश्चय के साथ उस आत्मिक बल को प्राप्त कर रहा है और उस आत्मिक बल के साथ अदम्य भी बनता जारहा है। परमात्मा करे कि वह सत्य और अहिंसा के इस संकड़े किन्तु सीधे मार्ग से विचलित न हो, जो उसने महात्मा गांधी के नेतृत्व में चुन

लिया है। यही है महात्माजी का भारतीय राजनीति पर सबसे बड़ा ऋण, और यही होगी दुनिया की मुक्ति में हिन्दुस्तान की एक अमर देन।

## : ४२ :

# ईश्वर का दीवाना

## रेजिनॉल्ड रेनाल्ड्स

[ लन्दन ]

ईश्वर ने अपने दीवानों को अजीब वेशों में दुनिया को जाँचने के लिए भेज दिया और कह दिया कि "जाओ, तुम ऐसे ज्ञान का प्रचार करो जो समय के पूर्व हो। सब दुःख आँख खोलकर सहो और परिवर्तन का मार्ग साफ़ करो।"[१]

ये डबल्यू. जी. होल की 'दी फ़ूल्स ऑव गॉड' (ईश्वर के दीवाने) शीर्षक कविता के प्रारम्भ के शब्द हैं। इस कविता को मैंने १९२९ ई० में हिन्दुस्तान जाने के कुछ महीनों पहले 'विश्वभारती' त्रैमासिक पत्रिका में देखा था। यह कविता बहुत प्रसिद्ध तो नहीं है, पर मुझे इसमें सन्देह नहीं है कि मेरी पढ़ी किसी कविता ने मेरे मन पर इतना गहरा और स्थायी प्रभाव डाला हो जितना उक्त कविता ने। इसका कारण उसके पद्यों में वास्तविक ख़ूबी का होना नहीं था, बल्कि यह था कि वे भविष्यवाणी के रूप में सिद्ध हुए।

कविता में यह वर्णन किया गया है कि ईश्वर अपने प्यारे दीवानों को आदेश देता है: "बहरे हो जाओ, किसीका लिहाज़ मत करो। और दुनिया की बुद्धिमानी के रास्ते से सदा उलटे होकर बचो।"

वे चलते हैं "और आराम में पले हुए लोगों को परिश्रम और भूख-प्यास का उपहार देते हैं। आज उन्हें सब गालियाँ देते हैं, कल धन्यवाद देते हैं।"[२]

१. His fools in vesture strange
God sent to range
The world and said: "Declare
Untimely wisdom; bear
Harsh witness and prepare
The paths of change."

२. And proffering toil and thirst
To me in softness nursed,
To-day by all are cursed,
To-morrow blessed.

अपनी साधना के दर्मियान वे त्याग देते हैं "मनुष्यों की स्वीकृति और प्रशंसा के सुविधा-पूर्ण मार्ग को।"[१]

लेकिन 'श्रद्धा के दीवाने', वे दावा करते हैं "उस प्रकाश के देखने का, जो मनुष्यों के भाग्यों को चमका देता है, उन्हें बादशाह बना देता है और उनमें धार्मिक कार्य करने की शक्ति दे देता है।"[२]

उस कविता को पढ़ने के बाद कुछ ही महीनों के अन्दर—मैं बड़े आदर के साथ कहूँगा—दुनिया के सबसे बड़े दीवाने महात्मा गांधी से मिला। शीघ्र ही मैंने यह पता लगा लिया कि मुझे प्रभावित और प्रेरित करनेवाली उन पंक्तियों का आकर्षक वर्णन इस पुरुष पर अक्षरशः घटित होता था।

चाहे विरोध में किसीने कुछ भी दलीलें दी हों, मेरा तो ख़याल ऐसा नहीं है कि गांधीजी कोई **चालाक** आदमी हैं। दस साल पहले से, जबसे मेरा उनसे पहलेपहल परिचय हुआ, मैंने सदा अपनेआपको उनके शब्दों और कार्यों की अक्सर बेहद आलोचना करनेवाला महसूस किया है। मैं उन अन्धश्रद्धालुओं में से नहीं हूँ, जिनके मत में महात्माजी कभी भूल ही नहीं कर सकते। न तो मैं उन्हें एक 'मसीहा' समझता हूँ और न 'अवतार' ही मानता हूँ। अगर वह महान् होने का दावा करें और उसके लिए अपनी राजनैतिक बुद्धिमत्ता पर निर्भर रहें तो मेरी समझ में उनका यह दावा कच्चा होगा। उनकी जाँच तो दूसरी ही कसौटी द्वारा करनी होगी।

अगर गांधीजी की पूरी-पूरी और सच्ची महत्ता को समझाने चलें तो हिन्दू-धर्म के इतिहास का उसकी प्रारम्भिक अवस्था से अध्ययन करना होगा और उन सब अनगिनती सुधार-आन्दोलनों पर ज़ोर देना होगा जिनका प्रत्येक धर्म के विकास में एक स्थान होता है। कारण यह है कि प्रत्येक संगठित धर्म जर्जर होकर नष्ट होता है और अपने नाश की ओर जाते हुए वह जीवन के नये बीज जिनमें चैतन्य निवास करता है, निरन्तर फेंकता रहता है, पुराना चोला नष्ट हो जाता है और निर्जीव शाखायें मुरझा जाती हैं।

मैंने एक बार एक शक्तिशाली अमरीकन ईसाई को गांधीजी के किसी शिष्य के साथ प्रश्नोत्तर करते सुना। उसने पूछा कि महात्माजी पर सबसे गहरा प्रभाव किस पुस्तक का पड़ा है? पेंसिल और नोटबुक तैयार थी और हम सब जानते थे कि वह किस उत्तर की आशा कर रहा था। परन्तु उसे उत्तर मिला 'गीता का'। न्यू टेस्टामेण्ट

१. The comfortable way
Of men's consent and praise.

२. To see the light that rings
Men's brows and makes them kings
With power to do the things
Of righteousness.

और टॉल्स्टॉय तथा रस्किन की रचनाओं ने भी काम किया है। पर मूलतः गांधीजी एक हिन्दू सुधारक हैं।

पर फिर भी गांधीजी हिन्दूमात्र ही नहीं हैं। उनके तो असली पूर्वरूप 'कबीर' थे। कबीर ने पहले एक सन्त के नाते हिन्दुओं और मुसलमानों में आदर प्राप्त किया। वह हिन्दू-मुस्लिम एकता के अग्रदूत थे। स्वयं मुस्लिम होकर वह हिन्दू सन्त रामानन्द के शिष्य थे। कबीर की एक साखी का आशय नीचे दिया जाता है, जिससे इस ऐतिहासिक परम्परा का सुन्दर दिग्दर्शन हो सकता है :

> "अपनी चालाकी छोड़। केवल शब्दों से तेरा—उसका संयोग नहीं हो सकता। शास्त्रों के प्रमाण से भी अपने को धोखे में न डाल। प्रेम तो इससे भिन्न है। जिसने इसे सचमुच खोजने का यत्न किया है उसने वास्तव में पा लिया है।"

इन पंक्तियों में एक धार्मिक नेता के नाते गांधीजी के उपदेशों का सार निहित है, और इस क्षण तो मैं उन्हें एक धार्मिक नेता के ही रूप में लेकर विचार करना चाहता हूँ।

जब एक बार एक हिन्दुस्तानी विद्वान् ने "क्या गीता कट्टरता का समर्थन करती है ?" शीर्षक लेख (बाद में 'दि आर्यन पाथ' के मार्च १९३३ के अंक में प्रकाशित) लिखा और उसे गांधीजी के पास उनके देखने के लिए भेजा तो महात्माजी ने यरवडा सेन्ट्रल जेल से ११ जनवरी १९३३ को जो उत्तर उन्हें लिखा, वह इस प्रकार है :

"अब मैंने गीता पर आपके दोनों लेख पढ़ लिये हैं। वे मुझे रोचक लगे हैं। मेरी धारणा है कि आप भी उसी निर्णय पर पहुँचे हैं जिसपर मैं, परन्तु प्रकारान्तर से। आपका मार्ग विद्वत्ता का है। मेरा ऐसा नहीं है।"

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि उस विद्वान और उस ईश्वर के दीवाने दोनों का निर्णय यही था कि गीता कट्टरता का समर्थन नहीं करती। परन्तु गांधीजी अपने दृष्टिकोण पर 'बुद्धि चातुरी' के सहारे नहीं पहुँचे। कबीर ने ५०० वर्ष बाद आनेवाले गांधीजी के विषय में पहले से ही कह दिया था :

> "सत्यान्वेषक का यह युद्ध कठोर है और लम्बा है; क्योंकि सत्यान्वेषक का प्रण तो योद्धा के या सती के प्रण से भी कठिन होता है। योद्धा तो कुछ पहर ही युद्ध करता है और सती का प्रण भी जलते ही समाप्त होजाता है। किन्तु सत्यान्वेषी का युद्ध तो दिन-रात चलता है, और जबतक जीता है समाप्त नहीं होता।"

और भी, कबीर ने जीवन और मृत्यु पर जो नीचे लिखे आशय की साखी कही है उसमें गांधीजी की आध्यात्मिक विरासत ही व्यक्त होती है :

> "अगर जीते-जी तुम्हारे बन्धन नहीं छूटे तो मृत्यु होने पर मुक्ति की

क्या आशा हो सकती है ? यह झूठा सपना है कि जीव शरीर छोड़ देने से उससे जा मिलेगा। यदि अब ईश्वर को प्राप्त कर लिया जायगा तो तब भी प्राप्त हो जायगा। यदि यह न हो सके तो हम नरक में जायँगे।"

ईसाई मत के कैथोलिक और प्रोटेस्टैण्ट सम्प्रदायों की परम्पराओं की समता अधिकतर धर्मों में खोजकर निकाली जा सकती है। हरेक प्रथा-प्रणाली में अपने विशिष्ट अवगुण होते हैं और ऊँचे-ऊँचे गुण भी। प्रोटेस्टैण्टवाद का पूर्ण विकास उसके उत्कृष्टतम प्यूरिटनों में मिलेगा। हमारे युग में हम प्यूरिटन में सिवाय उसके असहनीय निषेधों के और कुछ देखना ही नहीं चाहते। प्रारम्भ में प्यूरिटन मत को किन-किन विरोधों का सामना करना पड़ा, यह आज हम आसानी से भूल जा सकते हैं। अपने असली स्वरूप में प्यूरिटन केवल एक कठोर हकीम है जो अपने अजीर्ण के रोगी को खाने-पीने में पथ्य-अपथ्य और संयम का आदेश देता है। हो सकता है प्यूरिटन का यह लक्ष्य बुद्धिपूर्वक न रहा हो, पर यह तो उसका इतिहास-सिद्ध कर्म था।

जहाँ कहीं भी समाज-सुधार आन्दोलन या क्रांतियाँ होती हैं, वहाँ कट्टरतावाद का आग्रह पाया जा सकता है। यह तो उन पुरुषों और स्त्रियों के अनुशासन का एक अंग-मात्र है जिन्हें अपनी शक्ति एक वस्तु पर केन्द्रित करने के लिए बहुतकुछ परित्याग करना पड़े। इसलिए आधुनिक भारत के नेता कट्टरवादी (प्यूरिटन) हों और उन सब का प्रमुख एक निर्मम तपस्वी है, यह कोई आकस्मिक घटना ही नहीं है। जबतक हम उन जंजीरों और बन्धनों को न तोड़ फेंकें जो हिन्दुस्तानियों को अशिक्षित, अकर्मण्य, जाति-पाँति के कट्टर भक्त और अन्ध-विश्वासी बनाये हुए हैं तबतक साम्राज्यवाद के खिलाफ़ होनेवाला उनका विद्रोह आगे नहीं बढ़ सकता। गांधीजी राजनैतिक आज़ादी के आन्दोलन के संचालन में समर्थ इसीलिए हो सके कि उन्होंने पुजारियों की सत्ता का सामना लिया, कट्टरता के हिमातियों द्वारा मान्य बुराइयाँ—अस्पृश्यता, महिलाओं की हीन स्थिति, बाल-विवाह, सार्वजनिक स्वास्थ्य की अवहेलना, धार्मिक असहिष्णुता, शादी-विवाह की फ़िज़ूलख़र्ची तथा अफ़ीमखोरी, थोड़े में, उनसब सामाजिक दुराचरणों—का उग्र विरोध किया, जिनसे देश में राजनैतिक जड़ता आ गई थी।

एक बार पुनः विदित होगा कि हिन्दुस्तान में एक लम्बी परम्परा चली आ रही है जिसके बीच-बीच में अत्यन्त महत्वपूर्ण घटनायें घटती रहती हैं, जिससे हिन्दुओं की कट्टरता की अनुदार धारा के विरोध में होनेवाली गांधीजी की प्रवृत्तियों का महत्व हमारी समझ में आ सकता है।

गांधीजी के बहुत पहले हिन्दुस्तान में 'ईश्वर के दीवाने' थे, बंगाल के 'बाउलों' में मुसलमान और हिन्दू, खासकर नीची जाति के, शामिल थे। कबीर साहब का आध्यात्मिक रंग उनमें देख पड़ता है। उन्हें लिखित ग्रन्थों की महत्ता या मन्दिरों की पवित्रता की परवाह नहीं थी। उनका एक गीत यही बात कहता है :

मन्दिर-मस्जिद से है तेरा
मार्ग छिपा मेरे भगवान !
मार्ग रोकते गुरू-पुजारी—
सुनता हूँ तेरा आह्वान ।[१]

उनकी अपरिग्रह में, आत्मसम्मान में, और आत्मसाक्षात्कार में श्रद्धा होती थी। उनका ईश्वर 'अन्तस्थ गुरु' या 'अन्तर्वासी' होता था।

एक बाउल ने ही कहा था—मानों मुझे और उन लोगों को चेतावनी दी थी जो अपने थोड़े-से ज्ञान से उस अपरिमेय का मूल्यांकन करने चलते हैं—

स्वर्णकार उपवन में आया !
और कसौटी पर कस उसने
कमल-फूल का मूल्य बताया ! ![२]

अगर सुनार की कसौटी पर रक्खा जाय तो कमल का कोई मूल्य नहीं है। हमारे परिचित साधन भी प्रायः इसी प्रकार भ्रामक सिद्ध हो सकते हैं, जब मानवी बुद्धिमत्ता ईश्वर के दीवानों के विषय में निर्णय करने चलती है।

## : ४३ :

# पश्चिम के एक मनुष्य की श्रद्धाञ्जलि

### रोम्यां रोलां

[ विला ओल्गा, स्वीज़रलैण्ड ]

गांधीजी केवल हिन्दुस्तान के राष्ट्रीय इतिहास के ही नायक नहीं हैं कि जिसकी पुण्यस्मृति कथा के रूप में युगयुगांतर तक प्रतिष्ठित रहेगी। उन्होंने केवल क्रियात्मक जीवन का प्राण बनकर हिन्दुस्तानियों में उनकी एकता, उनकी शक्ति और उनकी स्वतन्त्रता की कामना की गौरवपूर्ण चेतना ही नहीं भरदी, बल्कि समस्त पाश्चात्य जनता के हित के लिए उसके ईसामसीह के सन्देश को भी पुनर्जीवन दिया, जो अब-तक उपेक्षित या प्रवञ्चित रहा। उन्होंने अपना नाम मानव-जाति के साधु-सन्तों में अंकित कर दिया है, उनकी मूर्ति का उज्ज्वल आलोक भूमण्डल के कोने-कोने में प्रविष्ट हो गया है।

१. Thy path, O Lord, is hidden by mosque and temple :
Thy call I hear, but priest and *guru* bar the way.

२. A goldsmith, methinks, has come to the garden :
He would appraise the lotus, forsooth,
By rubbing it on his touchstone.

यूरोप की दृष्टि में उनका उदय उस समय हुआ जब ऐसा उदाहरण लगभग एक आश्चर्य लगता था। यूरोप चार वर्षों के उस भीषण युद्ध से निकल ही पाया था, जिसके फलस्वरूप सर्वनाश, भग्नावशेष और पारस्परिक कटुता के चिन्ह अभी विद्यमान थे और, और भी अधिक नृशंस नये-नये युद्धों के बीज बो रहे थे। साथ-ही-साथ क्रातियाँ हो रही थीं और समाजगत पारस्परिक घृणा की शृंखला राष्ट्रों के हृदयों को नोच-नोचकर खा रही थी। यूरोप एक ऐसी दुर्भर रात्रि के नीचे दबा कराह रहा था, जिसके गर्भ में थी निराशा और निःसहाय अवस्था। और प्रकाश की एक भी रेखा दृष्टिगत नहीं हो रही थी। ऐसे मुहूर्त्त में इस दुर्बल, नग्न और नन्हें-से गांधी का अवतरण हुआ, जिसने सर्वांगीण हिंसा की भर्त्सना की, न्याय और प्रेम ही जिसके हथियार थे, और जिसके नम्र किन्तु अविचल सौजन्य ने अपनी प्रारम्भिक सफलतायें अभी प्राप्त की ही थीं। ऐसे गांधी का उद्भव पश्चिम की परम्परागत, चिर प्रतिष्ठित और सुनिर्धारित विचारधारा तथा राजनीति की छाती पर एक अद्भुत प्रहार के रूप में जान पड़ा। साथ-ही-साथ वह आशा की एक किरण के रूप में भी लगा, जो निराशा के अन्धकार में फूट पड़ी थी। जनता को उस पर विश्वास होता ही नहीं था। और इसलिए ऐसे महानतम् अद्भुत शक्ति की वास्तविकता का विश्वास करने में कुछ समय लगा...। मुझसे अधिक अच्छी तरह इस बात को और कौन जानता ? क्योंकि मैं ही पश्चिम के उन व्यक्तियों में से था जिन्होंने पहलेपहल महात्माजी के संदेश को जाना और उसे फैलाया।...परन्तु ज्यों-ज्यों भारत के इस आध्यात्मिक गुरु के कार्य के अस्तित्व और निरन्तर स्थिर प्रगति का विश्वास लोगों को होता गया, त्यों-त्यों पश्चिम से प्रशंसा और श्रद्धा की बाढ़ उनकी ओर आने लगी। कुछ लोगों के मत में उनका उदय ईसा का पुनरागमन था। दूसरे कुछ लोगों ने जो स्वतन्त्र विचारों के थे, जो पश्चिमी सभ्यता की अव्यवस्थित गति से घबरा रहे थे, क्योंकि उनकी पश्चिमी सभ्यता का आधार अब कोई नैतिक सिद्धान्त नहीं रहा था और जिसकी आविष्कार और खोज-सम्बन्धी अद्भुत प्रतिभा अपनें ही सर्वनाश की दिशा में जा रही थी, यह देखा कि गांधीजी सभ्यता के पाखण्ड और अपराधों की निन्दा कर रहे हैं, और मानव-जाति को प्रकृति की ओर, सरलता की ओर, स्वाभाविक स्वस्थ जीवन की ओर लौट जाने का प्रचार कर रहे हैं, तो उन्होंने समझा कि वह रूसो और टॉल्स्टॉय के ही दूसरे अवतार हैं। सरकारों ने उनको उपेक्षा और तिरस्कार की निगाहों से देखने का ढोंग किया। किन्तु सर्वसाधारण ने अनुभव किया कि गांधी उनका घनिष्टतम मित्र और बन्धु है। मैंने यहाँ स्वीज़रलैण्ड में देखा कि उन्होंने गाँवों और पहाड़ में बसे नम्र किसानों में कैसे पवित्र प्रेम की प्रेरणा की है।

लेकिन यद्यपि ईसा के गिरि-प्रवचन की भाँति उनके न्याय और प्रेम के सन्देश ने असंख्य लोगों के हृदयों को स्पर्श किया है, तो भी स्वयं युद्ध और विनाश की ओर

जाती हुई दुनिया की गति बदलने के लिए वह जिस प्रकार नॅज़रत के मसीह के सन्देश पर निर्भर नहीं थे, ठीक उसी प्रकार इस बात पर भी निर्भर नहीं रहे हैं। राजनीति में गांधीजी के अहिंसा-सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप देने के लिए आज यूरोप में जैसा विद्यमान है, उससे कहीं भिन्न नैतिक वातावरण होना चाहिए। उसके लिए अपेक्षा होगी क सर्वांगीण विपुल आत्म-बलिदान की। परन्तु आज भयंकर रूप से बढ़ते हुए तानाशाही राष्ट्रों के नये तरीक़ों के आगे, जिन्होंने दुनिया में आधिपत्य जमा रक्खा है और जिन्होंने लाखों मानवों के शोणित के रूप में अपने निर्दय चिन्ह छोड़े हैं, इसमें सफलता की आशा नहीं है। जबतक जनता चिरकाल तक परीक्षाओं में से न निकल ले, तबतक ऐसे बलिदानों की ज्योति के अपना विजयी प्रभाव डालने की न तो सम्भावना ही है, न आशा। और जनता में तबतक स्वयं को शक्तिशाली बनाने की बहादुरी नहीं आसकती, जबतक उनको पोषण देनें और उदात्तता की ओर ले जाने के लिए गांधी की जैसी किसी निष्ठा की प्राप्ति न हो। पश्चिम के अधिकांश लोगों—क्या जनता और क्या उनके नेताओं—में इस ईश्वर-निष्ठा का अभाव है तथा नये-नये पन्थ, चाहे वे राष्ट्रवादी हों चाहे क्रान्तिवादी, सब हिंसा के जन्मदाता हैं। यूरोप-वासियों के लिए सबसे अधिक आवश्यक कार्य है अपनी स्वाधीनताओं, स्वतन्त्रताओं और अपने प्राणों तक की रक्षा करना जो आज फासिस्ट और जात्यभिमानी राष्ट्रों के सर्वग्रासी साम्राज्यवाद से आतंकित हैं। उनके इस राजनैतिक उत्तरदायित्व को छोड़ देने का अनिवार्य परिणाम होगा, मानवता की गुलामी—संभवतः युगयुगान्तर तक। ऐसी परिस्थितियों में हम गांधीजी के सिद्धान्त को, चाहे उसे हम कितने ही आदर और श्रद्धा की निगाह से देखें, (यूरोप में) व्यवहृत किये जाने का आग्रह नहीं कर सकते।

ऐसा जान पड़ता है कि गांधीजी का सिद्धान्त दुनिया में वह काम कर दिखाने के लिए आया है, जो उन महान् मध्ययुगीय ईसाई संघों ने किया था, जिनमें नैतिक सभ्यता, शांति और प्रेम की भावना तथा आत्मिक धीरता और निश्चलता की पवित्रतम निधि उसी तरह सुरक्षित थी जैसे किसी उमड़ते हुए सागर में कोई टापू। कितना गौरवपूर्ण और पवित्र कार्य! गांधी की यह 'स्पिरिट' उनके पूर्ववर्ती सन्त ब्रूनो, सन्त बर्नार्ड, सन्त फ्रांसिस जैसे ईसाई-मठों के महान् संस्थापकों की भाँति संकटापन्न और परिवर्तनशील इस युग के प्रबल प्रवाह में भी, जिनमें से मानव-जाति गुज़र रही है, शांति-तोष, मानव-प्रेम और ऐक्य को अजर-अमर रक्खे!

और हम, बुद्धिमान, विज्ञानवेत्ता, विद्वान् कलाकार हम जो अपनी नगण्य शक्तियों की सीमा के अन्दर अपने मन में वह "मानव-समाज का नगर, जिसमें 'ईश्वरीय शान्ति' का राज है", निर्माण करने का प्रयत्न करते हैं, हम जो (गिरजे की भाषा में) 'तीसरी कोटि के' हैं और जो मानवता पर आधारित विश्वबन्धुत्व को मानते हैं, अपने इस गुरु और बन्धु गांधी को, जो भावी मानवता के आदर्श को हृदय में

प्रतिष्ठित किये हुए उसे आचरण में प्रत्यक्ष करके दिखा रहा है, अपने प्रेम और आदर का हार्दिक अर्घ्य अर्पण करते हैं!

## : ४४ :

# एक अंग्रेज़ महिला की श्रद्धा

**मिस् मॉड रॉयडन, एम. ए., डी. डी.**

[ सेनीनोक्स, कैण्ट, इंग्लैण्ड ]

ईसाइयों का यह महसूस करना, जैसा कि हममें से बहुत-से करते हैं, कि आज की दुनिया में सबसे अच्छा ईसाई अगर कोई है तो वह एक हिन्दू है, एक अजीब बात है। मैं जितनी ही ज्यादा गांधीजी के कार्यों पर नजर डालती और उनके उपदेशों को पढ़ती हूँ उतनी ही अधिक मुझे इस कथन में सचाई लगती है। मैं यह जानती हूँ कि अगर मैं इतना और कहूँ कि मुझे तो नँजरत के मसीह पूर्णता में अद्वितीय लगते हैं, तो वे बुरा न मानेंगे। मेरे कहने का इतना ही अर्थ है और यह मुझे कहना पड़ता है कि मसीह के शिष्यों में आज कोई भी उनके इतना निकट नहीं पहुँच सका है, जितने महात्मा गांधी।

प्रति सप्ताह जो 'हरिजन' के अंक मेरे पास आते रहते हैं वे मानों गरम और प्यासे देश में पवित्र पानी की घूंटों के समान हैं। शक्तिशाली राष्ट्रों की राजनीति ने अपनी झूठी अपीलों और थोथे दर्शन से आज यूरोप में शान्ति के लिए प्रयत्न करने-वालों को भी पथ-भ्रष्ट कर दिया है। बहुतों का ऐसा विश्वास है कि न्याय की जबरन प्रतिष्ठा करना संभव है और इससे शान्ति स्थापित हो सकेगी। वे बरसों पुराने उस व्यंगचित्र को भूल गये मालूम होते हैं कि जिसमें पोलेण्ड का विच्छेद हो जाने के उपरान्त एक महिला का शरीर जकड़कर और मुँह बन्द करके ज़मीन पर लिटाया हुआ और सिर से चोटी तक एक हथियारबन्द पुरुष को उसका पहरा लगाते हुए दिखाया गया था और कहा गया था कि "वारसा में शान्ति स्थापित हो गई।" वे भूल गये जान पड़ते हैं कि महायुद्ध के पश्चात् रूस पर जो हमले हुए उनसे बोलशेविक सरकार और भी ज्यादा मज़बूती से अपना आसन जमाती गई, और जर्मनी पर प्रहार किये जाने का परिणाम हिटलर का सिंहासन पर बैठना हुआ है एवं 'युद्ध का अन्त करने के उद्देश्य से किये जानेवाले युद्ध' के ( जिसे हमने सफलतापूर्वक लड़ा ह ) बीस बरस बाद भी आज अपने आपको हम और भी अधिक युद्ध से आतंकित पाते हैं।

'हरिजन' म गांधीजी के शब्दों को पढ़ना इस निरर्थक शोरगुल और गोलमाल की दुनिया से उठकर अधिक पवित्र और अधिक शुद्ध वातावरण में जाना है—अधिक

शुद्ध इसलिए कि वह हमें युद्ध की भूल से ऊपर देखने का सामर्थ्य देता ह और अधिक पवित्र इसलिए कि वह सत्य की परमनिष्ठा से प्रेरित होता है।

अंग्रेज़ लोगों ने कभी-कभी गांधीजी को गूढ़बुद्धि होने का दोषी ठहराया है। 'दोषी' इसलिए कहती हूँ कि यद्यपि गूढ़बुद्धि होना स्वत: कोई आवश्यक रूप से बुरी वस्तु नहीं है, परन्तु यहाँ उसका उपयोग तिरस्कार के रूप में—सत्यनिष्ठ न होने के अपराध के रूप में—किया गया है। मैं तो इतना ही कह सकती हूँ कि पहले तो मैं महात्माजी से किये गये प्रश्नों और उनके द्वारा दिये गये उनके उत्तरों को 'हरिजन' में कुछ चिंता और आशंका से पढ़ा करती थी; परन्तु अब तो पढ़ते हुए मुझे आनन्द के साथ-साथ यह विश्वास रहता है कि वह किसी भी कठिनाई से बचने की या उसे टालने की कोशिश क़तई नहीं करेंगे। चाहे वे प्रश्न डॉ० जे. आर. मॉट के हों, चाहे वे कागवा के हों और चाहे वे पेरी सेरीसोल के हों, सबका उत्तर वह नितान्त सच्चाई के साथ देंगे।

इस मुल्क के राजनैतिक और धार्मिक जगत् के अनेक वर्षों के अनुभव के बाद ऐसी ईमानदारी ( सत्यनिष्ठा ) का पाया जाना ईश्वरीय झलक ही है।

गोलमेज़ परिषद के वक्त जब गांधीजी इंग्लैण्ड में थे तो वह 'अपरिग्रह' पर भाषण देने गिल्डहाउस में आये थे। हॉल खचाखच भरा था और सैकड़ों लोग बाहर खड़े थे। हम बड़े ध्यान से यह सुन रहे थे कि एक ऐसे व्यक्ति को, जो अपरिग्रह के बारे में बातें-ही-बातें नहीं करता था, बल्कि जिसे उसका यथार्थ अनुभव भी था, कहना क्या है? अंत में बहुत से सवाल किये गये। कभी-कभी महात्मा को उत्तर देने से पहले रुकना पड़ता था। बाद में मुझे मालूम हुआ कि वह सिर्फ़ इसलिए रुकते थे कि वह मानवी भाषा में अधिक-से-अधिक जितना सही और पूर्णतया सच्चा जवाब हो सके, दें। उनका यह कथन मुझे याद है कि "परिग्रह का त्याग पहले-पहल शरीर से वस्त्र उतार देना जैसा नहीं, बल्कि हड्डी से मांस ही अलग करने जैसा लगता है।" आगे उन्होंने कहा था—"अगर आप मुझसे कहें कि 'लेकिन भाई गांधी, तुम तो एक सूती कपड़े का टुकड़ा पहने हुए हो। फिर कैसे कह सकते हो कि तुम्हारे पास कुछ भी नहीं है?' तो मेरा उत्तर यह होगा कि 'जबतक मेरा शरीर है, मेरे खयाल से मुझे उस पर कुछ-न-कुछ लपेटना ही पड़ेगा। मगर'...अपनी मोहिनी मुस्कराहट के साथ उन्होंने आगे कहा—'यहाँ कोई चाहे तो इसे भी मुझ से ले सकता है, मैं पुलिस को बुलाने नहीं जाऊँगा।' "

'माँ-बाप' ब्रिटिश सरकार नें महात्माजी के साथ पुलिस के सिपाहियों की एक टुकड़ी कर दी थी। वे सब-के-सब उस वक्त गिल्डहाउस में खड़े-खड़े उनकी बातें सुन रहे थे। और दूसरों का तो कहना ही क्या, वे भी इसपर खिलखिला कर हँसना नहीं रोक सके।

जिन-जिन बातों से बहुत-से अंग्रेज़ों को आह्लाद हुआ, उनमें एक बात यह भी थी कि उन्हें यह पता लगा कि उस महान् आत्मा में भी उन सब बातों पर विनोद करने और हँसने की प्रवृत्ति है, जिन पर हम सब की रहती है। मुझे अपनी कार में थोड़ी दूर उन्हें ले जाने का सौभाग्य मिला था। मार्ग में मुझसे उन्होंने मुझे सम्मानार्थ मिली हुई उपाधि के विषय में प्रश्न किया। यह तुम्हारे आगे 'डी० डी०' क्या लगता है? मैंने कहा कि ग्लासगो यूनिवर्सिटी ने मुझे सम्मानार्थ 'डॉक्टर ऑव डिविनिटी' (ब्रह्मविद्या की आचार्या) की उपाधि दी है। "अरे", वह बोले, "तब तो तुम 'ब्रह्म' के सम्बन्ध में सबकुछ जानती हो!"

थोड़ी देर तक मोटर में बिठला कर ले जाने की शुरुआत कैसे हुई, यह मुझे अच्छी तरह याद है। गांधीजी ने वचन दिया था कि वह मेरी मोटर में अपनी दूसरी मुलाक़ात की जगह जायँगे। लेकिन जब हम गिल्डहाउस के बाहर आये तो देखा कि लोगों की भीड़ उमड़ती आ रही है और मैं अपनी गाड़ी फ़ौरन् नहीं खोज सकी। लन्दन की हर एक गाड़ी बगल में होकर धीरे-धीरे निकलती मालूम होती थी, इस आशा में कि उसके ड्राइवर को उन्हें ले जाने का सौभाग्य मिल जाय। मौसम ठंडा और नम था और महात्माजी के शरीर पर काफ़ी कपड़े नहीं थे। दुखपूर्वक मैंने निर्णय किया कि मुझे उन्हें नहीं रोकना चाहिए और मैं बोली, "अगली गाड़ी में बैठ जाइये, मेरी गाड़ी की प्रतीक्षा न करें।" पर उन्होंने उत्तर दिया—"तुम्हारी गाड़ी के लिए ठहरा रहूँगा।" मैंने अनुभव किया कि जैसे मुझे राजमुकुट मिल गया है! एकदम ईसा के एक अनुयायी के शब्द मुझे सूझे कि "पास कुछ न होकर भी सबकुछ" उनका है। गांधीजी के पास मोटरगाड़ी कहाँ थी? लेकिन बीसों गाड़ियाँ उन्हें घेरे खड़ी थीं, इस उम्मीद में कि वह किसी एक को चुन लें।

आज के संसार से महात्माजी का सबसे अधिक आग्रह अहिंसात्मक अविरोध पर है। यह ज्ञान है जो उन्होंने, और उन्होंने ही, जीवन के सत्तर बरसों के अनुभव के उपरान्त पाया है और उनका इसमें विश्वासमात्र ही नहीं है, बल्कि वह दिन-प्रति-दिन दृढ़ से दृढ़तर होता जा रहा है कि वह हिन्दुस्तान भर ही की नहीं, समस्त संसार की रक्षा कर सकता है। जब इस विषय पर उनसे प्रश्न किये जाते हैं तो मैं यूरोप के घृणा और हिंसा के वातावरण से घबराकर उत्कट उत्कण्ठा के साथ उनके विचार पढ़ती हूँ।

इन सबसे बढ़कर, एक महिला के नाते मैं उस महात्मा से अधिक-से-अधिक आशा रखती हूँ।

'हरिजन' के हाल के किसी अंक में वही महत्वपूर्ण प्रश्न, जो प्रायः यहाँ के स्त्री-पुरुषों से पूछा जाता है, गांधीजी से भी पूछा गया था कि अगर किसी महिला के सतीत्व पर हमला हो तो उसे क्या करना चाहिए? अब महात्मा का उत्तर क्या होगा? क्या वह प्रश्न को उड़ा जायँगे? या कहेंगे कि मैं महिला थोड़े ही हूँ जो

उनको इस प्रश्न का उत्तर दूँ ? तो फिर क्या कहेंगे ? क्या जवाब देंगे ?

उन्होंने उत्तर दिया कि महिला को इसका विरोध करना चाहिए, चाहे फिर उस विरोध में उसे मरना भी पड़े, किन्तु किसी भी प्रकार से हिंसा का आश्रय नहीं लेना चाहिए। स्त्री-जाति के नाम पर मैं उन्हें प्रणाम करती हूँ। अपनी इज्ज़त और लज्जा की दृष्टि से महिला की स्थिति पुरुष से नितान्त भिन्न है, क्योंकि उसकी इच्छा के विपरीत उसकी गिरावट की जासकती है, यह भयंकर धारणा जो आज दुनियाभर में, आमतौर पर, फैलाई जाती है, उनके इस उत्तर से नष्ट हो जाती है। वास्तव में यह सच नहीं है—अर्थात् किसी भी व्यक्ति, स्त्री या पुरुष, का दूसरे के द्वारा की गई किसी भी चीज़ से पतन नहीं हो सकता। हम स्वयं ही अपना पतन स्वतः कर सकते हैं। अवश्य ही ऐसी बातें भी हैं जो "मृत्यु से भी बुरी" हैं और पतन या अपमान उनमें से एक है। किन्तु इसका अस्तित्व हमारे अपने कार्य या इच्छा को छोड़कर किसी भी दूसरे के कार्य या इच्छा में नहीं है। गांधी के सिवाय क्या किसी ने यह उत्तर देने का साहस किया है? उसके लिए वह हम सब महिलाओं के आदर के पात्र हैं।

क्या दुनिया को वह समझा सकेंगे ? इस बात की कल्पना करते भय लगता है कि आज पश्चिम में जो पशुबल या सैन्यसंग्रह में इतनी श्रद्धा बढ़ती जा रही है, वह कदाचित् महात्माजी के अपने देशवासियों पर पड़े असर को दबा दे और उन्हें यह यक़ीन दिला सके कि पशुबल ही पशुबल का मुक़ाबिला कर सकता है। यह तो न केवल हिन्दुस्तान ही, बल्कि ब्रिटिश साम्राज्य और तमाम दुनिया के लिए एक दुखदायी घटना होगी। अकेले यूरोप में ही नहीं, पश्चिम के दोनों अमेरिका महाद्वीपों में ही नहीं, बल्कि पूर्व में भी जापान में, कनफ्यूशियस के शांतिवादी चीन तक में, हिंसा में विश्वास जड़ पकड़ता जा रहा है। क्या हिन्दुस्तान इस अहिंसा-सिद्धांत को सुरक्षित रक्खेगा ? संघर्षशील संसार में क्या एक हिन्दुस्तान ही सत्य पर डटा रहेगा और हमें प्रकाश दिखाता रहेगा ? अगर हाँ, तो संसार सुरक्षित है। अगर नहीं, तो...?

ओ, भारत, हमें निराश न करना।

## : ४५ :

# सच्चे नेतृत्व के परिणाम

**वाइकाउण्ट सेम्युअल, जी. सी. बी., जी. बी. ई., डी. सी. एल.**

[ लन्दन ]

समय-समय पर गांधीजी ऐसे कार्य कर देते हैं और ऐसी बातें कह देते हैं जिनसे मेरा जी खीझ उठता है। वे बातें मुझे अयुक्तियुक्त और दुराग्रहपूर्ण मालूम

होती हैं। मैं प्राय: अपनेंआपको उनका समर्थक नहीं वरन् विरोधी समझने लगता हूँ। फिर भी, यह सब होते हुए भी, मुझे विश्वास है कि गांधीजी एक ऐसे पुरुष हैं जो नितान्त सचाई और सर्वांगीण आत्मबलिदान की लगन के साथ, कभी इस मार्ग से, तो कभी उस मार्ग से, श्रेष्ठ ध्येय की ओर प्रगतिशील हैं।

दुनिया को चाहिए कि अपने महापुरुषों को पहचाने। संसार अपने महान सेवकों के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन करे। यद्यपि यह व्यंग ही में कहा जाता है कि "मृत पर जब फूल चढ़ते हैं तो जीवित को काँटे ही मिलते हैं।" पर हमें कभी जीवित पर भी, यदि वह इसके योग्य है तो फूल चढ़ाने चाहिए।

अपने लम्बे जीवन में गांधीजी ने हिन्दुस्तान की, और हिन्दुस्तान के द्वारा समस्त मानव-जाति की, असंख्य सेवायें की हैं। उनमें से तीन मुख्य हैं।

उनको ऐसा जन-समाज मिला, जिसकी अपनी विशेषता थी "पूर्वीय दब्बूपन।" शत्रु से हारना, शासित होना, पिछड़े हुए, अशिक्षित, अन्धविश्वासी और दरिद्र बने रहना, यही हो गया था हिन्दुस्तान के असंख्य लोगों के भाग्य का—अतीत के इतिहास से अनुशासित और वर्तमान की अनिवार्य परिस्थितियों से बाध्य—एकमात्र निपटारा। इस सबको बदल डालने के लिए गांधी उस आन्दोलन का नेता बनकर आगे आया, जो उस समय साधारण और डाँवाडोल हालत में था। अपने गुणों के बल से उसे शीघ्र ही प्रधानता मिल गई। उसके पास थी वह आत्मिक तेजस्विता और उसके साथ व्यवहार-क्षम कठोर निर्धारण शक्ति, जो जब कभी संयोगवश प्रकट होती हैं तब जनता को आन्दोलित कर देती हैं और जिन्हें विजयघोष से प्रतिध्वनित सफलतायें वरण करती हैं।

गांधी ने हिन्दुस्तान को अपनी कमर सीधी करना सिखाया, अपनी आंखें ऊपर उठाना सिखाया और सिखाया अविचल दृष्टि से परिस्थितियों का सामना करना। कहा गया है—"जीवन को समझने के लिए भूतकाल की ओर और उसे सफल बनाने के लिए भविष्य की ओर देखना चाहिए।" गांधी ने अपने देशवासियों को उसमें आत्मविस्मृत होने के लिए नहीं, वरन् उससे शिक्षा ग्रहण करने के लिए, अपने भूतकाल का अध्ययन करना सिखाया। गांधी ने उन्हें अपने वर्तमान को अपने ज़बर्दस्त हाथों से पकड़ने की प्रेरणा दी, जिससे वे जाग्रत रहकर अपने भविष्य का निर्माण कर सकें। गांधी ने उन्हें "भविष्य की ओर देखना" सिखाया और इस गौरवपूर्ण जीवन की प्राप्ति की दिशा में किये जानेवाले भगीरथ प्रयत्न में उन्होंने इस बात को प्रधानता दी कि हिन्दुस्तान की महिलाओं को पुरुषों का हाथ बँटाना चाहिए।

अंग्रेज जाति आत्मसम्मान-प्रिय होती। इसी कारण हम दूसरों के आत्मसम्मान की भी इज्ज़त करते हैं। मुझे यह कहते हिचकिचाहट नहीं होती कि—पिछले वर्षों के तमाम वादविवाद और तमाम कशमकश के होते हुए—अंग्रेज लोगों में आज हिन्दुस्तानी लोगों के लिए इतना अधिक सच्चा आदर है जितना उन दोनों के पारस्परिक संबन्धों

की शताब्दियों में कभी नहीं हुआ।

हिन्दुस्तान में मनुष्य-जाति का छठा भाग बसा हुआ है। किसी भी एक व्यक्ति से कहीं बढ़कर गांधी ने मानवजाति के इस बड़े हिस्से को अपने जीवन का दर्जा ऊँचा उठाने और आत्मा का उत्थान करने में योग दिया है। हिन्दुस्तान इसके लिए उनका कृतज्ञ क्यों न हो? और ब्रिटेन को कृतज्ञ क्यों न होना चाहिए? और समस्त संसार को भी कृतज्ञ क्यों नहीं होना चाहिए, जो प्रकारान्तर से तथा अंततः इस लाभ का उपभोग करता है?

यद्यपि इस आन्दोलन में कुछ भीषण अपराध और अत्याचार के काले धब्बे अवश्य हैं, परन्तु वे गांधी की प्रेरणा से कब हुए? वे तो उनके द्वारा किये गये हार्दिक आग्रहों के स्पष्ट उल्लंघन में ही घटित हुए थे।

दूसरा महान् कार्य जिसने उनका नाम रौशन कर दिया यह है कि उन्होंने स्वतन्त्रता-साध्य और अहिंसा-साधन का सफल और अभूतपूर्व सामञ्जस्य कर दिखाया। रोष-प्रकाश, अनुनय-विनय, आवश्यकता पड़े तो आज्ञाभंग किन्तु बल-प्रयोग नहीं, विरोधी की हत्या नहीं, बलात्कार नहीं, बलवा नहीं—यही उनका संदेश था और है।

हिन्दुस्तान में ऐसी नीति जनता के चारित्र्य के अनुकूल ही है। वह अधिक आत्म-बलिदान की अपेक्षा रखती है जिसके लिए वह सर्वदा सन्नद्ध है। साथ ही इसका उनकी विवेक-बुद्धि से अच्छा मेल बैठ जाता है। यह एक ऐसा आचरण है जो प्रमुख रूप से, उस प्रायः दुरुपयुक्त शब्द के अच्छे-से-अच्छे अर्थ में, धार्मिक है। इसका परिणाम भी शुभ हुआ है। विशाल जन-समुदाय के बलिष्ठ प्रयत्न और अहिंसा दोनों ने मिलकर अदूरदर्शी किन्तु स्वाभाविक रूप से होनेवाले विरोध पर किसी भी प्रतिगामी नीति से कहीं अधिक शीघ्रता और पूर्णता से विजय पाली है।

गांधीजी का तीसरा महान् कार्य यह हुआ है कि उन्होंने शक्ति और लगन के साथ दलित वर्गों का प्रश्न हाथ में लिया और उसे भारतीय राजनीति में आगे लाकर सफलता के पथ पर बिठला दिया है।

जो हिन्दुस्तान के सच्चे हितैषी हैं उन्हें यह साफ़-साफ़ कहना चाहिए कि दलित जातियों के प्रति उनका यह व्यवहार भारत के सामाजिक और धार्मिक इतिहास पर एक काला धब्बा है। वह धर्म कैसा है, जो इतने बड़े जन-समूह को बिना किसी अपने खुद के अपराध के तिरस्कृत करता है? जो पहले उन्हें गिराता है और फिर उन्हें पददलित करता है, केवल इसी कारण कि वे पतित हैं? सच्चा धर्म तो वह है जो मानवीय आत्मा को दमन करने का नहीं, बल्कि उद्धार करके उसे ऊँचा उठाने का आदेश देता हो।

गांधीजी नें अपनी सूक्ष्म और तीक्ष्ण अन्तर्दृष्टि से यह सब देख लिया है और इसका उनपर मार्मिक आघात हुआ है। निरन्तर विरोध होते हुए भी उन्होंने उन करोड़ों

पीड़ित मानवों को ऊँचा उठाने का और इस कलंक से देश को छुड़ाकर उसे सभ्यता के ऊँचे आसन की ओर ले जाने का अविराम और अथक प्रयत्न किया है। और अब वह देख सकते हैं कि वह आन्दोलन धीर गति से जड़ पकड़ता जारहा है, और अनुभव कर सकते हैं कि उसकी अंतिम सफलता अवश्यंभावी है।

× × ×

सत्तर वर्षों के अपने जीवन का सिंहावलोकन करते हुए क्या कोई दूसरा जीवित पुरुष इतने महान् कार्यों को देख सकेगा ? उन्होंने एक विशाल राष्ट्र की आत्मा का उत्थान करने और गौरव को बढ़ाने में नेतृत्व किया; उन्होंने आज की तथा कल की दुनिया को यह दिखाने में नेतृत्व किया कि सार्वजनिक कार्य-क्षेत्र में केवल मानव आत्मा की शक्ति-मात्र से ही, पाशविक शक्ति का आश्रय लिये बिना बड़े-बड़े शुभ परिणाम निकाले जा सकते हैं; और उन्होंने करोड़ों अन्याय-पीड़ितों का सदियों से चली आरही अपनी पतितावस्था से उद्धार करने में नेतृत्व किया।

सिंहावलोकन के इस क्षण में गांधीजी अपने इस निरीक्षण से पूर्ण संतुष्ट हो सकते हैं। दूसरे लोग भी उनको अपनी-अपनी श्रद्धांजलियाँ अर्पण करें। उन्हें अक्सर तीखे-तीखे काँटे चुभाये गये हैं। आइए, अब हम उन्हें कृतज्ञता के फूल अर्पण करें।

## : ४६ :

# गोलमेज़ परिषद् के संस्मरण

**लार्ड सैंकी, एम. ए., डी. सी. एल.**

**[ लंदन ]**

इस लेख में मैं गांधीजी के जीवन की विवेचना या उनके सामाजिक और राजनैतिक विचारों की आलोचना नहीं करना चाहता। उनके चरित्र की शक्ति इस बात से काफ़ी सिद्ध है कि उनके अनुयायी उनकी अमर्यादित प्रशंसा करते हैं और उनके विरोधी तीव्र निंदा। प्रस्तुत लेख व्यक्तिगत है और एक ऐसे प्रशंसक के द्वारा लिखा गया है, जो उनके सब विचारों से पूर्णतः सहमत नहीं है।

मैं गांधीजी से पहली बार १३ सितम्बर १९३१ को मिला। हम गोलमेज़-परिषद् की संघ-योजना कमेटी में कुछ महीनों तक रोज़ घंटों एक-दूसरे के बराबर बैठते रहे। उसके बाद वह भारत लौट गये और फिर मुझे उनसे मिलने का मौक़ा नहीं मिला। अत्यन्त कठिन विवाद के समय और अनेक चिन्तायुक्त क्षणों में एक आदमी के नज़दीक बैठने के बाद या तो उसे आपको पसन्द करना होगा या नापसन्द, और मैं आशा करता हूँ कि मेरी गणना गांधीजी के मित्रों में की जा सकती है।

वह संघ-योजना कमेटी की बैठकों में उपस्थित होने के लिए इंग्लैण्ड आये थे, और मेरा परिचय उनसे लन्दन के डोरचेस्टर होटल में एक मुलाक़ात के समय हुआ। यह अफ़वाह फैल चुकी थी कि वह आनेवाले हैं, इसलिए बाहर बड़ी भीड़ जमा थी। उनका क़द छोटा था, वह सफ़ेद कपड़े पहने थे, किन्तु वह इस तरह चलते थे मानों उन्हें अपने गौरव और ख्याति का भान हो। उनका बाह्य रूप चित्ताकर्षक था, किन्तु मुझपर सबसे ज्यादा असर डाला उनकी बड़ी-बड़ी और चमकीली आँखों ने, जिनसे आप कभी-कभी उनके भीतरी विचारों और विश्वासों का पता लगा सकते हैं।

मैं संघ-योजना कमेटी का अध्यक्ष नियुक्त किया गया। इसलिए कहा गया कि उनके साथ कमरे में अलग एक तरफ़ एकान्त में स्थिति-चर्चा करलें। वहाँ उन्होंनें मेरे सामने विस्तार के साथ अपने विचार रक्खे। उन्होंने भारत को नीचा दर्जा मिलने की शिकायत की, किन्तु उनकी मुख्य चिन्ता का विषय सरकार का वह विशाल खर्चीलापन प्रतीत होता था जिसके कारण, उन्होंने कहा, ग़रीबों पर भारी कर लद गये हैं। सारी बातचीत के दौरान में ग़रीबों के लिए उनकी चिन्ता ही उनका प्रधान विषय था। वह भारत के देहातों में रहनेवालों के भाग्य के बारे में विशेष रूप से चिन्तित थे और इस बात से सहमत थे कि अति उद्योगीकरण एक बुराई है। उन्होंने मुझे सत्याग्रह का अपना मर्म समझाया और जब भारत की रक्षा का सवाल उठा तो उन्होंने हिन्दुओं के अहिंसा-सिद्धांत पर खास तौर पर ज़ोर दिया।

ऐसी लम्बी मुलाक़ात के अन्त में उनके बारे में बहुत निश्चित विचार न बना लेना असंभव था। शुरू में, अखीर में और हर घड़ी उनकी धार्मिक भाव-प्रवणता स्पष्ट थी।

मुझे अनुभव हुआ कि टॉल्स्टॉय के लेखों का उनपर असर पड़ा है। उनके खयाल से सामाजिक बुराइयों का इलाज था सादे जीवन को लौट जाना। दूसरे वह महान् हिन्दू देशभक्त प्रतीत हुए। उनके हृदय में अपनें देश का प्रेम प्रज्ज्वलित था और थी उसकी प्रतिष्ठा और ख्याति को बढ़ाने की कामना एवं ग़रीबों और पीड़ितों को सहायता पहुँचाने की लगन। अन्तिम बात यह है कि वह निर्विवाद रूप से एक महान् राजनैतिक नेता थे, क्योंकि यह स्पष्ट था कि न केवल अन्तिम ध्येय के बारे में, बल्कि उसको सिद्ध करनेवाले साधनों के बारे में भी उनका विश्वास सच्चा और दृढ़ था।

कमेटी की पहली बैठक लन्दन के सेंट जेम्स पेलेस में १४ सितम्बर को हुई। वह गांधीजी का मौन-दिवस था। अतः वह एक शब्द भी नहीं बोले। मंगलवार १५ ता० को उन्होंने अपना पहला भाषण दिया और उस समय लिया हुआ डायरी का यह नोट शायद मनोरंजक प्रतीत होगा—"गांधी बहुत धीमे और विचारपूर्वक बोले, एक मिनिट में ५७ शब्द बिना किसी नोट के वह करीब एक घंटे तक बोलते रहे। शुरू करने से पूर्व उन्होंने अपने दोनों हाथ जोड़े और ऐसा मालूम पड़ा कि जैसे वह प्रार्थना कर रहे हैं। वह

मेरी बग़ल में बैठे थे। पैरों में चप्पल, घुटनों के ऊपर तक की धोती, और एक बड़ा सफेद शाल ओढ़े हुए थे।" उन्होंने भारत को आज़ादी और सेना तथा अर्थ पर भारतीयों को नियंत्रण देने की मांग की। उस परिषद् के शारीरिक और मानसिक बोझ को गांधीजी ने कैसे सहन किया, इसका मुझे सदा आश्चर्य रहा है। वह बिला-नागा सारे दिन शुरू से अखीर तक वहां बैठे रहते थे। उस समय जो नोट लिया गया था, उससे पता चलता है कि कभी-कभी नित्य अस्सी हज़ार शब्द वहाँ बोले जाते थे।

किन्तु गांधीजी का असली काम तब शुरू हुआ जब परिषद् स्थगित होगई। रात को बहुत देरतक और सबेरे बड़े तड़के वह घण्टों विभिन्न हितों के प्रतिनिधियों के साथ बातचीतें और मुलाक़ातें करते और उन्हें अपने विचारों का बनाने का शक्तिभर प्रयत्न करते। प्रधान मंत्रियों और अधिनायकों के पास तो अपने लोगों पर अपने विचार थोपने के साधन और अवसर होते हैं, किन्तु गांधीजी के अतिरिक्त कभी कोई ऐसा आदमी हुआ हो, जिसने लाखों आदमियों को अपने जीवन और प्रयत्नों के उदाहरण से अपनें पक्ष में कर लिया हो, इसमें मुझे सन्देह है।

यह मेरा सौभाग्य था कि परिषद् के दौरान में मुझे भारतवर्ष के अनेक विशिष्ट पुरुषों, बूढ़ों और जवानों तथा सभी सम्प्रदायों और श्रेणियों के लोगों से मिलने का अवसर मिला। वे सब गांधीजी से सहमत रहे हों या न रहे हों, पर उनके असाधारण व्यक्तित्व से सभी प्रभावित थे।

समय-समय पर वह अन्तर की आवाज़ से प्रेरित होते प्रतीत होते थे। संसार के इतिहास के विभिन्न समयों में अन्य महान् पुरुषों को भी ऐसा ही अनुभव हुआ है। उदाहरण के लिए सुकरात और संत पॉल के नाम लिये जा सकते हैं। कौन जाने ऐसे व्यक्ति पागलों के स्वप्न देखते हैं अथवा अलौकिक बुद्धिमानी के अधिकारी होते हैं, किन्तु कम-से-कम वह उन लोगों पर, जो उनके सम्पर्क में आते हैं, आदेशात्मक प्रभाव रखते प्रतीत होते हैं। गांधीजी राजनैतिक योगी हैं, कभी असम्भव किन्तु हमेशा धार्मिक, और इस बात के लिए सदा उत्सुक कि भारतवर्ष और ग़रीबों के लिए उनसे क्या किया जा सकता है।

उनके राजनैतिक जीवन के बारे में कुछ कहना मेरा काम नहीं है। राजनीतिज्ञों के साथ कभी-कभी कठोरता का व्यवहार किया जाता है। अपने 'सीसेम एण्ड लिलीज़' ('Sesame and Lilies') नामक ग्रंथ में एक प्रसिद्ध स्थल पर जॉन रस्किन कहते हैं—"हम यदि किसी मंत्री से दस मिनिट के लिए बात करें तो हमें ऐसे शब्दों में उत्तर मिलेगा जो भ्रामक होने के कारण मौन से भी बदतर होंगे।" यदि रस्किन स्वयं राजनैतिक नेता हुए होते तो उन्होंने इससे कुछ अच्छा व्यवहार किया होता, इसमें शक है। और जब पश्चिमी राजनीतिज्ञ गांधीजी के राजनैतिक जीवन की कुछ कटु आलोचना करते हैं तो उन्हें यह अनुभव करना चाहिए कि जो लोग काँच के मकान में रहते हैं

उनका दूसरों पर पत्थर फेंकना कहांतक ठीक हो सकता है ?

इसमें सन्देह नहीं कि गांधीजी के आदर्श उच्च हैं, किन्तु कभी-कभी मैं आश्चर्य करता हूँ कि यदि उनको न केवल अपने लोगों में, बल्कि भारतवर्ष की विशाल जन-संख्या पर जिसमें अनेक धर्म और जातियाँ हैं, सत्ता प्राप्त होती और उनकी ज़िम्मेदारी उनके सिर पर होती तो वह क्या करते ? ऐसी परिस्थिति में राजनीतिज्ञ को उपायों और साधनों का विचार करना पड़ता है। किन्तु उपाय और साधन दैवी पुरुषों के लिए नहीं होते और अन्त में आमतौर पर राजनीतिज्ञों पर दैवी पुरुष विजयी हो जाते हैं।

यदि मेरा विचार पूछा जाय तो जब गांधीजी का जीवन पूर्ण हो जायगा तो यह आमतौर पर माना जायगा कि अपने प्रयत्नों के फलस्वरूप वह दुनिया को उससे अच्छी अवस्था में छोड़ गये, जो कि उनके आगमन के समय थी।

## : ४७ :

# हिन्दुत्व का महान अवतार

**डी. एस. शर्मा, एम. ए.**

[ पचियप्पा कालेज, मदरास ]

एक अमेरिकन यात्री ने एक बार कहा कि वह हिन्दुस्तान में तीन चीज़ें देखने आया है—हिमालय, ताजमहल और महात्मा गांधी। हम इस देश में महात्मा गांधी के इतने निकट हैं कि उनके व्यक्तित्व को वास्तविक रूप में नहीं देख सकते और न यही समझ सकते हैं कि जिन्हें वह अपने 'सत्य के प्रयोग' कहते हैं, उनका मानव-इतिहास में क्या महत्त्व है। उन्होंने खुद कहा है कि उनका सन्देश सार्वभौम है, भले ही वह भारत में और भारतीय राजनीति के क्षेत्र में दिया गया है। किन्तु जिस मनुष्य का अन्तिम उद्देश्य मानव-जाति को उच्च नैतिक और आध्यात्मिक सतह पर ले जाना हो, उसके लिए राजनीति तो गौण या आनुसंगिक प्रवृत्ति है।

हमने इस युग में आकाश-विजय को देखा है। हम उन साहसी स्त्री-पुरुष की नित्य ही बातें सुनते हैं, जो भयंकर ख़तरों का ज़रा भी खयाल किये बिना थल और जल पर हज़ारों मील उड़कर एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप को जाते हैं। जैसाकि हम सब जानते हैं, वायुयान के आविष्कार ने और युद्ध तथा शांति के कामों के लिए राष्ट्रों द्वारा उसको तेज़ी के साथ अपनालेने ने इतिहास का नया पृष्ठ खोल दिया है। किन्तु महात्मा गांधी का आविष्कार मनुष्य-जाति के लिए वायुयान से भी अधिक महत्वपूर्ण है और उसके भाग्य पर शताब्दियों तक असाधारण प्रभाव डालेगा। उनका

सत्याग्रह आध्यात्मिक आकाश-विद्या के अलावा और कुछ नहीं है। जब हम उसे ठीक रूप में समझ लेंगे और उसपर सही-सही आचरण करेंगे तो वह न केवल व्यक्तियों को, बल्कि राष्ट्रों को मनुष्यों में वास करनेवाले सिंह और बन्दर के स्वभाव से उड़कर उस रहस्यमयी आध्यात्मिक पूर्णता की ओर ले जायगा, जिसे हम ईश्वर कहते हैं। कुछ लोग उनके अहिंसा के सिद्धान्त पर, जिसे वह आत्म-शक्ति कहते हैं, हँस सकते हैं और पूछ सकते हैं कि जब उसे मशीनगन या विध्वंसक बम का सामना करना पड़ेगा तो उसका क्या होगा ? स्पष्ट है कि उन्होंने ईसाइयत की गाथा को नहीं समझा है। वह हमको पार्लमेण्ट के उस सदस्य की याद दिलाते हैं—वह शायद नरम दल का प्रतिनिधि था—जिसने नव-आविष्कृत रेलवे एंजिन के बारे में बहस करते हुए कहा था कि यदि प्रस्तावित पटरी पर किसी क्रुद्ध गाय ने उस पर हमला किया तो क्या होगा ? किन्तु सौ वर्ष बाद, अथवा सम्भवतः हज़ार वर्ष बाद, क्योंकि मनुष्य आध्यात्मिक जगत में अभी निरा शिशु है, जब यूरोप के आज के तमाम सैनिक अधिनायक अपने जैसे विचार वालों के साथ अपनी कब्रों में मिट्टी हो चुकेंगे, और वह बर्बर शस्त्रास्त्रों का ढेर भी जिसे वे बढ़ाये जा रहे हैं, नष्ट हो चुका होगा, तब इस कृशकाय हिन्दू द्वारा आविष्कृत आध्यात्मिक शस्त्र जगद्व्यापी बन जायगा और दुनिया के राष्ट्र उसे आशीर्वाद देंगे कि उसनें उन्हें श्रेष्ठतर मार्ग बताया—ऐसा मार्ग जो मानव-प्राणियों के लिए वस्तुतः उपयुक्त है। उस समय उसको सब लोग परमात्मा का सच्चा दूत मानेंगे, जिसका सन्देश बुद्ध, ईसा अथवा मुहम्मद की भांति एक देश या जाति के लिए सीमित नहीं है।

हिन्दू-धर्म दुनिया का सबसे पुराना धर्म है। उसके पीछे चालीस शताब्दियों का अटूट इतिहास है। उसके दर्शन और उपनिषद् अभी बन्द नहीं हुए हैं। वह सदा नवीन सिद्धान्तों की घोषणा, नये नियमों के प्रचार और नये ऋषियों और अवतारों के आगमन की कल्पना करता है। एक शब्द में वह सत्य की उत्तरोत्तर सिद्धि है, और वह पुनर्जीवन के युग में से होकर गुजर रहा है और उसके इतिहास में एक स्मरणीय अध्याय जोड़ा जा रहा है। क्योंकि महात्मा गांधी, जो हिन्दू आध्यात्मिकता के सच्चे अवतार हैं और प्राचीन ऋषियों की शृंखला की प्रत्यक्ष कड़ी हैं, हिन्दू-धर्म के शाश्वत सत्यों की पुनर्व्याख्या कर रहे हैं और उनको मौजूदा दुनिया की परिस्थितियों पर आश्चर्यजनक मौलिक रूप में घटित कर रहे हैं। उनका सत्याग्रह का सन्देश, जैसाकि वह स्वयं कहते हैं, हिन्दूधर्म के 'अहिंसा' सिद्धान्त का केवल विस्तार है और राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर लागू किया गया है। भारतवर्ष के अलावा आवश्यक धार्मिक पृष्ठ-भूमि रखनेवाला कोई देश नहीं है, जहाँकि इस महान् सिद्धान्त को जिसका उद्देश्य मानव में देवत्व जगाना है, विस्तृत और परिपूर्ण बनाया जा सके। उनका स्वराज्य, जो अहिंसा द्वारा प्राप्त किया जायगा और जिसमें सब धर्मों के साथ समान व्यवहार किया जायगा और सब समाजों को समान अधिकार और सुविधायें

प्राप्त होंगी, **'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'** इस हिन्दू-सिद्धान्त की राजनैतिक व्याख्या-मात्र है। उन्होंने अस्पृश्यता-निवारण और आधुनिक जाति-पाँति की असमानताओं को दूर करने के लिए जो महान आन्दोलन शुरू किया है, उसका उद्देश्य वर्णाश्रमधर्म-भावना की मौलिक पवित्रता को पुनः स्थापित करना है, जो उनके विचार में पृथ्वी का सबसे बड़ा साम्यवाद है। उन्होंने ारत के देहातों में चर्खे और कर्घे के पुनरुद्धार की हार्दिक अपील की है और इस देश में सम्पूर्ण मद्य-निषेध के लिए जो दलीलें दी हैं वे हमको भारतीय सभ्यता के उस स्वरूप की याद दिलाती हैं, जिसे हमको हर हालत में क़ायम रखना है। और सबसे अधिक, वह जिस प्रकार सब राजनैतिक और सामाजिक समस्याओं को धार्मिक दृष्टिकोण से देखते हैं, जीवन के हर क्षेत्र में सत्य और अहिंसा पर ज़ोर देते हैं और दैनिक जीवन की हर प्रवृत्ति में मनुष्यमात्र की आध्यात्मिक एकता को स्वीकार करते हैं, ये सब हिन्दू-धर्म के उत्कृष्ट पहलू हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने साधु-सदृश आचरणों, उपवास, तप और त्यागमय जीवन के द्वारा आधुनिक जगत में जहाँ हमारी इंद्रियों को पथ-भ्रष्ट करने के अनेक साधन उपलब्ध हैं, हिन्दू-धर्म के ब्रह्मचर्य, तपस्या और वैराग्य के प्राचीन आदर्शों को प्रस्थापित किया है। इस प्रकार महात्मा गांधी, वचन और कर्म दोनों के द्वारा, हिन्दुत्व के उस भविष्य की ओर इंगित कर रहे हैं जो उसके भूतकाल के समान ही उज्ज्वल होगा। निस्सन्देह हिन्दू-धर्म के इतिहास में महात्मा गांधी महान् रचनाशील महापुरुषों में से एक हैं और उनके भाषण और लेख हिन्दुओं के पवित्र धर्म-ग्रन्थों के अंग बनकर रहेंगे।

## : ४८ :

## महात्मा : छोटा पर महान्

### क्लेयर शेरीडन

[ लन्दन ]

कोई भी व्यक्ति जो उस छोटे-से महान् महात्मा से नहीं मिला है, उसके लिए उनके असली व्यक्तित्व को समझना प्रायः असम्भव है।

इंग्लैण्ड में समाचारपत्र जानबूझ कर उनके विषय में ग़लत बातें लिखते हैं। यदि उनके साथ न्याय किया जाय तो उनका प्रकाशन कुछ उतना ही हो, जितना कि अधिनायकों (डिक्टेटरों) का होता है। मैंने बहुधा ख़याल किया है कि यदि अमुक दिन और अमुक घण्टे समुद्र पार से दिये जानेवाले आक्रामक और शेखीभरे भाषण सुनने के बजाय दुनिया महात्मा गांधी की आवाज़ और उनके कुछ विशुद्ध सत्यों को सुन सके तो कितना आश्चर्य, कितना आनन्द उसे होता! वह वाणी कितनी प्रकाशदायक और कितनी

शिक्षाप्रद होती—स्पष्ट स्पष्टीकरण, आदर्श संयत विचार, घृणा-द्वेष का नाम नहीं और न हिंसा की धमकी।

मुझे स्मरण है कि जब लार्ड लण्डनडेरी ने मुझसे पूछा था कि "क्या गांधी हमसे बहुत द्वेष करता है ?" तो मुझे कितना आश्चर्य हुआ था।

गांधीजी व्यक्तिशः या सामूहिक रूप में घृणा या द्वेष भी कर सकते हैं, यह कल्पना ही प्रकट करती है कि हमने उनकी प्रकृति को समझने में गहरी भूल की है।

मुझे गोलमेज परिषद् के दिनों उन्हें बहुत नज़दीक से देखने का सुअवसर मिला है। मेरी मित्र सरोजनी नायडू के द्वारा महात्माजी से इस बात की स्वीकृति लीगई कि मैं उनकी प्रस्तर मूर्ति बना सकती हूँ।

यह काम आसान न था। वह मेरी इच्छानुसार बैठने को तैयार न थे। इसका कारण या तो उनकी विनम्रता हो, या कार्याधिक्य हो अथवा उनको कला में दिलचस्पी ही न हो। सम्भवतः तीनों ही कारण हों।

मुझे याद ह कि लेनिन ने भी ऐसी ही शर्तें लगाई थीं, जबकि मुझे सन् १९२० में क्रेमलिन में उनके काम करने के कमरे में प्रविष्ट होने की आज्ञा मिली थी। इन दोनों में एक विचित्र समानता है। दोनों ही तीव्र आदर्शवादी हैं, हालांकि हिंसा के महत्व के सम्बन्ध में वे अलग-अलग मत रखते हैं।

जब पहली मर्तबा महात्मा के दर्शन हुए तो उन्होंने ठीक वही कहा जो लेनिन ने कहा था—"मैं रुक कर नहीं बैठ सकता। आप मुझे अपना काम करते रहने दें और फिर जितना सम्भव हो उतना अपना काम कर लें।"

गांधीजी फर्श पर बैठकर कातने लगे। लेनिन अपने दफ्तर में कुर्सी पर बैठकर पढ़ते रहे थे।

दोनों अवसरों पर मुझे मौन अवज्ञा का भान हुआ, किन्तु दोनों ही उदाहरणों में, अंत पारस्परिक घनिष्ट मित्रता में परिणत होगया। एक दिन गांधीजी ने लेनिन की ही भाँति प्रायः उन्हीं शब्दों और उसी व्यंगयुक्त मुस्कराहट के साथ कहा—

"हाँ, तो तुम मि० विन्स्टन चर्चिल की भतीजी हो !"

यह वही पुराना विनोद था—विन्स्टन की एक सम्बन्धी उसके कट्टर शत्रु से मित्रता (हाँ ?) कर रही है। और गांधीजी ने बात आगे चलाई—

"तुम्हें मालूम है न, वह मुझसे मिलना नहीं चाहते ? किन्तु तुम उनसे मेरी ओर से कहना—कहोगी न ?—कि मैं तुमसे मिलकर कितना प्रसन्न हुआ हूँ !"

लेनिन ने क़रीब-क़रीब इसी तरह कहा था—"तुम अपने चचा से कहना..." आदि।

जब मैंनें उन दोनों के सिर पूरे बना लिये तो मैंने दोनों से यही प्रश्न किया—"आपका इस मूर्ति के बारे में क्या ख़याल है ?" और दोनों ने एक-सा उत्तर दिया—

"मैं नहीं जानता। मैं अपने ही चेहरे के बारे में क्या कह सकता हूँ, और मैं तो कला के विषय में कुछ जानता भी नहीं। किन्तु तुमने काम अच्छा किया है।"

मैं कभी-कभी निर्णय नहीं कर सकती कि इन दोनों व्यक्तियों में से दुनिया पर कौन अधिक असर छोड़ जायगा।

जहाँ रूस का सम्बन्ध है, प्रतीत होता है कि लेनिन का सिवाय इसके, वहाँ कोई चिन्ह नहीं छूटा है, कि उसका शरीर कांच के सन्दूक़ में सुरक्षित रक्खा है। किन्तु अभी निर्णय करना बहुत जल्दी होगा। ईसाइयत को पैरों पर खड़े होने में दो सौ वर्ष लगे थे।

गांधीजी अभी क्रियाशील हैं। उनके काम का फल निकलना शुरू हुआ है। मेरी मान्यता है कि दोनों व्यक्तियों ने संसार को एक अजर-अमर सन्देश दिया है। यह ऐसा सन्देश है जो तिरस्कृतों और पददलितों को साहस प्रदान करता है। यह वह सन्देश है जिसने झुके हुओं को सिर ऊँचा करने का सामर्थ्य दिया है और इस दुनिया में उन्हें अपने स्थान का ज्ञान कराया है।

गांधीजी के सन्देश में आध्यात्मिकता की मात्रा है जो उसे दैवी सतह पर पहुँचा देता है।

जो लोग लेनिन के उद्देश्य के लिए मरे, वे वीर मालूम होते हैं, किन्तु जो गांधी के नाम पर मरेंगे वे बहादुर और शहीद दोनों ही प्रतीत होंगे।

मुझे अमेरिकन मूर्तिकार जो डेविडसन के साथ अपने विचारों को मिलाने का अवसर मिला था। उन्होंने भी गांधीजी की प्रस्तर मूर्ति बनाई थी। वह इस युग के अनेक प्रमुख व्यक्तियों की मूर्तियाँ बना चुके हैं, और हम एकमत थे कि इन लोगों से मिलने पर निराश होकर लौटना पड़ता है। औरों में से तो, यदि उन्हें सन्तरियों की सुपरिचित सजधज और छीने हुए राजमहलों की भूमिका की दृष्टि से न देखा जाय, तो शायद ही कोई अपना असर छोड़ता है। किन्तु गांधी इन सबसे ऊपर उठे हुए हैं। वह छोटा-सा नंगी टाँगों वाला व्यक्ति, देह पर अपनी खद्दर लपेटे, अपनी महान् सादगी में गहरा असर डालता है। वह प्रभाव ऐसा है और इतनी आदर की भावना पैदा कर देता है कि मैंने अन्तिम विदा होते समय श्रद्धापूर्वक उनका हाथ चूम लिया। उस समय उन्होंने मुझे विश्वास दिलाया कि वह मुझसे (ईसा के अर्थों में) प्रेम करने लगे हैं और यह कि वह अपने मित्रों को कभी नहीं भूलते।

उनकी उस अवस्था की नन्हीं-सी मूर्ति, जबकि वह पालथी लगाकर कातने बैठे थे, मेरी मेज पर रक्खी हुई एक आदरणीय वस्तु है। वस्तुतः वह कातने में तल्लीन होकर नीचे की ओर दृष्टि जमाये हैं। मुझे प्रतीत होता है मानों ध्यान-मग्न बुद्ध हों। उनकी शांत मुद्रा में से मुझे विश्वजननीन भावनाओं का स्रोत फूटता हुआ अनुभव होता है।

लन्दन-निवास के उन दिनों में उन्हें एक छोटी-सी दुनिया ही घेरे रहती थी, जो

हुई बोली—"मोशिये गांधी, हमने युद्ध शुरू नहीं किया था। हमने तो केवल आत्मरक्षा की थी।" इस पर 'मोशिये गांधी' सहिष्णुतापूर्वक हँस दिये।

इसके बाद एक वामपक्षी साप्ताहिक के सम्पादक आये। जो प्रश्न मेरे भी मन में थ, वे सब चर्चा के लिए पेश हुए। सम्पादक के पास बहुत निश्चित दलीलें थीं। गांधीजी के पास भी हर दलील का उत्तर था। उनके उत्तर अकाट्य और सन्तोषकारक थे।

सम्पादक महाशय की भेंट पूरी होने के पश्चात् पॉल रॉबसन की धर्मपत्नी गांधीजी के पैरों के पास फर्श पर आकर धम-से बैठ गईं और अमरीका की हब्शी समस्या के बारे में उनकी राय पूछने लगीं। स्पष्टतः यह ऐसी समस्या थी, जिसपर विचार करने का गांधीजी को मौका न मिला था। किन्तु श्रीमती रॉबसन ने अंक सामने रक्खे और पूछा—"क्या आप समझते हैं कि किसी दिन हब्शियों का प्राधान्य होजायगा?"

गांधीजी का ऐसा ख़याल 'नहीं' था। वह आगे बढ़ीं।

"क्या आप समझते हैं कि हम हज़म कर लिये जायँगे?"

"शायद..."

"और तब?..."

"ठीक, तो उस समय वह 'हब्शी' समस्या ही न रहेगी।"

अचानक एक नौजवान जर्मन महिला बिना सूचना दिये ही आ धमकीं। वह महात्माजी से इतनी भलीभांति परिचित प्रतीत होती थीं कि उन्होंने शिष्टाचार के पालन की आवश्यकता न समझी। गांधीजी कातते हुए रुक गये और अपना सूखा किन्तु कोमल हाथ आगे बढ़ा दिया। उन्होंने अपने दोनों हाथों में उसे थाम लिया और इस तरह पकड़े रहीं मानों वह किसी पवित्र अवशेष को थामे हों।

गांधीजी ने पूछा—"क्या तुम जर्मनी जा रही हो?"

उसने अपना सिर झुकाया, उसके ओठ काँपे, किन्तु उत्तर नहीं दे सकीं। उसकी आँखों में आँसू छलछला आये।

"नमस्कार..."

उसने एक क़दम पीछे हटाया। उसके हाथ अब भी आगे बढ़े हुए थे, और आँखें गांधीजी पर जमी हुई एक प्रकार से आनन्द-मग्न थीं। उसने एक सिसकी ली और ग़ायब होगई।

आग़ाखाँ के पास से पगड़ी बांधे हुए एक दूत आया—"बहुत ज़रूरी; हिज़ हाईनेस उमीद करते हैं कि आप पंचायत की बात मंजूर कर लेंगे...।"

इसके बाद एक हिन्दू विद्यार्थी अपनी अमरीकन धर्मपत्नी को मिलाने के लिए लाया। गांधीजी ने एक निगाह से पत्नी की ओर देखा और युवक से पूछा—

"क्या तुम अपनी धर्मपत्नी को भारत लेजाने का विचार रखते हो ?"

उसके स्वीकारात्मक उत्तर में मुझे कुछ घबराहट-सी प्रतीत हुई। दुलहन निष्कपट, उल्लास और उमंग से भरी थी। "महात्माजी, आप अमरीका कब आ रहे हैं ?" उसने पूछा।

"अभी नहीं,..."

"वहाँ तो आपके लिए सब कोई पागल हैं।"

महात्माजी ने आंख टिमकारते हुए कहा—"मेरे जानकार मित्रों का तो कहना है कि मुझे वहाँ चिड़ियाघर में रख देंगे।" ( विरोध और हंसी )

इसके बाद महात्माजी के जीवनी-लेखक सी. एफ. एण्ड्रूज़ सप्ताहान्त का कार्यक्रम स्थिर करने के लिए आये।

"हाँ, हाँ।" गांधीजी ने कहा। वह टूटे हुए धागे को जोड़ने में तल्लीन थे।

"और बापू, आज शाम को पन्द्रह अंग्रेज़ पादरी स्वागत करेंगे, यह न भूलिएगा। लन्दन के लाट पादरी सात बजे ज़रूरी काम से आपसे मिलने आनेवाले हैं।"

गांधीजी ने तीव्र दृष्टि से ऊपर देखा—"सात बजे की प्रार्थना का क्या होगा ?"

श्री एण्डरूज़ ने कहा कि आगे पीछे कर लेंगे। गांधीजी ने फ़ैसला किया—"मोटर में, रास्ते में ही कर लेंगे।"

कोई भी समझ सकता है कि पश्चिम की अशान्ति में पूर्वी संन्यासी का जीवन बिताना कितना कठिन होगा। सोमवार के मौन-दिवस पर सतत आक्रमण होता रहता था और अत्यन्त दृढ़ प्रयत्न के द्वारा उसकी रक्षा करनी पड़ती थी। भोजन भी सदा चिन्ता का विषय बना रहता था।

सायंकाल की सात बजे की प्रार्थना में सम्मिलित होने की अनुमति मिलने पर जब मैंने अपना आभार प्रदर्शित किया, तो महात्माजी ने कहा—"वह तो सबके लिए खुली है। किन्तु यदि सुबह तीन बजे की प्रार्थना में उपस्थित रहना चाहो तो मैं अपने मित्रों को कहूँ कि किंग्सले हॉल में रात के लिए बन्दोबस्त करदें—पर अपना कम्बल साथ लेती आना, क्योंकि वह हम ग़रीबों की बस्ती है।"

'किंग्सले हॉल' कारख़ाने के मजदूरों में सेवा-कार्य करनेवाली संस्था है। उसके लिए कुमारी लिस्टर ने अपना जीवन और संपदा उत्सर्ग कर दी है। कुमारी लिस्टर और उनके कार्य के प्रति अपनी पसन्दगी प्रकट करने के लिए ही महात्माजी ने अपनी इंग्लैण्ड की राजकीय यात्रा के समय किंग्सले हॉल का आतिथ्य स्वीकार किया था।

मैं कुहरेभरी कड़कड़ाती रात में वहाँ पहुँची। मुझे एक कमरे में लेजाया गया। वह एक छोटा-सा सफेद सादा तिकोना कमरा था। उसमें छत पर खुली बारादरी में से होकर जाना पड़ता था। शुक्लवसना मूर्ति थीं मीराबाई। दीवार के सहारे झुकी खड़ी वह एक प्राचीन संत जैसी दीखती थीं। उन्होंने मुझे ठीक तीन बजे से कुछ

पहले जगा देने का वादा किया ।

मैं उस रात्रि को कभी न भूलूँगी--अजीब रहस्यमयी सुन्दरता थी उसकी। अर्द्धनिद्रा में और बालोंवाला कोट पहने मैं मीराबाई के पीछे-पीछे महात्माजी की कोठरी में गई। वह छोटी, धवल और ठण्डी थी। वह फर्श पर एक पतली चटाई पर बैठे हुए थे। खद्दर ओढ़े हुए वह बहुत दुबले-पतले दिखाई देते थे।

हमारे साथ महात्माजी के हिन्दू मन्त्री भी आ सम्मिलित हुए। दीपक बुझा दिया गया और खुले हुए दरवाज़े में से धुँधला, शीतल, नीला, कुहरा आरहा था। दो हिन्दू और एक अंग्रेज़ सन्त ने प्रार्थना के मन्त्रों का उच्चार किया। मुझे लगा कि मैं स्वप्न देख रही हूँ।

पाँच बजे से कुछ पहले मीराबाई ने मुझे फिर जगाया। यह महात्माजी के घूमने जाने का समय था और उसके साथ बात करने का सबसे उत्तम अवसर समझा जाता था।

यह बिलकुल स्पष्ट था कि और किसी प्रदेश में तो यह जीवन सुन्दर लग सकता है या कम कड़े कार्यक्रम के अनुकूल तो वह हो सकता है। पर महात्माजी अपनी लन्दन की राजनैतिक और दूसरी तमाम कार्य-प्रवृत्तियों के साथ-साथ अपने धार्मिक संन्यस्त जीवन को किस भाँति निभा सके, मेरी कल्पना से तो इसका उत्तर उनका आध्यात्मिक अनुशासन ही है। किन्तु मैं, जिसने रत्तीभर अनुशासन का अभ्यास नहीं किया था, शीत, कुहरे और अनिद्रा के मारे मानसिक शारीरिक और आध्यात्मिक तीनों तरह से बिलकुल शिथिल होगई थी। मैं महात्माजी के प्रातःकालीन भ्रमण में उनका पीछा करके उसका लाभ न उठा सकी। मैंने पीछा करना शब्द का जानबूझकर उपयोग किया है, क्योंकि खद्दर अपने चारों ओर लपेटकर महात्माजी इतनी तेजी के साथ चलते हैं कि वह कुहरे में कहीं गायब न होजायँ इस डर से हमें करीब-करीब दौड़ना पड़ता था। हमारे पीछे, हमने सुना कि, हाँफते-हाँफते दो गुप्तचर चले आ रहे थे, जिनको कि महात्माजी की रक्षा करने या उनपर पहरा रखने के लिए नियुक्त किया गया था।

गांधीजी को अपना मार्ग ज्ञात था। वह नहर के किनारे-किनारे होकर जाता था। वह आँख बन्द करके उसपर से गुजर सकते थे। यद्यपि नहर दिखाई न पड़ती थी, किन्तु पानी की आवाज़ सुनाई पड़ती थी, जो एक पनचक्की में जाकर गिरता था। इस रास्ते पर दो आदमी एकसाथ मुश्किल से चल पाते थे। मीराबाई ने मुझे आगे बढ़ाकर कहा—"बढ़ो, अब तुम्हारे लिए मौका है।" मुझे कुछ-कुछ याद पड़ता है कि हमने धर्म के बारे में बात की थी और उन्होंने बताया कि जो सत्य और ईमानदारी से प्रेम करते हैं, द्वेष और कटुता को छोड़ चुके हैं, वे सब दुनियाभर में एक दूसरे से मिलते-जुलते ही हैं किन्तु वस्तुतः यह आवश्यक नहीं है कि गांधीजी किसीके साथ

शब्दों द्वारा बात करें ही करें। उनके वातावरण में रहनेमात्र से मनुष्य अपने-आपको उच्चतर सतह पर पहुँचा हुआ अनुभव करता है। उनके पास मौन रहकर चिन्तन करने से काफी लाभ उठाया जा सकता है।

सात साल बाद, जबकि भावुकता शान्त हो चुकी है और स्मृति एक स्वप्न रह गई है, में यह बिलकुल सही-सही कह सकती हूँ कि गांधीजी से परिचय होने के कारण मुझमें कुछ परिवर्तन होगया है। जीवन में किसी क़दर पहले से रस आगया है कुछ वह वस्तु, उसकी आभा, मिली है जिसे दूसरे अधिक उपयुक्त शब्द के अभाव में हम 'प्रेरणा' कहते हैं।

: ४६ :

# गांधीजी की राजनीति-पद्धति

**जनरल जे. सी. स्मट्स, एम. ए., एल. एल. डी., डी. सी. एल.**

**[ प्रधान मन्त्री, दक्षिण अफ्रीका ]**

यह उपयुक्त ही है कि मैं, जो एक पीढ़ी पहले गाँधीजी का विरोधी था, आज तीन बीसी और दस वर्ष की आयु की शास्त्रोक्त सीमा पर पहुँचने पर उस भुक्तभोगी बूढ़े योद्धा को प्रणाम कर रहा हूँ। सामुद्रिक शास्त्री उस सीमा से आगे कृपा कम करते हैं, पर परमात्मा करे उनकी आयु लम्बी हो और आनेवाले उनके वर्ष संसार के लिए सफल सेवामय और उनके लिए मानसिक शान्ति से परिपूर्ण हों। मैं इस पुस्तक के अन्य लेखकों के साथ उनकी महान् सार्वजनिक सेवाओं को स्वीकार करने और उनके उच्च व्यक्तिगत गुणों की प्रशंसा करने में हृदय से शामिल होता हूँ। उनके जैसे मनुष्य हम सबको साधारण स्थिति और निरर्थकता की भावना से ऊँचा उठाते हैं और हमें प्रेरणा देते हैं कि सत्कार्य करने में हमें कभी शिथिल न होना चाहिए।

दक्षिण अफ्रीका यूनियन के प्रारम्भिक दिनों में हमारी जो लड़ाई हुई, उसका गाँधीजी ने स्वयं वर्णन किया है और वह सर्वविदित है। ऐसे व्यक्ति का विरोधी होना मेरे भाग्य में लिखा था, जिसके प्रति उस समय भी मेरे दिल में अत्यधिक आदर भाव था। दक्षिण अफ्रीका के लघु मंच पर जो संघर्ष हुआ, वह गाँधीजी के चरित्र की उन विशेषताओं को प्रकाश में लाया, जो भारतवर्ष की बड़े पैमाने पर लड़ी गई लड़ाइयों में और भी प्रमुख रूप में प्रकट होचुकी हैं; और उनसे यह प्रकट होता है कि जिन उद्देश्यों के लिए वह लड़ते हैं, उनके लिए यद्यपि वह सर्वस्व उत्सर्ग करने को तैयार रहते हैं, किन्तु परिस्थिति की मानव भूमिका नहीं भुलाते, अपने मस्तिष्क का संतुलन कभी नहीं खोते, न द्वेष के वशीभूत ही होते हैं और अत्यन्त कठिन प्रसंगों में भी

अपना मृदु-मधुर विनोद क़ायम रखते हैं। उस समय भी और उसके बाद भी उनका व्यवहार और उनकी भावना आज की निष्ठुर और नग्न पाशविकता से बिलकुल भिन्न थी।

मुझे खुले दिल से यह स्वीकार करना चाहिए कि उस समय की उनकी प्रवृत्तियाँ मेरे लिए अत्यन्त परेशान करनेवाली थीं। दक्षिण अफ्रीका के अन्य नेताओं के साथ उस समय मैं पुराने उपनिवेशों को एक संयुक्त राष्ट्र में समाविष्ट करने, नवीन राष्ट्रीय तंत्र का शासन जमाने और बोअर-युद्ध के बाद जो-कुछ शेष बचा था, उसमें से नये नये राष्ट्र का निर्माण करने में व्यस्त था। वह पहाड़ के समान भारी कार्य था और उसके लिए मुझे अपना हर क्षण लगाना पड़ रहा था। यकायक इस गहरी कार्यव्यस्तता के बीच गांधीजी ने एक अत्यन्त आफ़तभरा प्रश्न खड़ा कर दिया।

हमारी अलमारी में एक कंकाल पड़ा था। वह था दक्षिण अफ्रीका का भारतीय प्रश्न। ट्रान्सवाल ने भारतीयों के आगमन को मर्यादित करने का प्रयत्न किया था। नेटाल में भारतीयों पर एक टैक्स लगता था, जिसका उद्देश्य था कि गन्ने के खेतों पर काम करनेवाले भारतीय अपने काम करने की मियाद पूरी होने के बाद अपने देश को लौट जावें। गांधीजी ने इस प्रश्न को हाथ में लिया और ऐसा करते हुए नई पद्धति का उदय किया। इस पद्धति को उन्होंने आगे चलकर अपने भारतीय आन्दोलनों से संसार-प्रसिद्ध बना दिया है। उनका उपाय यह था कि जानबूझकर क़ानून को तोड़ा जाय और अपने अनुयायियों को आपत्तिजनक क़ानून के विरुद्ध निष्क्रिय प्रतिरोध करने के लिए सामूहिक रूप से संगठित किया जाय। दोनों प्रान्तों में घोर और चिन्ताजनक अशान्ति पैदा हो गई, ग़ैरक़ानूनी आचरण के लिए भारतीयों को बड़ी तादाद में क़ैद करना पड़ा और गांधीजी को जेल में थोड़े काल के लिए वह आराम और शान्ति मिल गई, जिसकी निस्सन्देह उन्हें इच्छा थी। उनकी दृष्टि से सब बातें योजनानुसार हुईं। मेरे लिए, जिसे क़ानून और अमन की रक्षा करनी थी, परिस्थिति कठिनाईपूर्ण थी। मेरे सिर पर ऐसे क़ानून पर अमल करवाने का बोझा था, जिसकी पीठ पर दृढ़ लोकमत न था और जिसमें अन्त में जब कि उस क़ानून को रद कर देना पड़ा निराशा मिली। उनके लिए विजयी मोर्चा था। व्यक्तिगत लिहाज़ की भी कमी न थी, क्योंकि गांधीजी के तरीके में ऐसी कोई बात नहीं है जिसमें एक विशेष व्यक्तिगत स्पर्श या लिहाज़ न हो। जेल में उन्होंने मेरे लिए चप्पलों का एक बहुत ही उपयोगी जोड़ा तैयार किया और छूटने पर मुझे भेंट किया। उसके पश्चात् मैंने कितनी ही गर्मियों में उन चप्पलों को पहना है। हालांकि आज भी मैं यह अनुभव कर सकता हूँ कि ऐसे महापुरुष के बनाये जूतों को पहनने के भी मैं योग्य नहीं हूँ। जो भी हो, यह थी वह भावना, जिसमें हमने दक्षिण अफ्रीका में अपनी लड़ाई लड़ी थी। उसमें घृणा, द्वेष या व्यक्तिगत दुर्भावना को कोई स्थान न था, मानवता की भावना हमेशा विद्यमान थी। और जब लड़ाई ख़त्म हुई तो

एसा वातावरण था कि जिसमें अच्छी संधि सम्भव थी। गांधीजी और मेरे बीच एक समझौता हुआ, जिसे पार्लमेण्ट ने मंजूर किया और जिसके कारण दोनों क़ौमों में वर्षों शान्ति बनी रही। वह भारत का भगीरथ कार्य हाथ में लेने और अपनी भावना और व्यक्तित्व को, जिसका आधुनिक भारतीय इतिहास में दूसरा कोई उदाहरण नहीं है, उस देश के जन-साधारण पर अंकित करने के लिए दक्षिण अफ्रीका से भारत के लिए रवाना होगये। और इस सारे अर्से में वह अधिकांश में उन्हीं उपायों को काम में ला रहे हैं, जिनको कि उन्होंने भारतीय प्रश्न पर हमारे साथ हुए संघर्षों में सीखा था। वस्तुतः दक्षिण अफ्रीका उनके लिए एक बड़ा भारी शिक्षणस्थल सिद्ध हुआ, जैसाकि उन अन्य प्रमुख व्यक्तियों के लिए, जोकि समय-समय पर इस विचित्र आकर्षक और उत्तेजक महाद्वीप में हमारे जीवन के भागीदार हुए हैं।

मैंने 'अधिकांश में' कहा है, सम्पूर्णतः नहीं। निष्क्रिय प्रतिरोध के पुराने तरीक़े के अलावा, जिसका नाम अब 'असहयोग' रख दिया गया है, उन्होंने भारतवर्ष में एक नवीन विशिष्ट युक्ति ईजाद की है, जो बड़ी परेशानी में डालनेवाली किन्तु प्रभाव-शाली है। सुधार की यह युक्ति अनशन द्वारा प्रतिपक्षी को सहमत करने का प्रयत्न करती है। सौभाग्यवश दक्षिण अफ्रीका में, जहाँ लोग अनावश्यक प्राण-हानि को भय की दृष्टि से देखने हैं, हमको इस युक्ति का सामना नहीं करना पड़ा। भारतवर्ष में उसने आश्चर्यजनक कार्य सम्पादित किये हैं और गांधीजी को ऐसी सफलतायें प्रदान की हैं जो सम्भवतः अन्य उपायों द्वारा असंभव थीं।

इस अपूर्व युक्ति पर—खासकर राजनैतिक युद्ध में तो यह नई ही है—निकट से विचार करना दिलचस्प होगा। मैं कल्पना नहीं कर सकता कि ग्रेटब्रिटेन में विरोधी दल का नेता अधिकारारूढ़ सरकार को उसकी नीति की त्रुटि अनुभव कराने के लिए आमरण अनशन करेगा। हम यहाँ विचित्र प्रदेश में जनतन्त्र की पद्धति और पश्चिमी सभ्यता से भी दूर रहते हैं। मेरे विचार से युद्ध के इस रूप पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाना चाहिए। मैं यहाँ इसपर केवल विहंगावलोकन ही कर सकता हूँ।

भारतीय आचार-विचार के लिए यह बिल्कुल नया नहीं है। भारत में यह स्वीकृत पद्धति मालूम होती है कि लेनदार अनिच्छुक देनदार पर दबाव डालने के लिए देनदार पर नहीं, बल्कि स्वयं अपनेपर कष्टों को निमन्त्रित करे। देनदार को, जो क़र्ज अदा न करना चाहता हो, हवालात में रखवाना पश्चिमी तरीक़ा है या रहा है। किन्तु भारत में ऐसी बात नहीं होती। वहाँ लेनदार खुद जेलखाने चला जायगा या देनदार के दर्वाजे पर अनशन करके बैठ जायगा, ताकि देनदार का हृदय पिघल जाय और उसकी या उसके मित्र की थैली का मुँह खुल जाय। गांधीजी ने इस भारतीय पद्धति को अपना लिया है और केवल उसका प्रयोग और परिणाम बदल दिया है। वह सरकार के या किसी पक्ष या वर्ग के दरवाजे पर अनशन करके, आवश्यक हो तो आमरण

अनशन करके, बैठ जावेंगे ताकि वह उसको समझा सकें अथवा दूसरे शब्दों में, ठीक रास्ते पर आने के लिए उसपर दबाव डाल सकें। वह देनदार की भांति सफल होते हैं, दलील देकर या समझाकर नहीं, बल्कि अन्तस्तल में छिपे हुए भय, लज्जा, पश्चात्ताप, सहानुभूति और मानवता की भावनाओं को जगाकर—उन भावनाओं को भी जो मानस में गहरी छिपी रहती हैं और जो दलील अथवा समझाहट से सामूहिक रूप में कहीं अधिक प्रभावशाली होती हैं। देनदार अर्थात् विपक्षी सरकार या जाति नैतिक दृष्टि से खोखली होजाती है और अन्त में इस भावनापूर्ण सामूहिक असर के आगे झुक जाती है।

कुछ दृष्टियों से यह युक्ति आधुनिक युग के विशाल परिमाण पर किये गये प्रचार के तरीक़ों से ज्यादा भिन्न नहीं है। वह लोकमत पर दलील के द्वारा नहीं, बल्कि भावनाओं के बल पर, जिनमें से कई बुद्धि-संगत नहीं भी होतीं, विजय प्राप्त करने में वैसी ही कारगर होती हैं। कोई भी यह भलीभांति कह सकता है कि यह युक्ति भयावह है और इसका दुरुपयोग हो सकता है। यह ठीक उसी तरह की है जिस तरह कि पश्चिमी दुनिया में लोकमत को भ्रष्ट और विषाक्त करने के लिए प्रचार को साधन बनाया जा रहा है। उद्देश्य चाहे योग्य हो अथवा घृणित, तरीक़ा खतरनाक है; कारण कि वह तर्क और वैयक्तिक उत्तरदायित्व को जड़ से काटता है और व्यक्ति की आन्तरिक पुण्य-प्रतिष्ठा पर जोकि समस्त मानव-स्वभाव का अन्तिम गढ़ है, प्रहार करता है।

किन्तु गांधीजी की अनशन की कला एक बहुत महत्वपूर्ण रूप में पश्चिमी प्रचार से भिन्न है। इस कला का दर्शन करनेवाला (यदि मैं इस शब्द का प्रयोग कर सकूँ तो) अपने कष्ट-सहन के विचार और दृश्य से समाज के अन्तःकरण को जाग्रत करने की कोशिश करता है। इस युक्ति का आधार कष्ट-सहन का सिद्धान्त है। निःस्वार्थ कष्ट-सहन दूसरों की भावनाओं को शुद्ध बनाता है। उसका वैसा ही शुद्ध करनेवाला ऊँचा उठानेवाला असर पड़ता है जैसाकि अरस्तूनी परिभाषा के अनुसार अति गम्भीर घटना का पड़ता है।

यहाँ हम केवल यूनानी गम्भीर या दुःखान्त घटना की भावना को ही नहीं, बल्कि अत्यन्त गहरे धार्मिक स्रोत को भी छूते हैं। विशेषकर ईसाई-धर्म में तो कष्ट-सहन का ही उद्देश्य सर्वोपरि या मुख्य है। क्रॉस समस्त मानव इतिहास में एक अत्यन्त महत्व पूर्ण गम्भीर घटना का प्रतीक है। इशियाह का तपस्वी सेवक और क्रास पर बलिदान होनेवाला शहीद अपने बन्धुओं के प्रति जब अपनी आत्मा को उत्सर्ग करता है तो भावनायें इस क़दर जाग्रत हो जाती हैं कि उनकी तीव्रगति सारी दलीलों अथवा बुद्धिसंगत युक्तियों को पीछे छोड़ जाती हैं। कष्ट-सहन की दलील संसार में सबसे अधिक प्रभावशाली है और रहेगी। प्रारम्भिक रोमन साम्राज्य में धर्मों के व्यूह में ईसाई धर्म कष्ट-

सहन और बलिदान द्वारा ही विजयी हुआ था, न कि उसके समर्थकों की दलीलों से। और न ही उस उन्नत युग के आधुनिक दर्शनशास्त्रों ने उसकी प्रगति को रोका। इसी प्रकार आज यूरोप में निर्दय और नग्न अमानुषता अपने से भिन्न जाति, धर्म या विश्वास रखनेवालों पर बड़े पैमाने पर जो सितम बरसा रही है, हो सकता है कि वह उन महान् प्रणालियों का ही विध्वंस करदे, जिनका कि हमने इतने गर्व के साथ पोषण किया है।

इसी कष्ट-सहन के शक्तिशाली सिद्धान्त पर गांधीजी नें सुधार की अपनी नवीन युक्ति का आधार रक्खा है। जो उद्देश्य उनके हृदय को प्रिय है उसके प्रति दूसरों की सहानुभूति और समर्थन प्राप्त करने लिए वह स्वयं कष्ट-सहन करते हैं। जहाँ दलील और अपील के सामान्य राजनैतिक अस्त्र विफल होजाते हैं, वहाँ वह इस नई युक्ति का आश्रय लेते हैं, जोकि भारत और पूर्व की परम्परा पर आधारित है। जैसाकि मैं कह चुका हूँ इस पद्धति पर राजनैतिक विचारकों को ध्यान देना चाहिए। राजनैतिक उपायों में गांधीजी की यह विशिष्ट देन है।

एक विचार और कहकर मैं इसे पूरा कर दूँगा। बहुत-से लोग और कुछ वे भी जो सच्चे दिल से उनके प्रशंसक हैं, उनके कुछ विचारों से और उनकी कुछ कार्य-पद्धतियों से असहमत होंगे। उनके काम करने का ढंग उनका अपना मौलिक है और महापुरुषों की भांति सामान्य मापदण्ड से मेल नहीं रखता। किन्तु हम उनसे चाहे कितनी बार असहमत हों, हमको सदा उनकी सच्चाई, उनकी निःस्वार्थता और सर्वोपरि उनकी मूलभूत और सार्वभौम मानवता का भान रहता ही है। वह हमेशा महा-मानव की भांति का कार्य करते हैं। सभी वर्गों और क़ौमों के लिए और विशेषकर कुचले हुओं के लिए उनके हृदय में गहरी सहानुभूति रहती है, उनके दृष्टिकोण में वर्गीयता तनिक भी नहीं है, बल्कि वह उस सार्वभौम और शाश्वत मानवी भाव से अलंकृत हैं जोकि आत्मा की महानता का परीक्षा चिन्ह है।

यह एक विचित्र बात है कि यूरोपीय अशान्ति और ह्रास के दिनों में एशिया किस प्रकार धीरे-धीरे आगे आ रहा है। वर्तमान विश्व के सार्वजनिक रंगमंच पर विद्यमान सबसे बड़े महापुरुषों में दो एशियावादी हैं—गांधी और चांगकाई शेक। दोनों ही विराट जनसमूह को उच्च मार्ग पर ऐसे लक्ष्य की ओर लेजा रहे हैं जो मूलतः उच्च ईसाई आदर्श से मिलता है और जिसे पश्चिम ने प्राप्त तो किया है; किन्तु जिसपर अब वह हार्दिकतापूर्वक आचरण नहीं कर रहा है।

: ५० :

## कवि का निर्णय

### रवीन्द्रनाथ ठाकुर

[ शान्तिनिकेतन, बोलपुर, बंगाल ]

समय-समय पर राजनीति के क्षेत्र में ऐसे इतिहास-निर्माता जन्म लेते हैं जिनकी मानसिक ऊँचाई मानवता की सामान्य सतह से ऊपर होती है। उनके हाथ में एक अस्त्र होता है, जिसकी वशीकरण और प्रभावात्मक शक्ति लगभग शारीरिक होती है और होती है प्राय: निर्मम । वह मानव-स्वभाव की दुर्बलताओं—लोभ, भय और अहंकार से लाभ उठाता है। जब महात्मा गांधी ने पदार्पण किया और भारत की स्वतन्त्रता का पथ उन्मुक्त किया तब उनके हाथ में सत्ता का कोई प्रकट साधन न था, दबाव डालनेवाली जबर्दस्त सत्ता न थी। उनके व्यक्तित्व से जो प्रभाव उत्पन्न हुआ, वह संगीत और सौन्दर्य की भांति अवर्णनीय है। उसने दूसरों पर इसलिए सबसे ज्यादा प्रभाव डाला कि उसने स्वत: आत्म-समर्पण की भावना को प्रकट किया। यही कारण है कि हमारे देशवासियों ने विरोधी तत्त्वों को ठिकाने रखने में गांधीजी की स्वाभाविक चतुराई की ओर क्वचित् ही ध्यान दिया है। उन्होंने तो उस सत्य पर आग्रह रक्खा है जो उनके चरित्र में सहज स्पष्टता के साथ चमकता है। यही कारण है कि यद्यपि उनकी प्रवृत्तियों का क्षेत्र व्यावहारिक राजनीति है पर लोगों ने उनके जीवन की तुलना उन महापुरुषों से की है जिनकी आध्यात्मिक प्रेरणा मानवता के समस्त विविधरूपों का अपने में समन्वय करती हुई उनसे भी परे पहुँच जाती है और सांसारिकता को उस प्रकाश की ओर उन्मुखकर देती है, जिसका उद्गम ज्ञान के शाश्वत स्रोत में है।

: ५१ :

## गांधी : चरित्र अध्ययन

### एडवर्ड टॉमसन

[ ऑक्सफोर्ड ]

प्रारम्भ में ही मैं अपनी एक कठिनाई प्रकट कर दूं। मैं गांधीजी से अच्छी तरह परिचित नहीं हूँ और उनके हाल के कार्यकलाप और भारत से आनेवाले समाचारों ने

मेरें हृदय में बेचैनी उत्पन्न करदी है। सौभाग्यवश उनके अबतक के कार्यों ने ही बहुत कुछ इतिहास का निर्माण कर दिया है और अपनी 'आत्मकथा' में उन्होंने स्वयं ही अद्‌भुत स्पष्टवादिता के साथ अपने चरित्र और उद्देश्य की गवेषणा करने का मसाला प्रस्तुत कर दिया है।

वह गुजराती हैं, अर्थात् ऐसी जाति में उत्पन्न हुए हैं जो युद्धप्रिय नहीं रही है और जो, विशेषतया मराठों द्वारा बहुधा, पददलित की गई और लूटी गई है। पश्चिम में उनकी जाति का बहुत ही कम ज़िक्र किया जाता है क्योंकि पश्चिमवाले इसके महत्त्व को समझते ही नहीं, परन्तु भारत में इन बातों को बहुत कम भुलाया जाता है। उन्होंने अपने आपको इस व्यंग का शिकार बना लिया है ( यह उनके नैतिक साहस का एक अंग है कि वह इस बात को जानते हैं, लेकिन जानते हुए भी उससे विचलित नहीं होते) कि वह अहिंसा को जो इतना महत्त्व देते हैं वह उनके एक शान्तिप्रिय जाति में जन्म लेने का लक्षण है। मेरा विचार है कि मराठे कभी इस बात को नहीं भूलते कि वे मराठे हैं और गांधी गुजराती है; गाँधी के प्रति इन लोगों की भावनायें उतरती-चढ़ती और डावांडोल-सी रहती आई हैं। राजपूतों के बारे में भी यही बात कही जा सकती है, क्योंकि वह भी एक युद्धप्रिय जाति है। मध्यभारत के एक राजा ने मुझसे कहा था—"एक राजपूत की हैसियत से मैं अहिंसा के सिद्धान्त को तो विचार में ही नहीं ला सकता। मारना और युद्धप्रिय होना तो राजपूत का 'धर्म' है !" इतने पर भी अहिंसा गांधी के उपदेशों का तत्त्व है और हालांकि उन्हें इसे कितने ही नये अनुयाइयों पर उनकी अनिच्छा रहते हुए भी लादना पड़ा है, परन्तु यही उनकी अनूठी विजयों का साधन हुआ है। मैं आगे चलकर फिर इसका वर्णन करूँगा और बतलाऊँगा कि यह बात सही है।

कोई भी व्यक्ति अपनें वंश और संस्कारों के प्रभावों से पूर्णरूपेण नहीं बच सकता और कभी-कभी यह बात उस मनुष्य के प्रतिकूल भी पड़ती है कि उसका जन्म ऐसे राष्ट्र में हुआ हो जिसमें राजनैतिकता और सैनिकता की भावना न हो, और फिर उस राष्ट्र की भी एक छोटी और महत्वहीन रियासत में। यह आदर्श भारतवर्ष में सदा से चला आया है कि जब प्रजा पर अत्याचार हो तब राजा स्वयं उसकी शिकायतों को सुने। लेकिन जबतक कि संसार की सरकारों में और उनकी सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक प्रणालियों में आमूल परिवर्त्तन न हों तबतक यह आदर्श व्यावहारिक रूप में एक लुप्त युग की वस्तु है। यह तो पैरिक्लीज के एथेन्स में सम्भव होसकता था, जहाँ हरेक प्रमुख व्यक्ति को लोग शक्ल से पहचानते थे और स्वतन्त्र जनसमुदाय बहुत कम था या गांधी के बचपन के पोरवन्दर ( गुजरात की छोटी रियासत ) में। गांधीजी की राजनीति उन प्रश्नों का हल करने के लिए अपर्याप्त है, जो घरेलू या देहाती अर्थनीति से परे के है—जैसे एकसत्तात्मक शक्तियों से भरे संसार में भारत की

रक्षा का प्रश्न। वह तो सिर्फ़ छोटी और आदिम इकाइयों का ही विचार करते हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि आधुनिक संसार की जटिलता को नहीं देखते ( देखते हैं तो कुछ ऐसा मानकर कि उस सबसे बचते और डरते रहना चाहिए—काश कि यह सम्भव होता ! ) वह सदा व्यक्ति का ही चिन्तन करते हैं। और यद्यपि, यदि आप चरमसीमा पर ही पहुँचना चाहें, यह उस प्रतिकूल प्रवृत्ति से कहीं अच्छा है जो मनुष्यों को एक समुदाय के रूप में या ऐसे पेड़ों के रूप में जिनसे कर ( टैक्स ) झाड़े जा सकते हों, या तोपों के भोजन के रूप में, या 'जनशक्ति के भंडार' के रूप में ( जिसमें से कुछ हज़ार या कुछ लाख "आर्थिक कारणों" के लिए गोली से उड़ा दिये जावें या मार डाले जावें ) देखती है, तो भी, अगर भारत की भलाई करना हो तो, इस खंड-खंड पृथक् प्रक्रिया के स्थान पर बड़े पैमानेवाली योजनाओं और कार्यों को अपनाना होगा।

परमात्मा की भारत पर बड़ी कृपा है कि उसनें गांधी के बाद नेहरू को भी जन्म दिया। इस युवक से यह आशा की जा सकती है कि वह अपने पूर्वगामी के कार्य में जो कुछ महान और प्रभावशाली है, उसे क़ायम भी रक्खे और साथ-ही-साथ उस कार्य को उस दुनिया में भी ले जानें का साहस करे जिस पर उस वयोवृद्ध का विश्वास नहीं है।

कुछ-तो इसी संकुचित दृष्टिकोण के कारण गोलमेज़ परिषद में गांधीजी थोड़ असफल जान पड़े और अपने विरोधियों की सतह तक कभी न पहुँच सके, जो मनुष्यों को दलों और समुदायों के रूप में देखते थे। आज की इस दुनिया में भी उन्हें कठिनाई पेश आरही है जहाँ कि एक के बाद एक गुट्ट बनाकर राष्ट्र दूसरे देशों पर टूट पड़ने के लिए तुल बैठे हैं। उनका अहिंसा का अस्त्र जो उनके हाथ में इतना तीक्ष्ण और बलशाली था, कुंद हो चुका है। मेरे घर में एक बातचीत के दौरान में यह उपमा दी गई थी कि वह एक कैंची की तरह है जिसमें दो फल आवश्यक हैं, एक विरोधी का तो एक उनका। भारत में यह इस कारण सफल हुआ कि वह ऐसी सरकार के विरुद्ध प्रयुक्त हुआ जिसने—चाहे अपूर्णरूप से ही सही—इस बात को स्वीकार कर लिया कि विद्रोह और दमन के खेल में भी कुछ नियम होते हैं। उनके ( गांधीजी के ) शत्रु के हृदय में मनुष्यता और उदारता का कुछ अंश था। इसलिए जब राष्ट्रीय सेवकों की क़तार-की-क़तारें पुलिस की लाठियों की मार खानें को निर्भयतापूर्वक खड़ी हो गई तो सरकार अन्त में निरुपाय हो गई और अंग्रेज़ दर्शक तो लज्जा के मारे दब गये तथा अमेरिका के संवाददाता अपनी घृणा और क्रोध के तार अपने देश को देने के लिए दौड़े। यह ऐसी परिस्थिति थी कि यदि आपमें अन्त तक सहनशीलता की शक्ति हो तो अवश्य अन्त में आप बचे भी रह सकते थे और आपका काम भी सिद्ध हो जा सकता था !

वह सब परिस्थिति निकल गई और यह विश्वास करना कठिन है कि वास्तव में हमने ऐसा होते देखा था। गांधीजी नें कहा है कि अगर अबीसीनिया-निवासी शुद्ध

अहिंसा का पालन करते तो उनकी विजय होती और (जब एकाधिकार युग के पूर्व जब उन दानव-स्वभाव व्यक्तियों का किसीको स्वप्न में भी विचार न था जो आज हमारी आँखों के सामने घूम रहे हैं) उनको कैंचीवाली उपमा बतलाई गई तो उन्होंने उसे न माना। परन्तु निस्सन्देह पुराने धनुषों की तरह उनका अहिंसा का अस्त्र भी आज एक इतिहास की वस्तु बन गया है। यदि उनका मुक़ाबिला किसी फासिस्ट या नात्सी शक्ति से पड़ा होता, या हिन्दुस्तान पर ऐसी सेनाओं ने आक्रमण किया होता, जो वायुयानों के द्वारा निर्दयतापूर्वक नगर-के-नगर विध्वंस कर देती हैं और युद्ध के बंदियों को गोली से उड़वा देती हैं, तो क्या हमको इसकी ( अहिंसा की ) मर्यादाओं का पता नहीं लग जाता ? क्या यह आश्चर्य की बात है कि राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) में भी इसके सम्बन्ध में तीव्र मतभेद है तथा नवयुवकगण इसे प्राचीन काल के रेंकलों और तलवारों की भांति अजायबघर की वस्तु समझते हैं ?

परन्तु इस सबका अर्थ तो इतना ही है कि गांधीजी एक लगातार दृढ़ शान्तिवादी हैं, जो कि मैं नहीं हूँ। मैं जानता हूँ कि आज से सौ वर्ष बाद भी लोग इनके व्यक्तित्व पर चकराते रहेंगे, हालांकि पुस्तक प्रकाशक "मो० क० गांधी की पहेली", "गांधीजी का रहस्य" "साम्राज्य से युद्ध करनेवाला मनुष्य", इत्यादि, पुस्तकों को पढ़ने की सिफ़ारिश करते रहेंगे और समालोचकगण घोषणा करते रहेंगे कि आखिर अमुक चरित्र लेखक ने इनके जीवन का "रहस्योद्घाटन" कर दिया है।

दस वर्ष पूर्व, जबकि वह अपनी ख्याति के उच्च शिखर पर थे, तब उनके दर्शनीय व्यक्तित्व के लिहाज से लोगों का ध्यान उनकी ओर बहुत अधिक आकर्षित हुआ था। इससे उनके कार्यों पर से तो लोगों की दृष्टि हट गई, परन्तु उनकी प्रीतिभाजनता और उनका सहज स्वभाव सामने आनें में बहुत सहायता मिली। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन सब बातों में उन्होंने खूब मज़ा उठाया, परन्तु वह कभी भी स्वयं अपनी गाथाओं से प्रभावित नहीं हुए। एक बार जॉन विल्क्स ने तृतीय जार्ज से कहा था, "मैं स्वयं कभी भी विल्क्साइट (विल्क्स का अनुयायी) नहीं रहा।" गांधी भी कभी गांधी-आइट (गांधी के अनुयायी) नहीं हुए। वह तो अपने भोले अनुयायियों के प्रति एक शान्त और कुछ उपेक्षापूर्ण रुख बनाये रहते हैं, और वह जानते हैं कि उनके बहुत से भक्तों ने उनके उद्देश्य को सहायता नहीं पहुँचाई है। चुलबुलापन उनमें एक आकृष्ट करनेवाला गुण है, और विनोद-प्रियता की भावना के कारण वह सदा प्रसन्न रहते हैं। यदि आप स्वाभिमान बनाये रक्खें तो वह आपसे अच्छी तरह बातें करते रहेंगे और अगर आप मज़ाक करते रहें तो बुरा भी नहीं मानते। वह कभी बड़प्पन नहीं जताते (हालांकि उनमें बड़प्पन बहुत है)। वह आपका मज़ाक उड़ावेंगे और यदि आप बदले में उनका भी मज़ाक उड़ावें, तो उसमें वह रस लेंगे।

काल्पनिक और साहित्यिक व्यक्तियों को वह ज़रा शुष्क और सन्देह की दृष्टि से

देखते हैं। कोई सम्मति अगर उनको नापसन्द हो तो वह मुस्कराते हुए इन शब्दों के साथ उसे निपटा देंगे, "अच्छा, लेकिन आप जानते हैं आप कवि है !" उनके कहने के ढंग से यह स्पष्ट झलकता है कि वह कहना तो यह चाहते हैं, "अच्छा आप जानते हैं, आप खब्ती हैं।" परन्तु शिष्टाचार उनको स्पष्ट कहने से रोकता है। उनके और रवीन्द्रनाथ ठाकुर के बीच जो सम्बन्ध है उसे देखने में बड़ा आनन्द आता है। इन दोनों व्यक्तियों की पारस्परिक श्रद्धा गम्भीर और अविचल है, यद्यपि ये दोनों एक-दूसरे से बिलकुल भिन्न प्रकृति के हैं। भारत इसको वर्षों से देखता आरहा है और यह दृश्य इस देश की सम्पन्न सार्वजनिक शिक्षा का बड़ा भारी अंग है ! इसने इस गौरव की भावना को प्रोत्साहित किया है कि भारत में दो इतने महान् व्यक्ति हैं, यद्यपि ये दोनों एक-दूसरे से इतने भिन्न हैं और दोनों इस बात को इतनी अच्छी तरह जानते हैं कि राष्ट्र-निर्माण का जो कार्य दोनों को हृदय से प्रिय है उसके लिए हरएक कितना आवश्यक है !

"वह खिझा भी सकते हैं !" हममें से जिसका भी कभी उनसे साबका पड़ा है उसने कभी-न-कभी यह बात कही है, और कही भी है तो बड़े प्रेम के साथ ! वह तार भेजेंगे जिससे हज़ारों मील दूर किसी मित्र या साथी को कदाचित् किसी महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए आना पड़े, और चर्चा करते-करते वह एकदम सिलसिला तोड़कर जो कुछ समय बचा हो उसीमें बातचीत समाप्त कर देंगे, क्योंकि उनके रोगियों को दस्त के लिए पिचकारी देने का ठीक समय आ पहुँचा है। जो बात मैं कहना चाहता हूँ उसका यह एक मामूली उदाहरण है; क्योंकि उद्देश्य हमेशा यही होना चाहिए कि बात को बढ़ाकर नहीं, बल्कि घटाकर कहा जावे। उस वाद-विवाद के समय जिसका ज़िक्र मैं पहले कर चुका हूँ, मैंने एक बार उनको देखा जब कि बैलियोन के मास्टर, गिल्बर्ट मरे, सर माइकेल सैलडर, सी. पी. लियन, इत्यादि के दल ने, लगातार तीन घण्टे तक उनसे प्रश्नोत्तर और जिरह की। यह एक अच्छी-खासी थका देनेवाली परीक्षा थी, परन्तु एक क्षण के लिए भी वह न तो झल्लाये और न निरुत्तर हुए। मेरे हृदय में यह दृढ़ विश्वास उत्पन्न हुआ कि सुकरात के समय से आजतक आत्म-संयम और शान्त-चित्तता में संसार में उसके बराबर दूसरा व्यक्ति देखने में नहीं आया। और एक-दो बार जब मैंनें अपनें-आपको उन लोगों की स्थिति में रखकर देखा जिनको इस अजित गम्भीरता और धीरता का सामना करना पड़ रहा था, तो मैंने विचार किया कि मैं समझ गया कि एथेन्स निवासियों नें उस "मिथ्या हेतुवादी शहीद" को ज़हर क्यों पिलाया था। सुकरात की तरह इनके पास भी कोई 'प्रेत' है। और जब अन्दर का प्रेत बोल चुकता है तो वह न तो तर्क से विचलित होते हैं और न भय से। लिंडसे ने जिस हताशवाणी से प्रैसबिटीरियन पादरियों के सम्मुख की गई क्रॉमवैल की इस अपील को दुहराया था, "ईसा मसीह की दुहाई देकर मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप इस बात को समझें कि सम्भव है कि आप ग़लती पर हों।" ये शब्द अब तक मेरे

कानों में गूँज रहे हैं। लिंडसे ने आगे चलकर कहा था, "गांधीजी, इसे सम्भव मानिये कि आप ग़लती कर रहे हों !" परन्तु गांधीजी ने इसे सम्भव नहीं माना; क्योंकि सुकरात की तरह उनके पास भी एक 'प्रेत' है और जब वह 'प्रेत' बोल चुकता है, तो भले ही मृत्यु महात्माजी के चेहरे में अपने पंजे घुसेड दे या सारा-का-सारा विश्वविद्यालय अपना तर्क सामने लाकर रखदे, तो भी गाँधी विचलित नहीं हो सकता।

अंग्रेज़ी मुहाविरे पर उनका अद्वितीय अधिकार कुछ-कुछ इस कारण है कि उनको अपने मस्तिष्क पर पूरा क़ाबू है। विदेशियों के लिए हमारी भाषा में सबसे कठिन वस्तु सम्बन्धबोधक अव्ययों का प्रयोग है। मुझे आजतक ऐसा कोई भारतवासी नहीं मिला जिसने गांधी के बराबर इनपर पूरा-पूरा अधिकार कर लिया हो। यह बात मुझे गोलमेज़ परिषद् के समय मालूम हुई जब उन्होंने दो-तीन बार मुझसे अपने किसी वक्तव्य का मसविदा तैयार करने लिए कहा। यदि आप पेशेवर लेखक हैं तो आप सम्बन्धबोधक अव्ययों के विषय में सावधान रहने का प्रयत्न करें। और मैं स्वीकार करता हूँ कि इन मसाविदों के बनाने में मैंने बहुत परिश्रम किया। गाँधीजी मेरे कार्य को देखते जाते थे और कभी-कभी इन अव्ययों का केवल एक सूक्ष्म परिवर्तन कर देते थे—(यदि आपका अंग्रेज़ी का ज्ञान खूब गहरा न हो तो) आप शायद यह विचार करें कि वह परिवर्तन बहुत साधारण था परन्तु वह अपना काम कर दिखाता था। कदाचित् उससे कहीं कोई गुँजाइश निकल आती थी, ( क्योंकि राजनीतिज्ञों को शायद गुंजाइश रखना पसन्द होता है ) । कुछ भी हो, उस परिवर्तन से मेरा अर्थ बदलकर गांधीजी का अर्थ बन जाता था। और जब हमारी निगाहें मिलती थीं तथा हम एक-दूसरे को देखकर मुस्कराते थे तो यह ज़ाहिर होता था कि हम दोनों इस बात को जान गये हैं।

हाँ, वह वकील हैं, और वकील लोग खूब खिझा सकते हैं। जैसाकि—जब उसमें इंग्लैण्ड के वकीलों ने इंग्लैण्ड का प्रतिनिधित्व किया, राष्ट्र-संघ को, (लीग-ऑव-नेशन्स) पता लगा ! जब किसी देश में क्रांति होती है और वहाँका अधिकार अन्त में जनता के हाथ में आता है, तो सबसे पहला सुधार सदा यह होता कि वकीलों को यमघाट पहुँचा दिया जाता ह। बहुधा यह ही ऐसा एक सुधार है जिसके लिए अगामी सन्तति को कभी पछताना नहीं पड़ता।

और भारत में ब्रिटिश सरकार करती क्या जब उसका पाला एक ऐसे वकील के साथ पड़ा, जिसने उससे लड़ते-लड़ते धीरे-धीरे अंग्रेज़ी शब्दों के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अर्थों का ज्ञान प्राप्त कर लिया था, जिसे न केवल अपने लिए कोई भय या चिन्ता थी, बल्कि जो वाद-विवाद की धारा के बिलकुल अकल्पित स्वरूप धारण कर लेने पर भी पराजित किया जा सकता था ? और इससे भी बुरी बात यह थी कि इस व्यक्ति की हास्यरस की भावना इस प्रकार की थी कि वह स्वयं ही आपके सामने इच्छापूर्वक अपनी क्षुद्रता

स्वीकार कर लेता था और आपको यह मौक़ा नहीं देता था कि आप उसीके अस्त्र से उसपर वार कर सकें ! और सबसे बुरी बात यह थी कि वह तो एक दूसरा एन्टीयस ही था जिसकी शक्ति पृथ्वी माता को छूते ही अजेय हो जाती थी। गांधी को सदा सहारा प्राप्त था पूर्व के अमित धैर्य और वैराग्य और प्रतिरोध के परीक्षित उपायों का।

वास्तव में उन दिनों भारत का निस्तार अहिंसा अर्थात् "अहिंसात्मक अप्रतिरोध" के कठोर पालन में ही था, और जब गांधी ने दूसरों से पहले इसे अनुभव किया तो यह आन्तरिक प्रेरणा का ही प्रकाश था। "इस लक्षण से तेरी जीत होगी।" बेशक ! जब आपको ऐसा प्रतिद्वन्द्वी मिल गया जो इस तरह के आक्रमण के लिए तैयार न था, जो इससे भौंचक हो गया हो, जो अस्पष्ट रूप से यह महसूस करे कि वह ऐसे शत्रु पर आघात नहीं कर सकता जो बदले में आघात करने से इन्कार करे, तो वास्तव में आपने एक अस्त्र पा लिया और दुर्बल और निरस्त्र भारत के पास दूसरा कोई अस्त्र था भी नहीं। अगर आपके पास केवल तीर-कमान हैं तो इनको लेकर मशीन-गनों का मुकाबिला करना मूर्खता है। आप केवल शत्रु को "आत्म-रक्षा के निमित्त" मशीन-गनें प्रयोग करने का मौक़ा दे सकते हैं, जब कि वह उनको दूसरे निमित्त से प्रयोग करने में लज्जा अनुभव करे। आज 'अहिंसा' चाहे जितनी अक्रिय हो गई हो, अपने समय में इसने अपना काम कर दिखाया।

और लाचारी तथा निराशा के कारण उत्पन्न हुई इस आन्तरिक प्रेरणा के साथ एक दूसरी प्रेरणा और आई। भारत की आत्मा ने चुपके से कहा, "धरना दो!" मेरे विचार से शायद सबसे पहले रशब्रुक विलियम्स ने यह पता लगाया था कि गांधीजी की इस राजनैतिक चाल का सम्बन्ध 'धरना देने' की पुरानी प्रथा से है। यह प्रथा, जो जॉन कम्पनी के समय में एक आफ़त हो गई थी, ऐसी थी कि कर्ज़ देनेवाला किसी नादिहन्द कर्ज़दार के द्वार पर, सताया हुआ व्यक्ति किसी अत्याचारी या शत्रु के द्वार पर, अनशन करके बैठ जाता था, जबतक मृत्यु या इच्छापूर्ति उसे छुटकारा न दिला देवे। यदि मृत्यु हो जाती तो सदा के लिए उसका भूत एक निर्दयी छाया की तरह बैठा रहता, जो अब अपील और पश्चात्ताप दोनों के दायरे से बाहर थी। यह थी गांधीजी की क्रिया, जो ठेठ देसी और शानदार क्रिया थी। वह लगभग चालीस वर्षों से, रह-रहकर, ब्रिटिश साम्राज्य की देहली पर धरना देते आये हैं। दो-एक बार तो उनका भूत हमारे सिर पर आता-आता रह गया है। 'अहिंसात्मक असहयोग।' जब आयर्लैण्ड के नवयुवक झाड़ियों के पीछे से बम और रिवाल्वर चलाते थे और रेलगाड़ियां उलट देते थे, तब भारत के नवयुवक बड़े चाव से इन बातों को देखते थे। परन्तु इससे भी अधिक दुख भरी दिलचस्पी के साथ सारे भारत ने तब देखा जब कार्क के लार्डमेयर मैक्स्विनी ने भूख-हड़ताल करके जान देदी। १९२९ में राजनैतिक हत्या के अभियुक्त एक भारतीय विद्यार्थी ने भी ऐसा ही किया था और पंजाब से उसके घर कलकत्ता तक उसका शव

जिस समारोह के साथ ले जाया गया वह भुलाया नहीं जायगा। विदेशी सरकार के साथ, भारतीय हथियारों से, आमरण युद्ध किया जा रहा था। ये हथियार पश्चिम में भी पहुँच चुके थे और वहाँ सफल भी हुए थे। पहले नॉन कन्फार्मिस्ट—निष्क्रिय प्रति-रोधी फिर स्त्री मताधिकार के पक्षपाती (जो भूख-हड़ताल की सोचकर एक कदम और भी आगे बढ़ गये थे परन्तु शायद वे पूर्णतया "अहिंसात्मक" नहीं थे ) और इनके बाद आयलण्ड के रूप में देखने में आये। यह थी आमरण "अहिंसा !"

गांधीजी के विषय में एक महान् भारतीय ने एकबार मुझसे कहा था, "वह नीति-वान् हैं परन्तु आध्यात्मिक नहीं हैं।" दूसरे भारतीय ने कहा—"वह पकड़ में नहीं आते, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह सबसे ऊँचे दर्जे के सत्य का पालन कर सकते हैं।" और मेरे देश में यह हुआ। गोलमेज़ परिषद् के दिनों जो कुछ लोग उनसे मिले, उन्हें निराशा हुई। उन्होंनें आश्चर्य के साथ कहा—"यह तो सन्त नहीं है !" मैं भी उनको सन्त नहीं समझता और स्पष्ट बात तो यह है कि मुझे इसकी चिन्ता भी नहीं कि वह सन्त हैं या नहीं। मैं समझता हूँ कि वह इससे भी कठोर कोई वस्तु हैं, और ऐसी वस्तु हैं जिसकी सन्तों से अधिक इस निराशा के युग को, जिसमें हम रह चुके हैं, आवश्यकता है। "वह सबसे ऊँचे दर्जे के सत्य का पालन करने में समर्थ हैं।" वह वास्तव में समर्थ है, वह उदात्त चरित्रता की असाधारण ऊँचाई तक उठ सकते हैं। दक्षिण अफ्रीका का वह असहनीय अन्याय के विरुद्ध किया हुआ सारा हिन्दुस्तानियों का संघर्ष, जिसके वह केन्द्र (और सब कुछ थे) एक ऐसी महान् घटना है कि मैं उसकी क्या प्रशंसा करूँ ? और केवल उनका साहस ही अपार न था, बल्कि उनकी उदारता भी अपार थी। भारतवासियों की विशाल हृदयता मुझे जीवन के प्रत्येक पल में आश्चर्य से भर देती है। उन्होंने व्यक्तिगत और जातिगत दोनों पहलुओं से यह बतला दिया है कि वह क्रोध से ऊपर उठ सकते हैं, जैसाकि मैं, एक अँग्रेज़, महसूस करता हूँ कि यदि उनकी जगह पर मैं होता तो कभी न कर सकता। गांधीजी चाहते तो वह हरेक गोरे को जीवन-भर घृणा की दृष्टि से देखते, परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। वास्तव में, जैसा-कि बहुत दिन हुए एडमण्ड कैन्डलर ने देखा था, वह अँग्रेज़ों से काफ़ी प्रेम करते हैं। इसके बाद नेटाल में जूलुओं का कथित विद्रोह हुआ, जिसका प्रारम्भ बारह जूलुओं की फांसी से हुआ और जिसमें गोलियों से उड़ा देने का और चाबुकों की मार का हृदय-विदारक दौर-दौरा रहा। गांधीजी ने यह दिखलाने के लिए कि वह ब्रिटिश-विरोधी न थे और घोर संकट के समय वह तथा उनके साथी अपने हिस्से का कर्तव्य पूरा करने के लिए प्रस्तुत थे, आहतों के उपचार के लिए अपनी सेवायें अर्पित कर दीं। सुसंस्कृत मूर्खता (मैं इसको इसी नाम से पुकारूँगा) के फलस्वरूप उनको उन जूलुओं के उपचार का कार्य सौंपा गया जिनके शरीर फ़ौजी कानून के मातहत दी गई कोड़ों की मार से क्षत-विक्षत हो गये थे। यह अच्छी शिक्षा थी, यदि इसका अर्थ यह हो कि भारतवासी

पहले से ही इस बात पर कड़े हो जावें कि जब सरकारें डर जाती हैं तो वे क्या कर सकती हैं ! वह वास्तव में इस विषय में कड़े हो गये, परन्तु और बातों में नहीं। गाँधीजी ने अपना यह विश्वास क़ायम रक्खा कि यदि अंग्रेज़ को समझाया जावे और उसकी निष्पक्ष भावना को जागृत किया जावे तो उसका हृदय पसीज सकता है। अप्रैल १९१९ में जनरल डायर ने अमृतसर में जलियांवाला के उस नीचे बाग़ के मौत के पिंजरे में, दो हज़ार आदमियों को गोली से उड़ा दिया। और घायलों को रातभर वहीं तड़पने और कराहने के लिए छोड़ दिया। इसके बाद ब्रिटिश पार्लमेन्ट के दोनों हाउसों में निन्दनीय वाद-विवाद ज़ोर-शोर से आया और एक नीचतापूर्ण आन्दोलन हुआ जिसने "डायर टेस्टीमोनियल फण्ड" के लिए २६,००० पौंड का चन्दा खड़ाकर दिया। कांग्रेस ने पंजाब के इन कांडों पर अपनी रिपोर्ट तैयार करने के लिए गांधी और जयकर को नियुक्त किया। इनपर सिलसिलेवार और ब्यौरेवार साक्ष्य (जिस पर उस दुःख और ज़िल्लत के समय में सहज ही विश्वास कर लिया गया) यह प्रमाणित करने के लिए लादी गई कि जनरल डायर ने जान-बूझकर भीड़ को उस नीचे बाग़ में 'छल-से जमा' (lured) किया था कि उनकी हत्या करे। इस साक्ष्य के पीछे अनियंत्रित क्रोध और पीड़ा की उकसाहट थी। गांधीजी ने इसका तिरस्कार किया। उन्होंने अपने ही जाति-भाइयों के दबाव की अवहेलना की। उन्होंने कहा—"मैं इस पर विश्वास नहीं करता, और यह बात रिपोर्ट म नहीं लिखी जायगी।"[१] उनके आत्म-निग्रह की इससे बड़ी विजय दूसरीनहीं हुई और ऐसी परिस्थिति में आत्म-निग्रह बड़ी-ऊँची नैतिक विजय होती है। यदि आपको गत महायुद्ध का अनुभव हो तो आप जानते हैं कि क्रोध और देशभक्ति से विचलित हो जाना और फिर भी न्याय का पक्ष लेना कितना कठिन है। गांधीजी ने इसमें सफलता प्राप्त की, और ऐसी अपमान जनक परिस्थिति में प्राप्त की जिसका किसी अँग्रेज़ को आजतक अनुभव नहीं हुआ है, अर्थात् एक पददलित राष्ट्र में उत्पन्न होना। यह है "सबसे ऊँचे दर्जे का सत्य"—यह 'करनी' का सत्य था, 'कथनी' का नहीं।

मेरा अन्तिम उदाहरण है, १९२२ में उनका मुकदमा। यह घटना उनके और उनके विरोधियों दोनों के लिए गौरवपूर्ण थी—जिस उच्च श्रेणी की मानवी "संस्कृति" का इसमें दिग्दर्शन हुआ उसके कारण यह असाधारण और कदाचित अपूर्व थी और इसी बात ने इसे दोनों तरफ़ की ईमानदारी और निष्पक्षता का एक दैवी प्रकाश बना दिया था, हालांकि उस समय आग भड़का देने का इतना मसाला था। इस मुकदमे ने भारत में रहनेवाली अँग्रेज़ जाति के (हृदय में तो नहीं कहूँगा, बल्कि) रुख में वास्तविक परिवर्त्तन का अंकुर उत्पन्न कर दिया। गांधीजी उनको चाहे जितना खिजावें, उन्होंने इनका आदर करना पहले ही सीख लिया था, और जब इस मुकदमे के अभिनय

**१. यह बात मुझे एम. आर. जयकर से मालूम हुई।**

में (आगे सज़ा की बात तक गये बिना उससे बढ़ा-चढ़ा नाटकीय विशेषण देना तो शायद ठीक न होगा) उन्होंने देखी इस मनुष्य की विचित्र, व्यंगपूर्ण, पूर्णतया गौरवमय और उच्चकोटि की अलौकिक तथा वीरतापूर्ण आत्मशक्ति। इससे अधिक हमने क्या-क्या देखा सो मैं नहीं कह सकता। मैं जो जॉनबुल का नमूना ही हूँ तो अपनी कह सकता हूँ। मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा कि उन्होंने ब्रिटिश राज्य को, जो ऐसी वस्तु थी जिसको हममें से बहुत से चुनौती देने का साहस करने की इच्छा रखते थे, उतनी चुनौती नहीं दी जितनी कि सम्पूर्ण आधुनिक संसार को चुनौती दी जिसने मनुष्य-जीवन को मशीन-मय बनाकर उसकी गति-बुद्धि को रोक दिया है। उनका हमारे साथ झगड़ा उससे कहीं अधिक गहरी और व्यापक वस्तु थी जितनी हम उसे समझते थे।

१२ जनवरी को अपैन्डिसाइटिस के आपरेशन के कारण उनको जल्दी मुक्त कर दिया गया। जेल के गवर्नर ने उनको छुट्टी दे दी कि वह चाहें तो अपने वैद्य का इलाज करा सकते हैं या अपनी पसन्द का कोई सर्जन बुला सकते हैं। शिष्टाचार में पीछे न रहने की इच्छा से गांधी ने अपने आपको गवर्नर के हाथों में सौंप दिया और कोई विशेष रियायत नहीं मांगी। सर्जन ने एक बिजली की टार्च का प्रयोग किया जो ऑपरेशन के मध्य में ही ख़त्म होगई, नर्स ऑपरेशन के अन्त तक एक हरीकेन लालटेन पकड़े रही। यदि रोगी की मृत्यु होजाती तो हम जानते हैं कि भारत और संसार क्या कहता। मिस मेयो ने इस घटना का बड़ा उपहास से वर्णन किया है, परन्तु गांधीजी ने इसको 'पवित्र' अनुभव बतलाया है जो उनके जेलर के लिए 'और, मुझे विश्वास है, मेरे लिए' प्रशंसा की बात थी। वास्तव में यह प्रशंसा की बात थी और इस संसार में जहाँ इतनी अप्रिय वस्तुयें हुआ करती हैं यह दूसरी ही तरह की वस्तु थी।

मुझे समय नहीं है कि मैं चर्खे के सिद्धान्त के विषय में कुछ कहूँ। मैं अनुभव करनें लगा हूँ कि यह विवेकपूर्ण और न्यायोचित था, यद्यपि इसे कभी-कभी निरर्थक चरम सीमा तक पहुँचा दिया गया। उदाहरणार्थ जब उन्होंने रवीन्द्र बाबू से प्रतिदिन कातने के लिए कहा। उनमें निर्दोष आत्मपीड़न की जो झलक है, उसके विषय में भीं मैं कुछ नहीं कहूँगा। जिसके कारण वह अपने देशवासियों द्वारा अछूतों अथवा दुधारू गायों के प्रति किये गये अत्याचारों के पश्चात्तापस्वरूप जानबूझ कर गन्दे-से-गन्दा भंगी का काम जो उन्हे अपने रोगियों के अस्पतालों में मिला, करते हैं, और (फूका की निर्दय क्रिया के द्वारा गायों से जितना दूध वे दे सकती हैं उससे अधिक निकालने के विरोधस्वरूप) केवल बकरियों का दूध पीते हैं।

वह दूसरे लोगों को बड़ी ख़ूबी के साथ जाँच सकते हैं। उनकी मानवता जिस गहरी-से-गहरी वस्तु से बनी हुई है उसका उदाहरण इतिहास में नहीं है। उनके हृदय में प्रत्येक क़ौम के लिए और सबसे अधिक दीनों तथा दलितों के लिए दया और प्रेम

है। वह सच्चे अर्थों में निष्काम हैं। सारा भारत जानता है कि उनकी दृष्टि में सब पुरुष और स्त्रियाँ समान हैं। स्वयं उनका पुत्र भी उनके लिए एक भंगी के पुत्र से अधिक नहीं है। उनको अपने लिए न कोई भय है न कोई चिन्ता। वह विनोदी, दयामय, हठी और वीर हैं। भारतवर्ष इतना विदीर्ण विभाजित—दरारों से पूर्ण, टुकड़े टुकड़े हुआ, चिप्पियाँ लगाया हुआ—था, जितना इस पृथ्वी पर और कोई राष्ट्र न था। बुद्ध के बाद पहली बार उसे ऐसी हलचल का ज्ञान हुआ जो उसके कोने-कोनें में फैल गई, ऐसे श्वास और स्वर का पता चला जिसका सब जगह अनुभव किया गया और सुना गया, यद्यपि उसके शब्द हरबार समझ में नहीं आये। राष्ट्रीय आन्दोलन में अधिक अच्छे वक्ता तथा अधिक विद्वान् लोग हुए हैं, परन्तु ऐसा व्यक्ति एक ही है जिसनें भारत के नर-नारियों के हृदय में यह बात जमा दी हैं कि उसका तथा उनका रक्त-मांस एक ही है। उन्होंने अछूतों में आशा का संचार किया है, डोम और पासी इस बात का स्वप्न देखने लगे हैं कि वे भी मनुष्यों की श्रेणी में गिने जाते हैं। उन्होंने ऐसी भावनाओं तथा आशाओं को क्रियमाण किया है जो किसी भी राजनैतिक दल-बन्दी से अधिक व्यापक हैं। उन्होंने भविष्य के लिए भारतवासियों के मार्ग की दिशा ही निश्चयात्मक रूप से बदल दी है।

उन्होंने इससे भी कुछ अधिक करके दिखलाया है। मैंने राजनीतिज्ञ के रूप में उनकी आलोचना की है। परन्तु जैसा कि मैंने दूसरी जगह लिखा है, "वह उन गिने-चुने व्यक्तियों में माने जावेंगे जिन्होंने एक युग पर 'आदर्श' की छाप लगा दी है। यह आदर्श 'अहिंसा' है जिसने दूसरे देशों की सहानुभूति को बलपूर्वक आकर्षित कर लिया है।" इसने "ब्रिटिश सरकार के 'दमन' पर भी एक पारस्परिकता की लचक की छाप दे दी है"—और यह बात, मालूम होता है, किसीके ध्यान में नहीं आई है। भारतीय आन्दोलन के साथ रक्तपात और नृशंसता हुई है। परन्तु फिर भी दोनों ओर के गर्म पक्षवालों की तमाम दलीलों पर विचार करते हुए भी इस आन्दोलन का व्यवहार इस मध्यवर्ती विश्वास को दृढ़ करता है कि इसके परिणामस्वरूप दोनों देशों में एक विवेकपूर्ण तथा सभ्यतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित होने की सम्भावना है।" यदि ऐसा हो, कि संसार में आज जो अविवेक फैल रहा है वह दूर हो जावे, तो मेरा देश तथा भारतवर्ष दोनों इस पुरुष को अपने एक सबसे महान् और प्रभावशाली सेवक तथा पुत्र समझेंगे। इन्होंने भारत तथा इंग्लैण्ड के पारस्परिक झगड़े को एक पारिवारिक झगड़ा बना दिया है, जैसाकि वह सब प्रकार से है भी। कुटुम्बों में बहुधा बड़े बुरे व्यवहार होते रहते हैं, परन्तु ये झगड़े बहुत कम ऐसे होते हैं जिनका निपटारा न हो सके।

: ५२ :

# सत्याग्रह का मार्ग

## श्रीमती सोफिया वाडिया

[ इंडियन पी० आई एन बम्बई की संस्थापिका व सम्पादिका ]

गांधीजी एक व्यावहारिक पर अगम्य सन्त पुरुष हैं, जिनके जीवन का दर्शन तथा जिनका राजनैतिक कार्यक्रम एक साथ सहस्रों के लिए प्रेरणारूप तथा करोड़ों के लिए पहेली है। जहाँ एक ओर उनके आत्मिक जीवन के दर्शन का सिद्धान्त कोई भी बुद्धिमान् मनुष्य समझ सकता है, तथा उसके नियमों का हरेक उत्साही तथा दृढ़-निश्चयी व्यक्ति पालन कर सकता है, वहाँ उनका राजनैतिक कार्यक्रम तबतक पहेली बना रहेगा, जबतक कि उनको भारत के अत्यन्त अतीत काल में से स्वभावतः विकसित होनेवाले और भारत के वर्तमान इतिहास का निर्माण करनेवाली शक्तियों के सच्चे अर्थों में मूर्तरूप देनेवाले पुरुष के रूप में न देखा जावे।

आजकल का भारत ईरान या मिस्र की तरह, प्राचीन भूमि में उपजी हुई कोई नई सभ्यता नहीं है। बीसवीं शताब्दी की भारतीय चेतना की जीवन-धारा वही धारा है जो करोड़ों वर्षों से निरन्तर धीर गति के साथ बहती चली आरही है और अब भी गतिशील है। यहाँतक कि भारत में पुरातत्त्व की खुदाई के परिणाम भी एक नया अर्थ ले लेते हैं तथा एक नया महत्त्व रखते हैं, जैसाकि कदाचित् सिवाय चीन के और किसी जगह प्राप्त हुई वस्तुयें नहीं रखतीं। उदाहरणार्थ मिस्र के स्तूप उस देश के लुप्त प्राचीन गौरव की याद दिलाते हैं, परन्तु मोहेन्जोदारों में हम कह सकते हैं कि यह बात नहीं है, क्योंकि यह बात भग्नावशेष नहीं है, बल्कि भारत की जीवित-संस्कृत का एक सचेतन केन्द्र है।

वास्तव में जिस अर्थ में हम अर्वाचीन ईरान या आधुनिक मिस्र की बात कहते हैं उस अर्थ में अर्वाचीन भारत है ही नहीं, भारत तो उस अर्थ में भी अर्वाचीन नहीं है जिस अर्थ में जापान माना जाता है, अर्थात् पुरानी वही जाति बिलकुल आधुनिकता में ढल चुकी है। नये सांचे में ढला हुआ भारत केवल बड़े-बड़े शहरों में ही पाया जाता है और वहाँ भी थोड़े से ही अंश में। अंग्रेज़ी जानने वाले बहुत से भारतीयों में "नवीन बनने" की प्रवत्ति है। दुर्भाग्यवश यह प्रवृत्ति ज़ोर भी पकड़ती जारही है, यद्यपि गांधीजी के लेखों तथा कार्यों से इसकी गति रुक रही है। नई रोशनी का भारत तभी वजूद में आवेगा जब गांधीजी के प्रभाव को लोग न मानेंगे तथा उनके राजनैतिक

तरीक़े निकम्मे हो जावेंगे। यह भारत के लिए तथा संसार के लिए उससे भी महान् आपद् की घटना होगी जो भारत के युद्ध के सिद्धान्तों को त्याग देने के कारण हुई थी। वह त्यागना बुरा और हानिकारक था, परन्तु उसने भारतीय संस्कृति का नाश नहीं किया; हाँ, उसने इसकी बढ़ती हुई लहर के वेग को रोक दिया तथा भारत का संसार की सेवा उतने बड़े पैमाने पर करने का मौक़ा छीन लिया, जितनी वह कर सकता था।

गांधीजी के जीवन के कार्यकलाप को भारतीय इतिहास के एक लिखे जारहे विकासशील अध्याय के रूप में देखना आवश्यक है। हमारे देश का इतिहास मुख्यत: आध्यात्मिक व्यक्तियों द्वारा बनाया गया है। स्मरणीय कला तथा साहित्य-संयुत विशाल राजतन्त्र स्वभावत: उस आध्यात्मिक संस्कृति के मूल से उत्पन्न हुए और बढ़े जिसको इन व्यक्तियों ने मूर्त्तिमान किया तथा सिखाया। उदाहरणार्थ, अशोक का साम्राज्य तथा अजन्ता की कला एक विशाल वृक्ष की एक ही शाखा के फल हैं; वह शाखा है गौतम बुद्ध। इस वृक्ष की अनगिनती शाखायें हैं, और उसका मेरुदण्ड है उन समस्त पूर्ववर्त्ती बुद्धों की अविभाजन संस्कृति, जिसमें वैदिक ऋषियों तथा कवियों की भी गणना है। उसकी जड़ें पौराणिक गाथाओं में वर्णित शकद्वीप तथा श्वेतद्वीप की प्राचीनतर मिट्टी में दबी हुई हैं। यह आवश्यक है कि गांधीजी को भारतीय इतिहास के बीसवीं शताब्दी के उस चित्रपट पर एक जीवित केन्द्र-पुरुष के रूप में देखा जावे जिसकी पृष्ठभूमि में करोड़ों वर्षों की घटनायें स्थित हैं।

जिन शक्तिशाली आध्यात्मिक व्यक्तित्वों ने हमारे इतिहास में मुख्य भाग लिया है वे सदा योग-युक्त पुरुष रहे हैं। उन्होंने अपनी दुष्प्रवृत्त इन्द्रियों को अनुशासन में लाकर अपनेमें योग साधा है। हाथों की, मस्तिष्क की तथा हृदय की क्रियाओं का जितना ही अधिक समरूप एकीकरण होगा, उतना ही महान् व्यक्तित्व होगा। उन्होंने बाहरी ऐश्वर्य्य से नहीं, वरन् आन्तरिक सम्पन्नता से अपनी प्रिय मातृभूमि की सेवा की है। आवश्यकता पड़ने पर उन्होंने राम की तरह राजसी वस्त्र भी धारण किये हैं। दूसरे युग में राजकुमार सिद्धार्थ ने अपने राजदण्ड के बदले युद्ध का भिक्षा-पात्र ले लिया। ये दोनों आत्मसाधक व्यक्ति थे। इनके अतिरिक्त और भी कवि, ऋषि, महर्षि हुए हैं, जो सब-के-सब बाह्य रूप में एक-दूसरे से भिन्न तथा विभिन्न परिस्थिति-यों में काम करनेवाले रहे हैं परन्तु आन्तरिक ज्ञान में सब एकसमान थे—इनके मानस आत्मा के प्रकाश से ज्योतिमान तथा हृदय तथागत की ज्योति से ओतप्रेत थे। इनके विषय में कहा जा सकता है कि वे इतने भारतीय इतिहास के बनानेवाले नहीं थे जितना कि संसार के इतिहास ने, अर्थात् भारतवर्ष कहलानेवाले तथा कर्मभूमि के नाम से विख्यात भूखण्ड की आत्मा की शक्ति ने, उनको बनाया। इन सबने भारत की वास्तविक प्रकृति, इसका आन्तरिक गुण, इसकी आध्यात्मिक नीति और व्यवस्था जो धर्म की परिभाषा के अन्तर्गत हैं, सबकी रक्षा करके मनुष्य-जाति की सेवा की।

यह विचारधारा कदाचित् कल्पनात्मक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से युक्तिहीन प्रतीत हो। पाश्चात्य विद्वान् भारत के प्राचीन निवासियों में ऐतिहासिक दृष्टिकोण के अभाव की शिकायत करते हैं। इसमें वे भूल करते हैं, क्योंकि वे उसी तरह का ऐतिहासिक दृष्टिकोण तलाश करते हैं जिससे वे सबसे अधिक परिचित हैं। पाश्चात्य संस्कृति इतिहास को जैसा समझती है तथा उसका जो अर्थ लगाती है, उसका वर्णन स्वयं गांधीजी ने इस प्रकार किया है:—

> ''इतिहास वास्तव में प्रेम की शक्ति अथवा आत्मा की एकरस होनेवाली क्रिया में प्रत्येक रुकावट का आलेख है...। चूँकि आत्मिक बल एक सरल स्वाभाविक वस्तु है, अतः उसका वर्णन इतिहास में नहीं किया जाता।''

इस उलटे अर्थ में हमारे प्राचीन आलेख बिलकुल अनैतिहासिक हैं; उनमें अधिकतर आत्मा के कर्मों का वर्णन है और नैतिक शक्तियों तथा आदर्शों पर सांसारिक बातों की अपेक्षा अधिक ज़ोर दिया गया है। इस अर्थ में पुराण इतिहास हैं।

पाश्चात्य इतिहासकार की कठिनाई कुछ परिवर्तित ढंग से आधुनिक राजनीतिज्ञों में—चाहे फिर वे ब्रिटिश हों या पश्चिमी मनोवृत्ति के—दुबारा प्रकट हो रही है; जिनका कहना है कि गांधीजी में राजनैतिक वृत्ति का अभाव है; क्योंकि आधुनिक राजनीतिज्ञ के लिए राजनैतिक वृत्ति की अभिव्यक्ति केवल एक ही प्रकार से हो सकती है, दूसरे प्रकार से नहीं। अयोध्या में दशरथ के परामर्शदाता वशिष्ठ की भाँति राजाओं तथा सम्राटों के दरबार के महर्षि उच्चतम श्रेणी के राजनीतिज्ञ होते थे। परन्तु आज उनके उत्तराधिकारी इतने भी वोट एकत्र करने में सफल नहीं होंगे कि वे किसी पाश्चात्य देश की पार्लमेण्ट के सदस्य बन सकें।

गाँधीजी की कथित असंगतियाँ तथा अव्यावहार्यतायें तभी समझ में आ सकती हैं जब हम उनको एक 'आत्मा' के रूप में देखें, और जब हम इस तथ्य को विचार में लावें कि वह उन व्यक्तियों में से हैं जो अपने मस्तिष्क तथा हृदय में समझौता करने से इन्कार कर देते हैं, जो अपनी अन्तरात्मा के विरुद्ध आचरण करने के लिए तैयार नहीं होते, जो सब घटनाओं को सांसारिक दृष्टिकोण से नहीं देखते, बल्कि उनको अपने लिए आत्मज्ञान का तथा दूसरों के लिए आत्मिक सेवा का मार्ग समझते हैं। वह अपने तत्त्वज्ञान के अनुसार चलते हैं अपने सिद्धान्तों का पालन करते हैं, और इसीलिए वह उन सभीके लिए थोड़ी-बहुत अविगत पहेली बने रहते हैं जो समझौता करते रहते हैं तथा इस कारण भ्रान्ति और इन्द्रियों की तथा इन्द्रिय जगत् की नैतिक शिथिलता की अस्तव्यस्त अवस्था में पड़े रहते हैं।

यदि हम इन दो बातों को समझ जावें कि गांधीजी (१) न तो राजनीतिज्ञ हैं, न दार्शनिक, न धर्मशास्त्रवेत्ता, बल्कि आध्यात्मिक सुधारक हैं तथा, (२) वह भारत की आत्मा अथवा आर्य-धर्म के अवतार हैं और इस प्रकार भारत के वर्तमान-कालीन

इतिहास का अध्याय लिख रहे हैं, तो हम उनके बहुमुखी कार्यकलाप का ठीक रूप से दर्शन कर सकते हैं।

. संसार में गांधीजी भारत के राजनैतिक नेता के ही रूप में सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। निस्सन्देह लोग उन्हें एक साधु तथा धार्मिक मनुष्य कहते है, परन्तु बहुधा उनका धर्म एक गौण महत्व की बात समझा जाता है, तथा अंग्रेज़ लोग और स्वयं उनके बहुत-से देशवासी भी उनके वक्तव्यों को समझाने में भूल करते हैं, क्योंकि वे उन वक्तव्यों को इस प्रकार सुनते हैं और प्रयोग करते हैं मानों वे किसी देशभक्त राजनीतिज्ञ के दिये हुए हों। वे गांधीजी के इस महत्वपूर्ण सिद्धान्त को भूल जाते हैं कि "नैतिकता-रहित राजनीति ऐसी वस्तु है जिससे बचना चाहिए।" जब वह यह घोषित करते हैं कि मेरी देशभक्ति सदा मेरे धर्म की चेरी है" तो वह उस देशभक्ति तथा राष्ट्रीयता को एक नई विशेषता देते हैं, जो आज संसार की गोलमाल और अशान्ति का मूल—कारण बनी हुई है। वह भारत के शत्रु को कोई हानि नहीं पहुँचावेंगे; क्योंकि किसीको हानि पहुँचाना अधर्म है।

अतः यह आवश्यक है कि हम गाँधीजी के आन्तरिक धर्म के सम्बन्ध में जाँच-पड़ताल करें। वह अपनेआपको हिन्दू कहते हैं, परन्तु वह हिन्दू केवल इसी अर्थ में हैं कि हिन्दू-धर्म में वर्णित सार्वभौम उपदेश उनको सबसे अधिक तथा सबसे प्रभावशाली रूप में अच्छे मालूम होते हैं। वह लिखते हैं :—

"धर्म की सबसे उच्च परिभाषा के अन्तर्गत हिन्दू धर्म, इस्लाम, ईसाई धर्म इत्यादि सब आजाते हैं; परन्तु वह इन सबसे श्रेष्ठ है। आप उसे सत्य के नाम से भी पहचान सकते हैं, समयोपयोगिता की दृष्टि से प्रामाणिकता मात्र नहीं बल्कि सदा-सर्वदा सजीव रहनेवाला सत्य जो प्रत्येक वस्तु में व्याप्त है तथा जो सब प्रकार के विनाशों और परिवर्तनों के बाद भी जीवित रहता है।

"धर्म मुझे प्रिय है, और मेरी सबसे पहली शिकायत यह है कि भारत धर्महीन होता जा रहा है। यहाँ मैं हिन्दू या मुसलमान या पारसी धर्म का विचार नहीं कर रहा हूँ बल्कि उस धर्म का विचार कर रहा हूँ जो सब धर्मों के मूल में है। हम परमात्मा से विमुख होते जा रहे हैं।"

गांधीजी परमात्मा की परिभाषा में कहते है कि वह "एक अवर्णनीय सर्वव्यापी गूढ़ शक्ति है।" वह वर्णन करते हैं :—

"मैं यह निश्चयपूर्वक अनुभव करता हूँ कि जहाँ मेरे चारों ओर की प्रत्येक वस्तु सदा परिवर्तनशील तथा सदा नाशवान है, वहाँ इस समस्त परिवर्तन के मूल में एक सजीव शक्ति है, जो निर्विकार है, जो सबको धारण किये हुए है, जो सृष्टि की रचना करती है, प्रलय करती है तथा पुनः रचना करती है। यह ज्ञानदाता शक्ति चैतन्य ही परमात्मा है।"

यह परमात्मा त्रिगुणात्मक—सत्, चित्, आनन्द—है।

" 'सत्य' शब्द 'सत्' से निकलता है, जिसका अर्थ है 'होना'। वास्तव में सत्य के अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं है, अर्थात् किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है···। जहाँ 'सत्य' है वह 'चित्'—ज्ञान, विशुद्ध ज्ञान भी है। और जहाँ विशुद्ध ज्ञान है वहाँ सदा 'आनन्द' है।"

परमात्मा "घटघट में है" तथा "प्रत्येक मनुष्य परमात्मा की प्रतिमूर्ति है।" अतः हममें से प्रत्येक के भीतर सत्-चित्-आनन्द का अस्तित्व है—परन्तु उसका केवल कुछ ही अंश आवरणरहित है, क्योंकि वह अज्ञान तथा अविद्या के आवरण से ढका हुआ है। मनुष्यों को उचित है कि इस आन्तरिक देवता की शक्ति से जीवित रहने का प्रयत्न करें। जब गांधीजी शिकायत करते हैं कि भारतवासी परमात्मा से विमुख होते जा रहे हैं तो उनका तात्पर्य यह होता है कि वे लोग अपने भीतर की परमात्मा-शक्ति के द्वारा जीवित रहने का प्रयत्न नहीं कर रहे हैं। "मनुष्य पशु से ऊपर है" और "उसे एक दैवी कर्तव्य पूरा करना है"। "हम भूलोक को जानते हैं, परन्तु हम अपने अन्दर के स्वर्ग से अपरिचित हैं।"

मनुष्य का वह श्रेष्ठतर कर्तव्य क्या है? सच्चे ज्ञान से सत्य की खोज और केवल इसीके द्वारा नित्य आनन्द प्राप्त करना। " सत्य को पूर्णतया जान लेना अपने आपको साक्षात् कर लेना तथा अपने अदृश्य को पहचान लेना ही 'पूर्ण' बन जाना है।"

परन्तु मनुष्य में नीच पाशविक प्रवृत्ति है। अतः जिस मिट्टी से मनुष्य की देह बनी है उसपर अपूर्णता की छाप लगी हुई है। सबसे प्रथम आवश्यक कर्म है अपने में अन्तर्हित पूर्णता के अस्तित्व को तथा अपने चहुँओर छाई हुई अपूर्णता की कृति को पहचान लेना। हमारे अन्दर अपनी दो मुखी—दैवी तथा दानवी प्रकृति का जो संघर्ष चलता रहता है उसका गाँधीजी प्रभावशाली ढंग से वर्णन करते हैं—

"मुझे अपनी अपूर्णताओं का दुःखपूर्वक ज्ञान है तथा इसीमें मेरा समस्त बल है, क्योंकि मनुष्य के लिए स्वयं अपनी मर्यादाओं को जान लेना एक दुर्लभ वस्तु है।"

चूंकि हम निश्चयरूप से स्वयं अपनी मर्यादाओं को नहीं जानते, अतः हमको भी अपने घर का 'देवता' दिखलाई नहीं पड़ता। हमारी दुर्बलतायें उनसे लड़ने तथा उनको परास्त करने का प्रश्न उठाती हैं और यह प्रश्न स्वभावतः ही हमको आत्मा तथा अन्तरात्मा की शक्ति तक ले जाता है। इन दुर्बलताओं को जीत लेने-से ही "जीवन मृत्यु के ऊपर शाश्वत विजय प्राप्त कर लेता है।"

अपनी अपूर्णता पर विजय प्राप्त करने की रीति जिससे हमारी अन्तर्हित पूर्णता प्रकट होजावे, गांधीजी के इस उपदेश में दी हुई हैं—"अपने अन्दर की सुप्त अहिंसा को सचेतन करो और बढ़ाओ।" इसका भावार्थ ध्यान देने योग्य है—जो सुप्त है उसे प्रयत्न के द्वारा जाग्रत करने की आवश्यकता है। यह प्रयत्न किस प्रकार किया जाये?

"यदि मनुष्य को कोई दिव्य कर्तव्य पूरा करना है, ऐसा कर्तव्य जो उसके योग्य हो, तो वह अहिंसा है। हिंसा के मध्य में खड़ा हुआ भी वह अपने हृदय की ठेठ आन्तरिक गहराई में जाकर बस सकता है और अपने चारों ओर के संसार को यह घोषित कर सकता है कि इस हिंसामय जगत में उसका कर्तव्य अहिंसा है और जिस अंश तक वह उसे पालन कर सकता है, उसी अंश तक वह मनुष्य-जाति का भूषण है। अतः मनुष्य की प्रकृति हिंसा की नहीं, बल्कि अहिंसा की है, क्योंकि वह अनुभव के द्वारा कह सकता है कि मेरा आन्तरिक विश्वास है कि मैं देह नहीं, बल्कि आत्मन् हूँ और मुझे देह का उपयोग इसी उद्देश्य से करना चाहिए कि आत्मज्ञान प्राप्त हो।"

परन्तु इस निश्चय पर दृढ़ रहना चाहिए। जब मनुष्य अपने अन्तर में खोजता है तो उसे पुण्य और पाप दोनों मिलते हैं। जरथुस्त धर्म में वर्णित वोहू-मनो तथा अकेम-मनो दोनों मानस उसमें कार्य करते रहते हैं। मनुष्य का अपना अतःकरण इसके लिए पर्याप्त नहीं है हालांकि वह भी उसके आन्तरिक चैतन्य का ही रूप है। गांधीजी ठीक ही कहते हैं—"अन्तःकरण सबके लिए एक-सी वस्तु नहीं है।" तो मनुष्य के अन्तःकरण की सहायता करनेवाली कौनसी ज्योति होनी चाहिए? एक निर्भ्रान्त धर्मगुरु? कोई श्रुति? गांधीजी के लेखों के मूलमंत्र जैसा वचन देखिए—

"मैं इस बात का दावा नहीं करता कि मेरी मार्ग-प्रदर्शिता तथा आन्तरिक प्रेरणा निर्भ्रान्त है। जहाँतक मेरा अनुभव है, किसी भी मनुष्य का यह दावा करना कि वह निर्भ्रान्त है, मानने के योग्य नहीं है, क्योंकि आन्तरिक प्रेरणा भी उसीको हो सकती है जो द्वन्द्वों से मुक्त होने का दावा करे और किसी भी अवसर पर यह निश्चय करना कठिन है कि द्वन्द्व मुक्त होने का दावा ठीक है या नहीं। अतः निर्भ्रान्ति का दावा सदा एक भयंकर दावा रहेगा। परन्तु यह बात नहीं है कि इससे हमारे लिए कोई मार्ग ही न रहा हो। संसार के ऋषि-महर्षियों के अनुभवों का संचित कोष हमको प्राप्त है तथा भविष्य में सदा प्राप्त होता रहेगा। इसके सिवा मूल सत्य अनेक नहीं हैं, केवल एक ही मूल सत्य है, और वह स्वयं सत्य ही है। जिसका दूसरा रूप अहिंसा है। परिमित ज्ञानवाली मनुष्य-जाति सत्य और प्रेम का पार पूर्णरूप से कभी नहीं पा-सकेगी; क्योंकि ये स्वयं अपरम्पार हैं। परन्तु हमें अपने मार्गप्रर्दशन के लिए उसका काफ़ी ज्ञान है। हमें अपने मार्ग प्रदर्शन के लिए उसका काफ़ी ज्ञान है। हम अपनें कार्यों में भूल करेंगे और कभी-कभी भयंकर भूल करेंगे। परन्तु मनुष्य एक स्वशासित प्राणी है और स्वशासन में आवश्यक रूप से भूल करने का अधिकार भी उतना ही शामिल है जितना, जितनी बार वे भूलें हों उतनी ही बार उनको सुधारनें का।"

क्या गांधीजी ने भूलें की हैं? भूलें सबसे होती हैं। परन्तु भयंकर भूलों के किये जाने में मुख्य कारण क्या है? सब मनुष्य भूल करते हैं, परन्तु इन भूलों को पहचानने की शक्ति कितनों में है? और इसके अतिरिक्त कितनों में इतनी साहसपूर्ण मनःशक्ति

है कि जो भूलों को स्वीकार करलें । गांधीजी के स्वात्म-योग-युक्त होनें का एक लक्षण यह है कि उनका स्वभाव है कि वह निष्कपट रूप से अपनी भूलों को स्वीकार कर लेते हैं । दूसरा लक्षण यह है कि वह अपने अनुयायियों के दोषों को अथवा अपने कुटुम्बियों के अपराधों को अथवा अपने राजनैतिक दल की कमज़ोरियों को निर्भयता-पूर्वक ज़ाहिर कर देते हैं । वह अपने सहधर्मियों के धार्मिक दोषों को प्रकट करने से नहीं डरते । जो स्वयं अपने ही शरीर की शैतानी शक्तियों के विषय में लिखकर अपना ही असलीरूप जनता के सामने रखने में संकोच नहीं करता, जैसाकि उसने 'मेरे सत्य के प्रयोग अथवा आत्म-कथा' में किया तो, वह एक शक्तिशाली साम्राज्यशाही सरकार को 'शैतानी' कहने से क्यों डरे ?

पूर्वोक्त मूलमंत्र में हमको उनके स्वशासन के अदर्श की झांकी मिलती है । जो मनुष्य स्वयं अपने ऊपर शासन कर सकता है, वह सबसे उच्च श्रेणी का सुधारक है । यह आदर्श गांधीजी की फ़िलासफ़ी का आधार है । आर्थिक सुधार, राजनैतिक सुधार, सामाजिक सुधार,धार्मिक सुधार,ये सब व्यक्तिगत सुधार के व्यापकरूप हैं। उदाहरणार्थ सबसे प्रत्यक्ष सुधार—अर्थात् आर्थिक सुधार—के विषय में वह कहते हैं—

"भारत की आर्थिक स्वतन्त्रता का अर्थ मैं यह लेता हूँ कि प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, स्वयं अपने सजग प्रयत्न से अपनी आर्थिक उन्नति करे ।"

इस सजग प्रयत्न में उस मनुष्य का अपने समाज का संपर्क भी सम्मलित है। इस आर्थिक समस्या का राष्ट्रीय पहलू बड़े अच्छे ढंग से समझाया गया है । वह फिर कहते हैं—

"वास्तविक समाजवाद हमको अपनें पूर्वजों से विरासत में मिला है जिनका उपदेश है—

सबै भूमि गोपाल की, या में अटक कहा ?
जाके मन में अटक है, सोई अटक रहा ।

'गोपाल' शब्द का शाब्दिक अर्थ है ग्वाला । इसका अर्थ परमेश्वर भी है । आधुनिक भाषा में इसका अर्थ है राज्य, अर्थात् जनता । आज भूमि जनता की नहीं है यह बात, खेद है कि, ठीक है । परन्तु भूल इस देश की नहीं है । भूल उनकी है जिन्होंनें इस उपदेश का पालन नहीं किया है ।"

जिस समाज में मनुष्य रहता है और उसपर अपना प्रभाव डालता है उसके तथा उस मनुष्य के बीच का सम्बन्ध कौटुम्बिक सम्बन्ध है । "यह विश्वास करनें का कोई कारण नहीं है कि कुटुम्बों के लिए तो एक न्याय है तथा राष्ट्रों के लिए दूसरा" अतः सार्वजनिक कर्म का एक अत्यन्त व्यावहारिक तथा महत्वपूर्ण नियम इस प्रकार बतलाया गया है—

"सार्वजनिक सत्याग्रह के प्रत्येक उदाहरण की परीक्षा उसी भाँति के एक

कौटुम्बिक प्रश्न की कल्पना के द्वारा होनी चाहिए ।"

अर्थात् सार्वजनिक मामलों को निपटाते समय प्रत्येक व्यक्ति को समस्त मानव-समाज को अपने कुटुम्ब के रूप में देखना चाहिए । तब एक आदर्श सद्गृहस्थ जो परम दया-धर्म का पालन करना चाहता है, चोरों, बदमाशों, हरामखोरों इत्यादि के साथ कैसा बर्ताव करे ? श्रेष्ठ आर्य जातियाँ डिक्टेटरों तथा घृणा करनेवालों का क्या करें ? उत्तर यह है । क्रान्ति करो परन्तु "उसमें हिंसा का अंश न हो ।" क्या कोई मनुष्य या जाति आततायी को अपने ऊपर आ जाने दे ? इस उचित प्रश्न के उत्तर में गांधीजी ने समस्त मनुष्य-जाति की सेवा की है और कर रहे हैं ।

उत्पन्न होनेवाली परिस्थितियाँ इतने प्रकार की हो सकती हैं कि उनकी गिनती नहीं की जा सकती । कौटुम्बिक सम्बन्धों में भी अहिंसा का पालन करने के लिए ज्ञान की आवश्यकता है । सत्याग्रह के व्यवहारविज्ञान के अनुसार किसी विशेष परिस्थिति को किस प्रकार संभाला जावे ? जिन्होंने थोड़े समय के लिए भी इसका प्रयत्न किया है, वे इस बात की साक्षी दे सकते हैं कि यह कोई आसान बात नहीं है; परन्तु उस क़ौम का काम तो और भी अधिक पेचीदा है, जो अहिंसा अथवा सत्याग्रह के आधार पर जीने तथा पुष्ट होने का आयोजन करती है । दक्षिण अफ़्रीका में जो परिस्थतियाँ उत्पन्न हुईं, और भारत में वे जिस प्रकार उत्पन्न होती रही हैं, उनका मुक़ाबिला करने में गांधीजी बदी का प्रतिरोध नेकी से, घूँसे का मुक़ाबिला शान्तिपूर्ण हृदय से, करने की तरकीब निकाल रहे हैं । केवल जाने हुए सार्वजनिक मामलों में ही नहीं, बल्कि ख़ानगी तथा व्यक्तिगत जीवन में भी, प्रति सप्ताह, वास्तविक कार्य-व्यवहार में, गांधीजी यह बतलाते रहे हैं कि सत्याग्रह के चक्र को किस प्रकार चलाया जावे । उनका प्रिय चर्खा इसी चक्र की एक स्थूल अभिव्यक्ति है ।

हमारे इस आधुनिक युग की संस्कृति की सहानुभूति अहिंसा अथवा सत्याग्रह के साथ नहीं है, न हो सकती है । परन्तु आधुनिक सभ्यता की असफलता तो स्पष्ट दिखलाई दे रही है और विचारवान् सुधारक इस बात को स्वीकार करते हैं कि यदि इस सभ्यता को डूबने से बचाना है तो इसके काम करने के कितने ही प्राचीन मार्गों को, जीवन के कितने ही ढंगों तथा तरीक़ों को, छोड़ देना पड़ेगा ।

ऐसे लोग क्या करें ?

सत्याग्रह-शास्त्र के सिद्धांतों का अध्ययन प्रारम्भ करदें और जब मस्तिष्क में इसका स्पष्ट चित्र बन जावे तब अपनेको अनुशासन में लावें । बुराई की तीन शक्तियाँ हैं—संसार में ही नहीं, बल्कि मूलतः व्यक्ति में । इसलिए 'काम,' 'क्रोध' 'लोभ' ये संसार में फूलते-फलते हैं । संसार राष्ट्रों में बँटा है और राष्ट्रों द्वारा इन्हें पोषण मिलता है । प्रत्येक जाति में ये वर्ग-युद्ध तथा तबाही उत्पन्न कर देते हैं; परन्तु इनकी असली जड़ व्यक्ति में होती है । जब किसी मनुष्य के अन्दर ही ये

शक्तियाँ क्रियाशील होकर उसकी शान्ति को नष्ट करदें, उसके मस्तिष्क में गड़बड़ उत्पन्न करदें, उसके हृदय को समस्त मानव-मण्डल के विरुद्ध नहीं तो उसके अधिकांश व्यक्तियों के विरुद्ध कठोर बना दें, तो वह मनुष्य संसार में शान्तिपूर्वक नहीं रह सकता।

वह प्रधान गुण, जो प्रत्येक सच्चे सत्याग्रहियों के आचरण का सिद्धान्त है, साहस है। इस साहस का उपयोग केवल अपनी ही नीच प्रवृत्ति का मुक़ाबिला करने में नहीं, बल्कि उन लुभावनी वस्तुओं के विरुद्ध भी करना चाहिए जो ऐसे संसार में उत्पन्न होती हैं, जहाँ 'काम' को ग़लती से प्रेम मान लिया जाता है, तथा लोभ जीवन की प्रतियोगिता का एक आवश्यक बल बनकर फूलता-फलता है; जहाँ वे ही सफल प्रतियोगी जीवित रहने के योग्य होते हैं जो अपने प्रतिद्वन्दियों के विरुद्ध क्रोध के बल का प्रयोग करते हैं—उसका वेष चाहे जितनी खूबी के साथ बदल दिया गया हो। हमको पग-पग पर आत्मा के उस साहस की आवश्यकता होती है जो हमारे तथा हमारी विश्वात्मा से अभिन्न अन्तरात्मा के एकीकरण से उत्पन्न होती है।

सत्याग्रही का मार्ग कायर का मार्ग नहीं है। इस बात पर गांधीजी ने इतना ज़ोर दिया है तथा इसने कितने ही यूरोपियनों को असमंजस में डाल दिया है, अतः इस सम्बन्ध में गांधीजी के ही शब्दों को उद्धृत करना श्रेयस्कर है—

"मैं यह पसन्द करूँगा कि भारतवर्ष अपने गौरव की रक्षा के लिए शस्त्रों का सहारा ले, बजाय इसके कि वह कायरता के साथ स्वयं अपने ही गौरव को असहाय की भाँति मिट्टी में मिलता देखे।

"यदि हम कष्ट-सहिष्णुता के बल से अर्थात् अहिंसा से, अपनी, अपनी स्त्रीजाति की तथा अपने देवालयों की रक्षा नहीं कर सकते तो, यदि हम मनुष्य हैं तो, हममें क़म-से-कम लड़कर इनकी रक्षा करने की योग्यता होनी चाहिए।"

कुछ दिन हुए, कुछ चीनी अतिथियों के प्रश्नों के उत्तर में गांधीजी ने बतलाया था कि बतौर एक राष्ट्र के अब चीन के लिए समय नहीं रहा कि अहिंसा का संगठन करे और जापान चीन में जो ख़राबी फैला रहा है, उसका मुकाबिला करे। शान्ति की सेना एक दिन में तैयार नहीं की जा सकती है और उसके सिपाही जितनी शीघ्रता से बन्दूक चलाने के भद्दे कौशल को सीख सकते हैं उतनी शीघ्रता से बुराई का मुका-करने की उदात्त कला को नहीं सीख सकते। चीन में केवल व्यक्ति अहिंसा का पालन कर सकते हैं और यदि स्वर्गीय साम्राज्य[1] के लोग पर्याप्त संख्या में सत्याग्रह के सच्चे स्वर्गीय विज्ञान को सीखना तथा पालन करना सीख लें तो समय आनेपर—और समय कभी भी आ सकता है—वे चीन की आत्मा को बचा सकेंगे। गांधीजी ने समझाया कि "किसी राष्ट्र की संस्कृति उसकी जनता के हृदयों तथा आत्मा में निवास करती है...। जापान तलवार के ज़ोर से दवा न पीनेवालों के गले में ज़बरदस्ती दवा नहीं डाल सकता।"

१. चीनवाले अपने देश को स्वर्गीय साम्राज्य कहते हैं—संपादक

उन्होंने अपने अतिथियों से कहा कि आप अपने देशवासियों से कहे—"जापान के लोग हमारी आत्मा को भृष्ट नहीं कर सकते। यदि चीन की आत्मा को हानि पहुँची तो वह जापान के द्वारा नहीं पहुँचेगी।" यह सत्य सब राष्ट्रों पर लागू होता है, परन्तु ऐसे भी राष्ट्र हैं, जैसे इंग्लैण्ड, जो जल्दी से शान्ति की फौज खड़ी करके अपने घर का बन्दोबस्त कर सकते हैं, और इस प्रकार दूसरे लोगों को बचाने में सहायक हो सकते हैं। यदि इंग्लैण्ड का शस्त्र-निर्माण का कार्यक्रम दूसरे लोगों को नकल करने के लिए प्रेरित कर सकता है, तो सत्याग्रह के पालन में उसका संगठित प्रयत्न दूसरों को भी ऐसा ही करने की स्फूर्ति क्यों नहीं दे सकता? उसे उचित है कि वह "सीधे-सादे तथा दिव्य जीवन से उत्पन्न होनेवाले शान्ति के मार्ग" पर चलने का संगठित आयोजन करे।

## : ५३ :

# हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए गांधीजी का अनशन

**रेवरेण्ड फॉस वेस्टकॉट, एम. ए., एल-एल. डी.**

**[ भारत के लाट पादरी और लॉर्ड विशप, कलकत्ता ]**

मुझसे श्री मोहनदास करमचन्द गांधी के जीवन और उनके कार्य के किसी पहलू की महत्ता पर संक्षेप में कुछ लिखने को कहा गया है। में समझता हूँ उसके उत्तर में में सितम्बर १९२४ में उन्हें जिन कारणों से इक्कीस दिन का उपवास करना पड़ा और उसके जो परिणाम हुए, उनका वर्णन करने से बढ़कर और कोई कार्य नहीं कर सकता।

उस वर्ष के ग्रीष्मकाल में हिन्दू-मुस्लिम तनाव भयावह स्थिति तक पहुँच गया था। इसका आंशिक कारण था वह शुद्धि आन्दोलन, जो स्वामी श्रद्धानन्द ने दिल्ली के आस-पास के नव-मुस्लिमों में आरम्भ किया था। महात्मा गांधी के लिए, जैसाकि उन्होंने कहा है, गत तीस वर्षों से हिन्दू-मुस्लिम एकता चिंता का एक प्रमुख विषय रहा है, इसलिए यह साम्प्रदायिक संघर्ष उन्हें अत्यन्त क्लेश का कारण था। ज्यों-ज्यों एक के बाद दूसरा दंगा होता जाता था, उसका क्लेश बढ़ता जाता था। यहाँतक कि अन्त में १७ दिसम्बर को उन्हें यह प्रेरणा हुई कि उन्हें इक्कीस दिन का उपवास करना चाहिए। इस पर लिखते हुए उन्होंनें कहा था—"मेरा प्रायश्चित्त अनिच्छापूर्वक किये गये अपराधों की क्षमा के लिए की गई एक दुःखित हृदय की प्रार्थना है।" इस तरह उन्होंनें, जिन अपराधों के लिए हिन्दू दोषी थे, उनसे अपने को सम्बन्धित किया और उनकी ज़िम्मेदारी अपनें पर ली। उन्होंने कहा—"एक-दूसरे के धर्म की निन्दा करना,

अन्धाधुन्ध अथवा ग़ैर-ज़िम्मेदाराना वक्तव्य देना, असत्य कहना, निर्दोष व्यक्तियों के सिर फोड़ना और मन्दिरों अथवा मस्जिदों का अपवित्र किया जाना, ईश्वर के अस्तित्व से इन्कार करना है।" जब उन्होंने अपने मित्रों पर अपना अनशन करने का विचार प्रकट किया तो उनका उपवास छुड़ाने की हर तरह कोशिश की गई, लेकिन चाहे उसका परिणाम कुछ भी हो, वे अपने निश्चय के पथ से विचलित न होने का राम का उदाहरण देकर अपनी बात पर अड़े रहे। १८ सितम्बर को उनका उपवास शुरू हुआ और उसी दिन हकीम अजमलखां, स्वामी श्रद्धानन्द और मौ० मोम्मदअली ने सब प्रकार के राजनैतिक विचारों के प्रमुख हिन्दुओं और मुसलमानों और दूसरी जातियों, यूरोपियन और हिन्दुस्तानी दोनों के नाम एक पत्र लिखा, जिसमें उन्हें बहुत जल्दी-दिल्ली में होनेवाली शांति-परिषद् में भाग लेने के लिए निमंत्रित किया था। क़रीब तीन सौ व्यक्तियों ने जिनमें दोनों जातियों के अधिकांश नेता शामिल थे, निमन्त्रण स्वीकार किया; क्योंकि भारत के सब वर्गों के लोगों में गांधीजी के प्रति अगाध और स्नेहपूर्ण आदर-भाव था, राष्ट्रीय सम्पत्ति के रूप में गांधीजी का जो अमूल्य मूल्य था और उपवास में उनके जीवन के ख़तरे में पड़ने की आशंका थी ही, अतः उसके कारण को दूर करने में जो भी प्रयत्न सम्भव हों करने के लिए सब इकट्ठे हुए। गांधीजी ने खुद अपने मित्रों से कहा था, "मैंने यह उपवास मरने के लिए नहीं, बल्कि देश और ईश्वर की सेवा में उच्चतर और पवित्रतर जीवन व्यतीत करने के लिए किया है। इसलिए अगर मैं ऐसे संकटकाल के निकट पहुँचा (जिसकी कि एक मनुष्य की नाईं बोलते हुए मैं किसी प्रकार की कोई सम्भावना नहीं देखता) जबकि मृत्यु और भोजन दो में से किसी एक को चुनना होगा, तब निश्चय ही मैं उपवास भंग कर दूँगा।" अन्त में २६ सितम्बर को संगम थियेटर में शान्ति-परिषद् का अधिवेशन आरम्भ हुआ। विस्तृत जन-समूह मंच के सामने खुली ज़मीन पर बैठा था, मंच पर यीशु के सूली लटकते हुए दृश्य का परिचायक एक धुंधला-सा पर्दा लटका हुआ था, और मंच के एक ओर गादी पर गांधीजी का मढ़ा हुआ एक बड़ा चित्र रक्खा था। स्वागताध्यक्ष मौ० मोहम्मदअली ने उपस्थित सज्जनों का स्वागत किया और संक्षेप में परिषद् का उद्देश्य बतलाया। इसका क्षेत्र सीमित था और वह था साम्प्रदायिक झगड़ों के धार्मिक कारणों पर विचार करना। यह तो ज्ञात ही था कि इन झगड़ों के राजनैतिक और आर्थिक कारण भी हैं; पर उनपर बाद को विचार किया जाने को था। पं० मोतीलाल नेहरू सर्वसम्मति से परिषद् के सभापति चुने गये। कुछ प्रारम्भिक भाषणों के बाद इस परिषद् का पहला काम था क़रीब अस्सी सदस्यों की एक 'विषय निर्वाचिनी समिति' नियुक्त करना जो एक छोटी समिति के द्वारा बनाये गये मसविदों को प्रस्तावों के रूप में तैयार करने की मुख्य ज़िम्मेदारी ले ले।

परिषद् की कार्रवाई शुरू होने के पहले गांधीजी ने क सन्देश भेज कर इस

बात पर जोर दिया था कि "जिस चीज़ की ज़रूरत है वह है हृदय की एकता। प्रत्येक व्यक्ति ने सत्य को जैसा देखा-समझा हो उसे वही कहना चाहिए। यहांतक कि अगर इसमें दूसरों के उपासना-स्थानों को अपवित्र करना भी शामिल हो तो उन्हें वह भी वैसा ही कहना चाहिए। मैं उनकी इस ईमानदारी की क़द्र करूँगा, हालांकि इससे मैं यह जान लूँगा कि उस हालत में अपने इस अभागे देश के लिए शान्ति नहीं है।"

सभापति की ओर से रक्खा गया वह प्रस्ताव सर्वसम्मति से पास हुआ जिसमें गांधीजी के धर्म में **"मनः पूतं समाचरेत्"** के सिद्धान्त को स्वीकार और उपासना-स्थानों के अपवित्र किये जाने, सच्चे दिल से और ईमानदारी के साथ अपना धर्म-परिवर्तन करने के कारण किसी भी व्यक्ति के सताये जाने और ज़बर्दस्ती धर्मान्तरित किये जाने की निन्दा की गई थी।

परिषद् के आरम्भ होने से पहले चारों तरफ़ से इस बात की तरफ़ हमारा ध्यान दिलाया जारहा था कि हिन्दू-मुस्लिम-एकता प्रस्ताव पास कर लेने से नहीं, बल्कि एक मात्र हृदय-परिवर्त्तन से ही होसकती है। और शुरू के दिनों के वाद-विवाद पर दृष्टि डालने से, मुझे मालूम हुआ कि, धीरे-धीरे वही हृदय-परिवर्त्तन हो रहा है। पर जिस समय हमने विषय-निर्वाचिनी समिति में छोटी कमेटी द्वारा तैयार किये गये प्रस्तावों पर विचार करना शुरू किया, भावों की कटुता और तीव्रता एकदम स्पष्ट दिखाई देने लगी, जिसके साथ-ही-साथ गहरे सन्देह की भावना लगी हुई थी। सद्भावना प्रदर्शित करनेवालों को अविश्वास की दृष्टि से देखा जाता था और उदारतापूर्वक बढ़ाये गये हाथ को बदले में अधिक लाभ उठाने की चाल समझा जाता था। लेकिन पाँचवें दिन स्पिरिट में एक निश्चित परिवर्तन दिखाई दिया और जब मौलाना अबुलकलाम आज़ाद के अपना भाषण समाप्त कर चुकने के बाद, जिसकी कि उत्कृष्ट वाग्मिता और भावों की उदारता के कारण मुक्तकण्ठ से प्रशंसा हुई, एक प्रश्नकर्ता ने उनसे पूछा कि बदले में उन्हें क्या-क्या रिआयतें मिलने की आशा है, तो सभा में चारों तरफ़ से उसके प्रति तिरस्कारपूर्ण आवाज़ें उठने लगीं। यह स्पष्ट दिखाई देने लगा कि बदले की पुरानी भावना का स्थान सहिष्णुता की भावना लेती जा रही है और धार्मिक विश्वास और रीति-रिवाजों के मतभेद उचित सम्मान के योग्य समझे जाने लगे हैं। बहस के शुरू में वक्ता मुख्यतः अपने अधिकारों पर ज़ोर देते थे, लेकिन अब उनमें अपनी ज़िम्मेदारियों और अपने आवश्यक कर्तव्यों की भावना दिखाई देने लगी।

उपवास के ग्यारहवें दिन गांधीजी की हालत कुछ चिन्ताजनक हो गई और बैठक के बीच ही मुझे श्री. सी. एफ. एण्डरूज़ का ज़रूरी पैग़ाम मिला कि मैं फ़ौरन आजाऊँ। मैंने रास्ते में डॉ० अब्दुल रहमान को अपने साथ ले लेना मुनासिब समझा और उन्होंने उस शाम को और जाँच करने को कहा। इस बीच परिषद् काफ़ी देर तक रुकी रही। तबतक गांधीजी ने श्री एण्डरूज़ को और मुझे उनकी शाम की प्रार्थना के समय हम

ईसाइयों का प्रसिद्ध अँग्रेज़ी भजन, जो इधर अर्से से उनका प्रिय भजन था, गाने को कहा। वह है :—

लिये चलो ज्योतिर्मय, मुझको सघन तिमिर से लिये चलो !
रात अंधेरी, गेह दूर है, मुझे सहारा दिये चलो !!
थामो ये मेरे डगमग पग,
दूर दृश्य चाहे न लखें दृग—
मुझे अलं है देव, एक डग !
कभी न मैंने निस्सहाय हो मांगा—'मुझको लिये चलो !'
निज पथ आप खोजता-लखता ! पर तुम अब तो लिये चलो !
लिये चलो, ज्योतिर्मय मुझको सघन तिमिर से लिये चलो !
प्यारा था मुझको जगमग दिन
हेय मुझे थे ये भय अनगिन
अहंकार से गया सभी छिन
मेरे पिछले जीवन को प्रिय, मन में रखकर अब न छलो !
लिये चलो, ज्योतिर्मय, मुझको सघन तिमिर से लिये चलो !
जबतक है तेरा बल सिर पर,
हूँगा मैं गतिशील निरन्तर,
बीहड़-दलदल, शैल-प्रलय पर,
तबतक, जबतक रात अंधेरी रम्य उषा में आ बदलो,
चिरप्रिय खोये देवदूत वे, मुसकाते फिर मुझे मिलो !
लिये चलो, ज्योतिर्मय मुझको सघन तिमिर से लिये चलो ![१]

१. मूल अंग्रेज़ी भजन इस प्रकार है :—

Lead, Kindly light, amid the encircling gloom
Lead Thou me on.
The night is dark and I am far from home,
Lead Thou me on.
Keep Thou my feet I do not ask to see
The distant scene; one step enough for me.
I was not ever thus, nor preyad that Thou
Shouldst lead me on;
I loved to choose and see my path; but now
Lead Thou me on.
I loved the garish day, and spite of fears,
Pride ruled my will : remember not past years.

कमरे का मन्द प्रकाश, पलंग पर सहारे से अधलेटी वह दुर्बल-मूर्ति !—एक विलक्षण मर्मस्पर्शी दृष्य था।

डाक्टर की रिपोर्ट मिलने पर ख़ैर निश्चिन्तता हुई। कष्टदायक लक्षण निश्चित रूप से कम हो गये थे, और भय का कोई कारण नहीं रह गया था।

परिषद् के परिणामों का चारों तरफ़ हार्दिक समर्थन के साथ स्वागत हुआ, यद्यपि यह आम धारणा थी कि हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापित होने का काम समय लेगा। ८ अक्तूबर को मनाये गये 'एकता-दिवस' पर कलकत्ता के 'स्टेट्समैन' में जिन बहुतसे प्रसिद्ध लेखकों के सन्देश प्रकाशित हुए थे, उनमें एक लेखक ने बड़ी अच्छी तरह इस बात को व्यक्त किया था। लिखा था—"जहाँ सुस्पष्ट और प्रबल राजनैतिक युक्तियाँ सर्वथा असफल हुईं, वहाँ गाँधीजी के उपवास से उत्पन्न धार्मिक भावनायें सफल होगईं। लेकिन लाखों आदमियों में सहिष्णुता से काम लेने की आदत डालने का कहीं अधिक कठिन कार्य अभी बाक़ी पड़ा है।" बाद की राजनैतिक घटनाओं के कारण, जिन्होंने राजनैतिक और आर्थिक तनातनी को और अधिक बढ़ा दिया है, यह कार्य सरल नहीं होसका। अगर शान्ति का राज्य स्थापित करना है तो गांधीजी ने जिस, मानवमात्र के हृदय में ईश्वर को प्रस्थापित करने के उद्देश्य से उपवास आरम्भ किया था, वह अवश्य पूरा किया जाना चाहिए; क्योंकि एकमात्र इसी तरीक़े से मनुष्य की परस्पर विरोधी इच्छाओं को ईश्वर की एक सर्वोपरि इच्छा के नियंत्रण में लाया जा सकता है।

## : ५४ :

# महात्मा गांधी और कर्मण्य शान्तिवाद

### रेवरेण्ड जैक सी. विसलो,

**[ पूना और लन्दन ]**

महात्मा गांधी के चरित्र और शिक्षा से खुद मुझको जो प्रेरणा मिली ह, उसके सम्बन्ध में मैं बहुत कुछ लिख सकता था। उनके साथ परिचय मेरे जीवन का एक परम सौभाग्य है। लेकिन इस संक्षिप्त लेख में मैं सिर्फ़ एक विषय पर ज़ोर देना चाहता हूँ,

---

* So long thy power hath blest me, sure it still
Will lead me on,
O'er moor and fen, o'er crag and torrent, till
The night is gone;
And with the morn, those angel faces smile,
Which I have loved long since and lost awhile.

और वह यह कि उन्होंने संसार को इस तरह का शान्तिवाद बतलाया है, जो सचमुच युद्ध का स्थान ले सकता है।

वह शान्तिवाद, जैसा कि पश्चिम में अक्सर प्रकट हुआ है, सफलता-पूर्वक युद्ध प्रणाली का स्थान नहीं लेसकता। अवश्य ही युद्ध का निषेध करने में और अपने इस विश्वास में वह सही है कि युद्ध विजयी और विजित दोनों ही के लिए समानरूप से केवल और अधिक तबाही ही लाता है। उसका यह प्रतिपादन भी सही है कि अहिंसा का मार्ग उच्चतर मार्ग है। लेकिन पश्चिमी शान्तिवाद में एक दोष यह है कि उसमें बुराई के मुक़ाबिले में सुदृढ़ और सफल आक्रमण करने की शक्ति नहीं है। वह बड़ी आसानी से निष्क्रियता में डूब जाता है। जिन लोगों का ख़ून अत्याचारों के ख़िलाफ़ गुस्से से उबल रहा है और जो हमलों को रोकने का कोई उपाय करने के लिए उतावले होरहे हैं, वे शान्तिवादी को ऐसी ज्यादती के सामने आत्म-तुष्ट और निकम्मा बना बैठा मानते हैं (और उनका ऐसा मानना सर्वथा अनुचित भी नहीं है)। उनकी दृष्टि में शान्तिवादियों का तरीक़ा ऐसे कामों का मुक़ाबिला करने की आशा नहीं दिलाता जैसे इटली का अबीसीनिया पर आक्रमण अथवा जर्मनी में यहूदियों के ख़िलाफ़ अमल में लाये गये तरीक़े। यही कारण है कि अपने पीछे उच्च नैतिक बल होने का दावा करने पर भी वस्तुतः पश्चिमी शान्तिवाद को सच्चे ईसाइयों तक का पूर्ण या व्यापक समर्थन प्राप्त नहीं है। शान्तिवादी आमतौर पर यह धारणा बना लेता है कि बहुसंख्यक ईसाई उसके मार्ग का परित्याग इसलिए करते हैं कि वह जो नैतिक माँगें करता है, वे उनके लिए बहुत ऊँची हैं। जबकि वास्तव में बहुत से उसका परित्याग इस कारण करते हैं, कि उनकी नज़रों में वे माँगें बहुत नीची दिखाई देती हैं। कई ईसाइयों की दृष्टि में शान्तिवादी नैतिक अपराधों के प्रति ऐसी उदासीनता रखने के अपराध के अपराधी हैं, जो कि सत्यनिष्ठता और प्रेम के उच्चतम आदर्श से गिरी हुई है। मंगल-मय ईश्वर अमंगल और अनीति के साथ कभी समझौता नहीं करता है और उन ईसाइयों की शान्तिवादियों से माँग है कि उनमें भी बुराई के प्रति ऐसे ही प्रबल विरोध के भाव की झलक मिलनी चाहिए।

इसी रूप में महात्मा गांधी की आक्रामक शान्तिवादिता पश्चिम के साधारण शान्तिवाद से उच्चतर सिद्ध होती है। अवश्य ही गांधीजी के सत्याग्रह में शान्तिवादी का चाहा हुआ अहिंसा का सारा तत्त्व मौजूद है, और वह तत्त्व सर्वोच्च और सर्वाधिक सक्रियरूप में है। गांधीजी लिखते हैं "अंग्रेज़ में 'अहिंसा' शब्द का वास्तविक अनुवाद 'प्रेम या उदार हृदयता' है।" "अपने सक्रिय रूप में अहिंसा का अर्थ है विशाल-से-विशाल प्रेम, बड़ी-से-बड़ी उदार हृदयता।" "मेरे लिए ईश्वर को जानने का एकमात्र उपाय है—अहिंसा, प्रेम।" विरोधी के प्रति केवल सब प्रकार की हिंसा से ही नहीं, बल्कि सब प्रकार की दुर्भावनाओं और कटु विचारों से भी दूर रहना तथा प्रेम और

आत्मपीड़न के द्वारा उसे जीतने की लगातार कोशिश करना सत्याग्रह का सार है। इतने पर भी सत्याग्रह अपने में निर्भय आक्रामक गुण भी रखता है। वह गुण है बुराई के विरोध में अपने पास के आत्म-बल का अधिक-से-अधिक प्रयोग; और वह शक्ति जब तक उस बुराई पर विजय प्राप्त नहीं कर लेती, चैन नहीं लेगी, चाहे उसकी प्राप्ति के लिए ज़रूरत हो तो मौत भी मिले।

भारत पर अंग्रेज़ों के आधिपत्य को एक अभिशाप, और उसे अपने देश और खुद अँग्रेज़ों के लिए हानिकर मानकर गांधीजी ने अपने-आपको अपनी आत्म-शक्ति को पूरे ज़ोर के साथ अँग्रेज़ी राज के अन्त करने के लिए लगा दिया। विदेशी के प्रति घृणा न रखते हुए, उसके प्रति एकमात्र प्रेम और सद्भावना रखते हुए भी अपने इसी विश्वास के कारण वे विदेशी जुए को उखाड़ फेंकने के लिए डटकर खड़े हो गये। उन्होंने अपने देश-भाइयों को पश्चिमी आधिपत्य की नैतिक बुराइयों के मुक़ाबिले में बिना विरोध किये निष्क्रिय होकर बैठ जाने की सलाह नहीं दी। वरन् इसके विपरीत उन्होंने अपनेको इस 'ग़ुलाम-मनोवृत्ति' को तोड़ने में लगा दिया; जिसे वह नैतिक दृष्टि से बलात् विरोध से भी गिरा हुआ समझते थे, और अपनें अहिंसात्मक असहयोग के द्वारा उन्होंने भारत को स्वतन्त्रता-प्राप्ति का एक ऐसा उपाय बतलाया जिसमें एक ही साथ बदी को ललकार थी और घृणा का लेश न था। इसमें विदेशी शासन पर हिंसात्मक युद्ध के जैसी निश्चित दृढ़ता के साथ प्रचण्ड आक्रमण की आवश्यकता होती है और इतने पर भी वह चाहता है कि इसमें भाग लेनेवालों में उच्चतम आत्मानुशासन, स्वयं कष्टसहन और प्रेम का भाव हो।

यह ध्यान रखना चाहिए कि सत्याग्रह का यह तरीक़ा ईसा के तरीक़े के बहुत-कुछ समान है। महात्मा गांधी ने ईसा-मसीह को 'सत्याग्रहियों का राजा' माना है। यह सच है कि ईसा ने अपने को रोमन आधिपत्य मिटाने के काम में कभी नहीं लगाया। उन्हें विदेशी आधिपत्य की बुराइयों के मुक़ाबिले अपने ही लोगों और नेताओं के पाप एवं अपराधों का अधिक ख़याल रहा। लेकिन इन पापों के ख़िलाफ़ उन्होंने कड़े-से-कड़ा विरोध प्रदर्शित किया, जिसके परिणाम में अन्त में उन्हें अपनी जान तक देनी पड़ी। इतने पर भी इन पापों के भागियों के प्रति उन्होंने जो प्रेम प्रदर्शित किया उसमें कभी भी हिचकिचाहट नहीं आई, बल्कि वह अधिक बढ़ा ही, और अंत में तो उन्होंने उनको और सब मनुष्यों के हृदय को जीतने और उनका उद्धार करने के लिए उनके हाथों प्रसन्नतापूर्वक चरम सीमा तक कष्ट-सहन कर कठोरतम दण्ड सहा। मेरा विश्वास है कि यूरोप को और दुनिया को आज उन बुराइयों के मुक़ाबिले में, जिनसे मानव-समाज के लिए अकथनीय आपदाओं का ख़तरा है, निष्क्रिय नहीं, बल्कि आक्रामक शान्तिवाद की ज़रूरत है। वह है ईसा का यह सत्याग्रह, जिसे महात्मा गांधी ने उनसे 'पर्वत पर के उपदेश' और टॉल्स्टॉय से (साथ ही स्वयं अपने हिन्दू धर्मशास्त्र से) सीखा है।

यूरोप की आज की हालतों में इस सिद्धान्त का अमल में लाया जा सकना आसान नहीं है। उदाहरण के लिए, जर्मन और आस्ट्रियावासी यहूदियों के खिलाफ़ जिन दमनकारी उपायों को काम में लाया गया, उन्हें उन उपायों का अहिंसात्मक मुक़ाबिला करने के लिए संगठित करना उनके नेताओं के लिए कुछ हलका या आसान काम नहीं होता। यह सर्वथा निश्चित था कि इसका मतलब होता उनमें से कुछ का बलिदान। लेकिन संसार में इस प्रकार के बलिदान का जो नैतिक और आध्यात्मिक असर होता उसका परिणाम अपार महत्त्व का होता, जैसा कि अभी भी जेलों में पड़े हुए जर्मन पादरियों के मूल बलिदान का होरहा है। फिर भी, अगर सत्याग्रह के तात्कालिक प्रयोग का समझ में या व्यवहार में आसकना आसान न हो, तो भी स्वयं उसका सिद्धान्त तो निश्चय ही सब सन्देहों से परे है, और मेरे विचार में भावी संकट से अधिकाधिक सजग दुनिया के लिए वही अपनेमें एकमात्र कुन्जी या चाबी रखता है, जो पागलख़ाने से मुक्त होकर विवेक और शान्ति के प्रकाश में आने के द्वार को खोल सकती है।

बहुत दिनों से मेरे दिमाग़ में यह विचार चक्कर काट रहा है कि क्या महात्मा गांधी के लिए, इस आयु में जब कि वह अपनी सब प्रवृत्तियाँ छोड़कर अपनी अन्तिम मुक्ति के लिए संन्यासी की-सी शान्ति की साधना के अधिकारी हैं, अपने समस्त जीवन के कार्य को सफल बनाने के लिए, अब भी, यहाँ पश्चिम में, यूरोप के सब राष्ट्रों के नेतृत्वहीन उन लाखों-करोड़ों लोगों का, जो बिना युद्ध और वैर के प्राप्त की गई न्याययुक्त और स्थायी सुलह और शान्ति चाहते हैं, नेतृत्व करके यह बताने का काम बाक़ी नहीं है कि हमें कौन-कौन-सा काम और क्या-क्या कष्ट सहन या बलिदान करना चाहिए जिससे कि उपर्युक्त शान्ति प्राप्त होसके ?

: ५५ :

## गांधीजी का नेतृत्व

**एच. जी. वुड, एम. ए. डी. डी.**

[ वुडब्रुक, सेली ओक, बर्मिंघम ]

फूल-मालायें गूँथना एक भारतीय कला है और एक कोरा अंग्रेज़ अगर किसी महान् नेता की प्रशंसा में श्रद्धा की एक अञ्जलि समर्पित करने का प्रयत्न करे तो उसमें उसके असफल होने की सम्भावना रहती है। अगर वह किसी ख़ास अहतियात और संजीदगी के साथ लिखता है तो उसमें वास्तविक गुणग्राहकता का अभाव दिखाई देता है। अगर वह अपनेको अंधाधुन्ध प्रशंसा के लिए खुला छोड़ देता है तो उसमें

वास्तविक सचाई का अभाव प्रतीत होगा। फिर भी, मेरी भेंट कितनी ही तुच्छ और नगण्य क्यों न हो, गांधीजी के इकहत्तरवें जन्म-दिवस पर पहुँचने पर, मैं उन्हें बधाई देनें के निमन्त्रण को अस्वीकार नहीं कर सकता। इससे कम-से-कम उनके भारतीय जनता को दिये गये नेतृत्व का मुझपर जो असर पड़ा, उसके सम्बन्ध में मुझे कुछ कहने का मौक़ा मिल जाता है।

इतिहास में मनुष्य की महत्ता आमतौर पर उसके चरित्र और गुण की अपेक्षा उसके प्रभाव के विस्तार और पायेदारी से नापी जाती है। यह एक माप है जिसे इतिहासकार भुला नहीं सकता और जिससे कि साधारण बुद्धि का समाधान होजाता ह। इस तरह के माप से नापे जाने पर—हिटलर, स्टेलिन, मुसोलिनी आदि डिक्टेटर आज दुनिया के महापुरुष हैं। ख़ासकर हिटलर कोलोसस[१] की तरह हमारी छोटी-सी दुनिया पर सवारी गाँठे हुए है। आदमियों के मन और जीवन पर उसका ऐसा दबदबा है कि अगर भीषणता का ख़याल न करें तो वह हास्यप्रद ही लग सकता है। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि उस व्यक्ति में अवश्य महानता के कुछ तत्त्व हैं, जिसके कार्यों का इतने सारे लोगों के भाग्यों पर असर पड़ता है। फिर भी ईसाई के लिए इस तरह की महानता न तो परमसाध्य है, न प्रशंसनीय। ईसा के समय में दुनिया भर में सिकन्दर महान् समझा जाता था। कुशल सेनानी और शाही शासक के रूप में उसके उल्का के समान चमकीले एवं द्रुत जीवन ने मनुष्य की कल्पनाओं को प्रभावित और उनकी महत्त्वकांक्षाओं को प्रज्वलित कर दिया था। जूलियस सीज़र जब तैंतीस वर्ष की अवस्था में स्पेन में सरकारी ख़जानची था, इस ख़याल से शोक:-भिभूत होगया कि यद्यपि मैं उस उम्र तक पहुँच गया हूँ जिसमें कि सिकन्दर मर गया था, फिर भी मैंने कोई महान् कार्य नहीं किया। ईसा के समय के राष्ट्रों में जिनकी गिनती महान् राष्ट्रों में की जाती थी, वे वे राष्ट्र थे जिन्होंनें विस्तृत भूभागों को हड़प लिया था और बहुसंख्यक लोगों पर शासन करते थे। किन्तु ईसा ने हमारे सामनें दूसरे ही आदर्श रक्खे—जो बड़ा या उच्च होना चाहता हो वह सेवक बने। मनुष्यों के हृदय में से अभी प्राचीन मूर्ति-पूजा का उन्मूलन नहीं हुआ, लेकिन जिस तरह सिकन्दर नें यूनान और रोम की, दुनिया की, कल्पनाशक्ति को मोह लिया था, उस तरह नेपोलियन उन्नीसवीं सदी के यूरोप पर अपना जादू नहीं चला सका। ईसा ने विजेता की शान को धूमिल किया और सेवक के दर्जे को ऊँचा चढ़ा दिया। ईसा के सब अनुयाइयों की दृष्टि में महानता प्रभुताधारियों में नहीं, बल्कि उन लोगों में है जो अपनेको दीन और दलितों की सेवा में लगा देते हैं। कोढ़ियों के बीच रहनेवाले पादरी डेमीन और अफ़्रीका में सेवा के लिए अपना जीवन खपा देनेवाले डेविड लिविंग्स्टन जैसे व्यक्ति वास्तविक महानता की प्रतिमूर्ति समझे जाते हैं। अपनें समकालीन व्यक्तियों में

१. रोड्स द्वीपस्थ एपोलोदेव की विशाल मूर्ति।

क़दर की जाती है और जिसकी सचाई पर वे लोग भी सन्देह नहीं करते, जिनके लिए कभी-कभी उनके विचारों की दिशा को समझ सकना कठिन हो जाता है, या जो उनके वास्तविक निर्णयों को ग़लत समझते हैं। परिणाम यह हुआ कि भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन ने उन लोगों तक से बहुत हद तक सम्मान प्राप्त किया है, जो उसे नापसन्द करते हैं और उसका विरोध करते हैं।

अहिंसात्मक असहयोग की विधि अहिंसा के सिद्धान्त के आधार पर है, जो कि भारत की धार्मिक और नैतिक परम्पराओं में बहुत अधिक व्यापक है। इस प्रकार इस उपाय को अमल में लाने की गांधीजी की कोशिशों से भारत की भावना की विशेषता प्रतिबिम्बित हुई है। भारतीय विचार और जीवन में अहिंसा के जिस पूर्ण या निरपेक्ष रूप की कल्पना की गई है, पश्चिम ने उसे ज्यों-का-त्यों कभी भी स्वीकार नहीं किया है। इसकी सम्भावना नहीं है कि उसे कभी निरपेक्ष रूप में माना जायगा, क्योंकि वह आमतौर पर व्यक्तित्व के मूल्य की अपेक्षा सामान्य जीवन के मूल्य को ऊँचा चढ़ाती प्रतीत होती है। लेकिन राजनीति में अहिंसा के प्रयोग के सिद्धान्त ने पश्चिम के बहुत-से लोगों में एक नई अन्तर्दृष्ट और भारत के हृदय के बारे में एक नई उच्च धारणा पैदा की है।

लेकिन गांधीजी के अहिंसात्मक असहयोग में किये गये इन प्रयोगों में एक महान् भारतीय परम्परा की महत्ता के प्रकाश में आने के सिवा कुछ और भी चीज़ मौजूद है। उन्होंने अन्याय के विरोध और न्याय की प्राप्ति के लिए नया ही तरीक़ा बतलाया है। वास्तव में हमें अहिंसा के बारे में अतिरंजित दावा नहीं करना चाहिए। कल्पना यह है कि जो लोग इस उपाय को ग्रहण करते हैं वे स्वयं कष्ट झेलना और दूसरे को कष्ट पहुँचाने से बचाना स्वीकार करते हैं। व्यवहार में दूसरी शर्त को पूरा करना बड़ा कठिन है। अहिंसात्मक असहयोग का सबसे अधिक प्रकट रूप है आर्थिक बहिष्कार, और इसमें हमेशा किसी-न-किसी हदतक दूसरे को कष्ट पहुँचाना शामिल रहता है। और न इसी आधार पर हम अहिंसा को तरजीह दे सकते हैं कि उनके हिंसा की बनिस्बत ज्यादा कारगर होने की संभावना है। ऐसी दुनिया में, जहाँ कि कुछ आदमियों ने परपीड़न को धर्म और पाशविकता को एक प्रथा बना लिया है, अहिंसात्मक असहयोग का, कम-से-कम तात्कालिक परिणाम तो प्रत्यक्षतः निरर्थक बलिदान होगा। लेकिन सब कुछ कहे जाने के बाद, अहिंसात्मक असहयोग के तरीक़े युद्ध की सामूहिक विषमताओं और बुराइयों की अपेक्षा अपरिमितरूप से स्वच्छतर और उच्चतर हैं। और हमारी दुनिया को गांधीजी की यही चुनौती है,—'क्या बुराइयों का मुक़ाबिला करने और अन्यायों को ठीक करने के लिए पाशविक शक्ति के प्रयोग और युद्ध के वर्तमान भयंकर शस्त्रों के सिवा और कोई मार्ग नहीं है ? और अगर कोई है तो क्या वे लोग जो मानवता की रक्षा के लिए चितत हैं उसकी तलाश करने और उसपर चलने के लिए बाध्य नहीं हैं ? सबके ऊपर

क्या उन लोगों को जो ईसा के आत्म-बलिदान में विश्वास रखते हैं, अपनेको उससे बँधा हुआ नहीं समझना चाहिए ? गांधीजी का नेतृत्व युद्ध के भय और उसके लिए होने-वाली तैयारियों से परेशान दुनिया के लिए एक चुनौती और आशा की एक किरण के समान सामने आता है।

अगर गांधीजी डिक्टेटरों जैसे राष्ट्रीय नेताओं की अपेक्षा अधिक ऊँची सतह पर माने जाते हैं, सो इसका एकमात्र कारण यह है कि उन्होंने राजनतिक आन्दोलन के क्षेत्र में नैतिक सिद्धान्तों को अपनाया है; बल्कि उनकी दरिद्र और पीड़ितों के उन मेवकों में गिनती किया जाना भी है, जो ईसा के माप से नापे जाने पर महान् ठहरते हैं। कुछ भी हो, गांधीजी की स्वराज्य की माँग भारत की पतनकारी दरिद्रता के साथ ज़बर्दस्त मुक़ाबिले की आशा से प्रेरित रही हैं। उनकी ब्रिटिशराज्य की मुख्य आलोचना इस आधार पर नहीं है कि वह ब्रिटिश या विदेशी राज्य है, जितनी इस आधार पर कि उसने ग़रीबों की अवहेलना की है। जिन बातों की उन्हें निश्चित चिन्ता रहती है, वह है दरिद्रों की, मनुष्यता को ऊँचा उठाना, गाँव के संघ-जीवन का पुनरुद्धार और बहिष्कृतों की समाज के अंग के रूप में पुनः प्रतिष्ठा। इन सबमें गांधीजी, कगावा और स्वीट्ज़र के समकक्ष हैं, और वह ख़ुद इस बात को स्वीकार करेंगे कि कम-से-कम कुछ हद तक उनकी प्रेरणा का स्रोत वही है, जोकि इनका है। यहाँ उनका जीवन और कार्य स्पष्टतः ईसा की, जोकि अपराधियों और पापियों का मित्र कहा जाता है, भावना से मिलता हुआ है। शोषित और पीड़ित वर्ग के प्रति उनकी आत्मोत्सर्गमयी सेवा-निष्ठा में प्रकट होनेवाली उनकी इस वास्तविक महत्ता पर ही उनकी चिरस्थायी कीर्ति क़ायम रहेगी।

अहिंसा (प्राणों को आघात न पहुँचाना) और सत्याग्रह (आत्मिक बल पर निर्भर रहना) उच्च सिद्धान्त हैं और राजनैतिक व्यवहार के एक नये रूप में उन्होंने कुछ शानदार कोशिशों की प्रेरणा की है। लेकिन दोनों में से कोई भी सिद्धान्त तबतक अपनी वास्तविक अभिव्यक्ति और पूर्ण चरितार्थता को नहीं पहुँचता जबतक कि वह पाप के प्रति क्षमाशीलता में लीन नहीं होजाता। अपने दोषों को स्वीकार करने की तत्परता और अपने प्रति किये गये अपराधों को क्षमा करने की सदिच्छा के वास्तविक आधार पर ही राजनीति, स्थिर राष्ट्रीय जीवन और विशुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की नींव खड़ी की जानी चाहिए। गांधीजी का सत्याग्रह क्षमादान की इस व्यवस्था के बिलकुल निकट आता है। लेकिन फिर भी वह उसमें पूर्णरूपेण मूर्तिमान नहीं है। किसी सुनिश्चित योजना की अपेक्षा दैवयोग के कारण प्रायः दो शताब्दियों से भारत और ग्रेट-ब्रिटेन का भाग्य आश्चर्यजनक रूप से एक-दूसरे के साथ गुंथा हुआ है। ब्रिटिश कारनामों में ऐसी बहुत बातें हैं, जिन्हें क्षमा कर देने की जरूरत है। साम्राज्यवादिता के कारण भारतीय और ब्रिटिश जनता के सम्बन्ध विषाक्त हो गये हैं और कदाचित् पूर्ण सम्बन्ध-

विच्छेद ही उस विष को दूर कर सकता है। और स्पष्ट ही वह समय आगया है जब कि भारत को अपनी पसन्द के नेताओं की अधीनता में अपने भाग्य का निर्णय कर लेना चाहिए। अवश्य ही अगर हमें जुदा होना हो, तो क्या हम क्षमा और सहिष्णुता की भावना के साथ जुदा नहीं हो सकते ? और अगर हम भारतीय और ब्रिटिश दोनों ही सच्चाई के साथ और व्यवहारत: अपराधों की क्षमा के सिद्धान्त में विश्वास रखते हों, तो क्या हमें जुदा होने की कोई आवश्यकता भी है ? राष्ट्रीय अहंभाव से पीड़ित और थकित दुनिया को कितना प्रोत्साहन मिले, अगर ब्रिटिश साम्राज्यवाद और अहिंसात्मक असहयोग दोनों ही लुप्त होसकें और भारत और ब्रिटेन के बीच, पूर्व और पश्चिम के बीच, हार्दिक साझेदारी उनका स्थान ले सके। गांधीजी की इकहत्तरवीं जन्मतिथि मनाने अथवा अपने देशवासियों और मानव-समाज के प्रति की गई उनकी सेवा के लिए ईश्वर का गुण मानने के लिए मेरी कल्पना में मार्ग इससे बढ़कर और कोई मार्ग नहीं हो सकता कि उक्त दोनों ही देशों की जनता के हृदयों में क्षमादान की वह भावना उत्पन्न होने की कल्पना करूँ, जो सम्भव है सच्ची सुलह और सुस्थायी मैत्री के रूप में फलीभूत हो।

: ५६ :

# गांधीजी—सैंतालीस वर्ष बाद

## सर फ्रांसिस यंगहसबैण्ड, के. सी. एस. आई.

[ लन्दन ]

महात्मा गाँधी अब संसारभर में प्रसिद्ध होचुके हैं। उनकी यह प्रसिद्धि इसलिए नहीं है कि उन्होंने भय और आशंकाओं का ऐसा वातावरण पैदा किया जो राष्ट्रों को शस्त्रास्त्रों की होड़ में सबसे आगे रहने के भीषण संघर्ष की ओर धकेलता है, बलिक इसलिए हुई है कि उन्होंने स्वयं अपने देशवासियों में साहस उत्पन्न कर उन्हें नैतिकता के पथ पर अग्रसर किया। लेकिन पहलेपहल जब मुझे उनका परिचय हुआ, वह एक सर्वथा मामूली शिष्ट और अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त नवयुवक थे। यूरोप आनेवाले हजारों दूसरे भारतीयों और उनमें एक रत्ती भी अन्तर नहीं मालूम होता था। उनकी आयु तीस वर्ष के भीतर थी, और दूसरे लोगों की तरह अंग्रेज़ी पोशाक पहने हुए थे। उनमें कोई ख़ास बात दिखाई नहीं देती थी।

पर उस समय भी वह अपनेमें वह साहस, अपने उद्देश्य पर कठोरता से डटे रहने की दृढ़ता और सबसे अधिक पीड़ितों के प्रति वह अद्भुत अनुकम्पा दिखाने लग गये थे, जो हमारे दक्षिण अफ्रीका में डरबन में पहली बार मिलने के बाद से इन सैंतालीस वर्षों में और अधिक वृद्धिगत और घनीभूत ही हुई है। भारतीयों के नेटाल

के प्रवास का प्रश्न उस समय का गर्म सवाल था। नेटाल अपनेको एक समृद्ध उपनिवेश बना रहा था। वह भारतीयों की एक थोड़ी-सी संख्या को आने देने के लिए तैयार था, अपरिमित संख्या को नहीं। दक्षिण अफ़्रीकावासियों ने उसे बसाया था और वे उसपर प्रधानतः अपना ही प्रभुत्व रखना चाहते थे। इसलिए जब भारतवासियों नें इस तेज़ी से आना शुरू किया कि जल्दी ही वहाँ उनकी संख्या अत्यधिक बढ़ जाती, तो नेटालवासियों ने उनपर रोक लगाने का निश्चय किया। यह मामला ठीकठाक हो सकता था। लेकिन भारतीयों को उस दुर्व्यवहार से, जो उनके साथ, किया, गया गहरा असन्तोष हुआ। अमीर और ग़रीब, शिक्षित और अशिक्षित, सबको एकसमान 'कुली' की श्रेणी में रक्खा गया। गांधीजी एक 'कुली' थे, मालदार व्यापारी 'कुली' थे। जिस तरह चीन में सब यूरोपियन 'विदेशी शैतान' कहे जाते थे, यहाँ सब भारतीय 'कुली' थे।

यद्यपि गांधीजी उस समय नवयुवक ही थे, फिर भी भारतीयों के अधिकारों की हिमायत करने में वह भारतीय जनता के नेता बन गये थे। वह डरबन की एक अच्छी सुसज्जित अंग्रेज़ी कोठी में रहते थे, और एक भोज के समय, जब कि उन्होंने मुझे 'टाइम्स' के संवाददाता के रूप में निमन्त्रित किया था, मैंनें उन्हें "एक ख़ास तौर पर बुद्धिमान और सुशिक्षित व्यक्ति" पाया। लेकिन बाद में उन्होंने जो कुछ किया, उसके लिए महज़ बुद्धिमत्ता और शिक्षा के अलावा और भी बहुत कुछ चाहिए था। दक्षिण अफ़्रीका में फैला हुआ जाति-विद्वेष उस समय भीषण रूप धारण किये हुए था। बोअर और अँग्रेज़ों के बीच, दक्षिण अफ़्रीकवासियों और नीग्रो जातियों के बीच, और अँग्रेज़ और भारतीयों के बीच विरोध फैला हुआ था। एक नौजवान भारतीय वकील का उसके साथ मुक़ाबिले के लिए खड़ा होना एक ऐसे साहस और चरित्रबल का परिचायक था, जो कितनी ही बौद्धिक शिक्षा के मुक़ाबिले में कहीं अधिक लाभप्रद सिद्ध हुआ।

अपने लाभकारी पेशे का बलिदान करने और भारतीय हितों की हिमायत म जेल जाने और बदनामी सहने की अपनी तैयारी के कारण वह अपने भारतीय बन्धुओं की प्रशंसा के और अन्त में उनकी श्रद्धा के भाजन बन गये।

लेकिन उनका सबसे बड़ा काम तो उनके अपने ही देश में होने को था। दक्षिण अफ़्रीका में उन्होंने भारतीयों के लिए जो कुछ भी किया, उससे यह ज़ाहिर हो गया था कि वह एक नेता और अगुआ हैं। जब वह दक्षिण अफ्रीका छोड़कर हिन्दुस्तान में लौट, तो वहाँ उन्होंने अपने काम के लिए और भी अधिक विस्तृत क्षेत्र पाया। उनका देश एक विदेशी जाति द्वारा शासित था। वह चाहते थे कि हिन्दुस्तान में हिन्दुस्तानी ही शासन करें। हिन्दुस्तानी स्वयं हिन्दू और मुसलमान दो बड़ी जातियों में बटे हुए थे। वह उनको एक ही भारतीय सूत्र में बाँध देना चाहते थे। उनकी अपनी हिन्दू जाति में ही अस्पृश्य जातियों की दुर्दशा, स्त्री-समाज की स्थिति, गांवों की

दरिद्रता आदि अनेक प्रकार की बड़ी सामाजिक बुराइयाँ थीं। वह इन सबको सुधारना चाहते थे, पर सुधारना चाहते थे अन्दर से।

उन्होंने स्वयं सरकार को चुनौती देने का साहस किया और उसके क़ानून तोड़ने के अपराध में जेल भुगती, मरणासन्न स्थिति पर पहुँच जाने तक उपवास किया। सारे देश का दौरा किया। उन्होंने जन-साधारण का-सा जीवन व्यतीत किया और अछूतों के बीच में और बिलकुल उनके-से बनकर रहे। आत्मबलिदानपूर्ण उनके जीवन नें अबतक अपने देशवासियों पर विजयी प्रभाव छोड़ा है। उनके व्यक्तित्व, उनकी देशभक्ति, उनकी भावना का असर सब जगह देखने में आता है। भारतीय एक महात्मा के रूप में उनकी पूजा करते हैं। बल-प्रयोग की अपेक्षा नैतिक प्रबोधन का उनका सिद्धान्त विजयी सिद्ध हो रहा है। उन्होंने अपने देश को आदरास्पद बना दिया है।

हम अंग्रेज़ सदा यह आशा रक्खेंगे कि भारत साम्राज्य के अन्दर बना रहे। लेकिन कम-से-कम मैं यह आशा करता हूँ कि यह उसकी अपनी इच्छा से ही हो। उसने अपनें लिए जो सम्मान प्राप्त कर लिया है, उसी सम्मान के साथ उससे व्यवहार किया जाय।

## : ५७ :

# देशभक्ति और लोकभावना

### सर एल्फ्रेड ज़िमेर्न, एम. ए.

[ अध्यापक, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी ]

भारत पर यूरोप के राजनैतिक विचारों का बहुत असर पड़ा है। फिर भी अफ्रीका के सम्भावित अपवाद के सिवा, यूरोप—१९३९ का यूरोप—राजनैतिक दृष्टि से क्या बाक़ी पांचों महाद्वीपों में सबसे पिछड़ा हुआ नहीं है? राजनीति खुशहाली की दोनों कसौटियों, दोनों स्पष्ट राजनैतिक गुणों—न्याय और स्वातंत्र्य—का क्या आज अधिकांश यूरोप में पददलन नहीं हो रहा है? यूरोप के अधिकांश, बड़े और छोटे दोनों, राज्य उन्हें जिस तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं, क्या वह, अंशतः पर ज़रूर बड़े अंश में, यूरोप के राजनैतिक विचारकों के सिद्धान्तों और शिक्षा का प्रतिबिम्ब ही नहीं है? क्या यह सब यह सूचित नहीं करता कि भारत को उन राजनैतिक विचारों पर सतर्क दृष्टि रखनी चाहिए जोकि यूरोपीय प्रायद्वीप से बहने वाली पश्चिमी हवा के साथ बहकर इस देश में आते हैं?

एक या दो वर्ष पहले प्रेसिडेण्ट रूज़वेल्ट ने कहा था—"नव्वे फ़ीसदी मानव-समाज शान्ति चाहता है।" सम्भवतः यह संख्या असलियत से कम है। तब, प्रश्न उठता है कि संसार में यह अशांति क्यों है? शांतिप्रिय नव्वे फ़ीसदी लोग, जिनका

कि उपद्रवकारी लोगों की तरह उनकी उपद्रवकारी योजनाओं से कोई निकट या हार्दिक सहयोग होने की सम्भावना नहीं है, उपद्रवकारी दस फ़ीसदी लोगों पर अपनी इच्छा क्यों नहीं लागू करते ?

उत्तर है, '**ग़लत विचार-सरणी**।' अवश्य ही नव्वे फ़ीसदी में बहुत-सी बुराइयाँ हैं। उनमें से कुछ आलसी हैं, दूसरे कायर हैं और अधिकांश स्वार्थी हैं। लेकिन, अगर इन सबके पीछे एक तरह का 'बौद्धिक' गोलमाल न होता तो इन बुराइयों का, जिनमें कि कुछ तो खुद अपनेआप मिट जातीं, इतना अनर्थकारी परिणाम न होता जितना कि हम देख रहे हैं। यह बौद्धिक गोलमाल ही है, जो तथाकथित शांति-प्रेमियों में एकता स्थापित करनें के प्रयत्नों को निकम्मा कर देता है। यही मुट्ठीभर उपद्रवकारियों को नेतृत्व पर बलपूर्वक अधिकार करने और उसे अपने कब्जे में रखने का मौका देता है और नव्वे फीसदी के लिए ऐसी दीन-हीन स्थिति में बने रहनें का कारण बनता है।

अगर हम वर्तमान राजनैतिक समस्या को घटाकर एक अकेले शहर—मान लीजिए लन्दन या दिल्ली—की परिधि में सीमित कर दें, तो हम यह आसानी से देख सकेंगे कि इस तरह के आदमी के साथ, जोकि यूरोप को एक मुसीबत में फँसाये हुए हैं, व्यवहार करने का सही तरीका क्या है। सब नागरिक ऐसे व्यक्ति को अव्वल नम्बर का सार्वजनिक शत्रु मानेंगे और उनमें बहुतेरे हट्टे-कट्टे लोग अपनेआपको सार्वजनिक शान्ति के लिए जिम्मेदार अधिकारियों को अपनी स्वयं सेवायें देने को तैयार होजायेंगे। उपद्रवप्रिय दस फीसदी लोगों के बुरे इरादों को समाज के बचे हुए लोगों की सार्वजनिक भावना विफल कर देगी।

वही पद्धति यूरोपीय महाद्वीप के विस्तृत क्षेत्र पर कारगर क्यों नहीं होती ? क्यों हम छोटे राज्यों को भयत्रस्त स्थिति में रहते और कुछ को बेरहमी के साथ मानचित्र पर से मिट जाते हुए देखते हैं ?

उत्तर है, क्योंकि आज की दुनिया में और खासकर यूरोप में पर्याप्त **लोकभावना** नहीं है।

लेकिन क्या यूरोप-निवासी, प्राय: बिना किसी अपवाद के, अत्यन्त देशभक्त नहीं हैं? क्या वे एकसाथ अपने-अपने देश के लिए मर-मिटने को तैयार नहीं हैं ? क्या एक पीढ़ी पहले उन्होंने बहुत भारी संख्या में ऐसा नहीं किया था ?

अवश्य किया था लेकिन लोक-भावना और देशभक्ति-भावना एक ही तरह की वस्तु नहीं हैं। लन्दन या दिल्ली में होनेवाली डकैती को वहाँ की जनता अपनी सार्वजनिक भावना से रोक देती है। क्या ऐसी सार्वजनिक भावना सारी दुनिया में या यूरोप में मौजूद है ? इसे ही अगर दूसरे शब्दों में रक्खा जाय तो, क्या वास्तव में कोई विश्व-समाज या यूरोपीय समाज है ?

एकबारगी इस रूप में प्रश्न किया जानें पर यह स्पष्ट है कि उसका उत्तर

नकारात्मक होगा। डाकू अपनी डकैतियाँ इसीलिए जारी रख पाते हैं कि हर गृहस्थ एक-एक कर देश-भावी तो है,—अपने निज के घर, परिवार और सम्पत्ति की रक्षा के लिए मर-मिटने के लिए तैयार है,—लेकिन नगर में सामूहिक रूप में लोक-भावना का अभाव है। इस प्रकार लुटेरे आराम के साथ तबतक एक घर से दूसरे घर पर धावा बोलते रहते हैं जबतक लूट के माल से उनका जी नहीं भर जाता। तब उन्हें भी यह मालूम होने लग सकता है कि उनकी तात्कालिक योजनाओं की सफलता के बावजूद, उनकी व्यापक योजना में कुछ-न-कुछ ग़लती है, क्योंकि बीसवीं सदी की दुनिया में शासक लोग लूट के माल पर अपना गुज़ारा नहीं कर सकते। समाज-विरोधी उपायों से वे अनिश्चित समय तक शासन नहीं कर सकते। विश्वास, साख और परस्पर-निर्भरता के तत्त्वों की वे अवहेलना नहीं कर सकते।

लेकिन हमें डाकुओं की ग़लत राजनैतिक विचार-सरणी के सम्बन्ध में परेशान होने की ज़रूरत नहीं है। घटनाचक्र के निष्ठुर प्रवाह से वह जल्दी ही काफ़ी स्पष्ट होजायगी। हमें तो उन्हीं लोगों की राजनैतिक विचारसरणी से मतलब है जो उनके शिकार होते हैं।

अलग-अलग गृहस्थ आपस में मिलकर नागरिकों की तरह विचार और कार्य क्यों नहीं कर सकते, इसके दो कारण हैं। एक प्रथा से उत्पन्न हुआ है और दूसरा सजग विचार से। बेलजियमवासी यह सोचने के आदी नहीं हैं कि वे ऐसे ही शहर में रह रहे हैं जैसे कि हालैण्डवासी। हालैण्ड और बेलजियम दो स्वतंत्र देश हैं। प्रत्येक हालैण्डवासी हालैण्ड का और बेलजियमवासी बेलजियम का होकर सोचने का आदी है।

इस मामले में प्रथा बहुत अधिक अरसे से नहीं चली आ रही है, क्योंकि बेल-जियम का राज्य मुश्किल से एक सदी पुराना है। लेकिन स्वतः यह बात कि उन्नीसवीं सदी में, यानी ठीक उस समय जबकि औद्योगिक क्रान्ति परस्पर-निर्भरता की एक विश्व-व्यापी प्रथा स्थापित करती हुई जान पड़ती थी, उस राज्य की स्थापना हुई। इस बात का प्रमाण है छोटी-छोटी इकाइयों से चिपटे रहने यानी अपने-अपने घरों में रहने की इच्छा की प्रबलता।

मैंने 'इच्छा' शब्द का प्रयोग किया है। इसके बजाय मैं 'सहज-प्रवृत्ति' शब्द का प्रयोग कर सकता था। अवश्य ही मनुष्य-स्वभाव में—मानव-समुदाय में कुछ अपवादों को छोड़कर सबके स्वभाव में—एक वृत्ति गहराई से जड़ पकड़े हुए होती है, जो एक तरह के लोगों को छोटे-छोटे समाजों के रूप में एकत्र करती और पराये या, जैसाकि हम कहते हैं, 'विदेशी' के विरुद्ध रुकावट खड़ी करती है। बड़ी दुनिया में लोक-भावना की उत्पत्ति में यही बड़ी मानसिक अड़चन है। सन्तति-क्रम से ख़ून में ही चलते आने के कारण वह अड़चन आनुवंशिक भी है। अगर इकाई काफ़ी छोटी हो तो मनोविकास और जीव-विकास की दृष्टि से देश-भावी होना आसान है।

देश-भावना सुगम है। लोक-भावना कठिन है। विश्व-बन्धुत्व एक दुष्कर भावना है।

यह तो हुआ प्रथा की कठिनाई के सम्बन्ध में। अब दूसरी को लें। अधिक व्यापक सार्वजनिक भावना के मार्ग की दूसरी रुकावट शुद्ध बौद्धिक है।

इस क्षेत्र की कठिनाई का सार यह है कि वर्तमान यूरोप के राजनैतिक सिद्धांत—वे सिद्धांत जिनमें कि यूरोप के राजनीतिज्ञ और नागरिक पले हैं—पुराने पड़ गये हैं। वे इस युग की स्थिति के अनुकूल नहीं हैं। कोई भी राजनैतिक सिद्धान्त पूर्ण या पवित्र नहीं कहा जा सकता। राजनैतिक सिद्धान्त की सब रचनाओं का आधार इसके सिवाय और कुछ नहीं है कि उसके दो महान् आधारभूत तत्त्व, न्याय और स्वाधीनता, किस स्थिति में किस प्रकार प्रयुक्त होते हैं। वर्तमान यूरोप का यह दुर्भाग्य है कि उसकी जनता के मस्तिष्क और हृदय पर आज जिन धारणाओं का साम्राज्य है वे वास्तविक स्थिति के अनुपयुक्त हैं। वे उस ज़माने के बने हुए हैं जब प्रत्येक व्यक्तिगत राजनैतिक इकाई अपने ही में मस्त और निश्चय ही, एक काफ़ी हद तक, आर्थिक दृष्टि से स्वयं तुष्ट रहने में समर्थ हो सकती थी। "Sovereignty" (एकच्छत्र सत्ता) शब्द, जो आज भी यूरोपीय राजनीतिज्ञों और पार्लमेण्टेरियनों को प्रिय है, सोलहवीं सदी की उपज है। अवश्य ही उस समय वह नूतन और क्रान्तिकारी था। वह उस ज़माने की परिस्थिति के उपयुक्त था। आज की परिस्थिति के वह उपयुक्त नहीं है।

यूरोप के देश-प्रेम—यानी राष्ट्र की ममता—की मिश्रित भावना में यह दूसरा तत्त्व इतना पुराना नहीं है। अपने वर्तमान यूरोपीय रूप में वह अठारहवीं सदी के अन्तिम चरण से पुराना नहीं है। फ्रांस की राज्यक्रान्ति से कुछ वर्ष पहले ही राजनैतिक विचारकों ने राज्य और राष्ट्र को अभिन्न बनाना शुरू किया। फ्रांस की क्रान्ति ने फिर उस अभेद को पकड़ा, जकड़ा और उसे यूरोपभर के 'प्रगति' वादी दल का प्रचलित और कट्टर सिद्धान्त बना दिया। Nation State (राष्ट्र शासन) के सिद्धान्तवादियों ने इस बात की कुछ परवा नहीं की कि एक ऐसे महाद्वीप की परिस्थिति के लिए, जहाँ कि राष्ट्र अविभाज्य रूप से एक-दूसरे में मिले-जुले रहते हैं और जहाँ कुछ सबसे अधिक प्रबल राष्ट्रों की आबादी कुछ लाख से अधिक नहीं है, उक्त सिद्धान्त सर्वथा अनुपयुक्त है। इसीसे यूरोप का कोई टुकड़ा लीजिए, महल और झोंपड़े का अजब जमघट आपको मिलेगा। महलों को हम 'बड़े राज्य' कहते हैं झोंपड़ों को 'छोटे राज्य', पर दोनों में ही रहनेवालों को अपनी हिफ़ाज़त की चिन्ता है। सबको समान सुरक्षा चाहिए। एक-सी पुलिस चाहिए, आग-बचाव के एक-से साधन—आने-जाने को एक सड़क, एक मार्ग।

जबतक वे अपनेमें नागरिकता का भाव पैदा न कर लेंगे तबतक ये चीज़ें न पा सकेंगे। कुछ जगह जो यातनायें सहनी पड़ रही हैं और सर्वत्र जो व्यग्रता फैली हुई है, उसके कारण उनमें यह चेतनता पैदा होती जा रही है।

बीसवीं सदी की दुनिया में जीवन के आधार के लिए नागरिकता का भाव जाग्रत रहना अनिवार्य है।

क्या उत्तरीय अमरीका और भारत जैसे महादेश इसे प्रत्यक्ष करने में यूरोप की अपेक्षा आगे बढ़े हुए नहीं हैं?

अगर ऐसा है तो वह इसलिए है कि वे या तो उत्तर अमरीका की तरह अधिक आधुनिक स्थिति में बढ़े हैं या फिर भारत की भांति उन्होंने ऐसे व्यक्तियों की शिक्षा से लाभ उठाया है, जिनके विचार स्वभावतः ही नगर, प्रान्त अथवा राजधानियों की संकुचित परिधि में सीमित न रहकर विशालतर और उच्चतर जगत् में विचरते हैं। अगर महात्मा गांधी हमारे युग के महापुरुषों में एक हो गये हैं तो इसका कारण यह है कि वह भारत और भारत से बाहर के लाखों के लिए दो ज़बर्दस्त विचारों के, जो अक्सर एक-दूसरे से अलग या एक-दूसरे के विरोधी समझे जाते हैं, संयुक्त रूप में सजीव प्रतीक हैं। वे दो विचार हैं: एक तो सार्वजनिक कर्तव्य की भावना, जो 'अखिल भारतीय' शब्द से प्रकट होती है; दूसरी मानव-बन्धुत्व की भावना, जो अधिकारविहीन और समाज की सेवा के लिए किये गये उनके कार्यों से व्यक्त होती है। और यह उदाहरण है कि किस प्रकार एक कृशकाय मानव प्राणी की निर्भीक एवं अजेय आत्मा स्वातन्त्र्य और न्याय के नित्य-प्रति काम आनेवाले परिचित शब्दों में नया अर्थ डाल सकती है।

: ५८ :

# गांधीजी के प्रति कृतज्ञता-प्रकाश

**आरनल्ड ज्वीग**

**[ हैफ़ा, माउण्ट कारमेल, फ़िलस्तीन ]**

जब हम महासमर से निवृत्त हुए तो दुनिया में आकांक्षाओं की सीमा नहीं थी। रक्तपात के पागलपन का उससे होनेवाले मदोन्माद का और पशुबल उन्मत्तता का अन्त होने को था। ऐसा जान पड़ता था कि भावना को सार्वजनिक कार्यों में व्यवहृत होने का इससे बढ़कर सुयोग कभी नहीं मिला था। संसार अधिक न्यायशील, अधिक सहिष्णु, अधिक अच्छा और अधिक दयालु होने को था। मध्ययूरोप के उच्च कोटि के सभ्य देशों—विशेषतया जर्मनी, चेकोस्लोवेकिया, आस्ट्रिया और पोलैण्ड में तो उन बेहद मुसीबतों का नतीजा कम-से-कम यही होना था। मगर इतने विपुल रक्त का अर्घ्य देने पर भी समाज का मूल कायापलट नहीं किया जा सका—जैसा कि रूस के बारे में कहा जा सकता है—तो कम-से-कम हमें बल-प्रयोग के युग का अन्त कर देना था और सद्भावना के युग का सूत्रपात।

तब गांधी-जैसे नक्षत्र का उदय हुआ। उन्होंने दिखला दिया कि अहिंसा का सिद्धान्त सम्भव कोटि का है। ऐसा जान पड़ता था कि मानों वह अपने सिद्धान्तों के अनुकूल, किन्तु वस्तुतः उस नींव पर ही जो ईसाईमत के पुरातन सिद्धान्तों से टाल्स्टाय और प्रिंस क्रोपाटकिन ज़ार के रूस में रख चुके थे, मानव-समाज का नवनिर्माण करने आये हैं। जर्मनी में भी इस विश्वास में निष्ठा रखनेवाले लोग विद्यमान थे। कुर्ट आइज़नर, गुस्टाफ़ लाण्डॉयर, कार्ल फॉन ओस्सिट्ज्की, एरिक मूहसाम और थ्योडोर लेस्सिंग जैसे व्यक्ति कुछ और नहीं चाहते थे। जब गांधीजी हिन्दुस्तान में सफल हो गये तो वह जर्मनी में असफल हो सकते थे ?

अब हम इस प्रयास का परिणाम तो जानते ही हैं। यह सब-के-सब बल-प्रयोग के विरोधी—जिनके नाम आदरपूर्वक ऊपर लिये गये हैं—नृशंसतापूर्वक मार डाले जाकर एक ही क़ब्र में दबे पड़े हैं। हाँ, ओस्सिट्ज्की के मामले में तो हत्याकारी की गोली की जगह क्षय ने लेली थी। परन्तु ये सब हत्याकारी—उदाहरण के लिए राटेनाउ के हत्याकारी या माट्टेओट्टि की हत्या को उत्तेजन देनेवाले—आदर और शान का उपयोग करते हैं। जहाँ एक समय असमय में ही आध्यात्मिकता का राज्य होगया था वहाँ अब सिंहासन पर पशुबल का सम्मान होरहा है, उसकी पूजा हो रही है और उसे चिरञ्जीवी बनाया जा रहा है। प्रकृति और प्राकृतिक वस्तुओं के झूठे आशय बताये गये। जीवन-संघर्ष के नाम से चलनेवाले सिद्धान्त की इकतरफ़ी व्याख्या हुई और दुहाई दी गई कि उससे छँटाव होगा और ऐसे ही मनुष्य उन्नत होगा। और इस प्रचार का समर्थन लेकर स्तूप की भांति चंगेज़ख़ाँ के नये-नये संस्करण उठ रहे हैं। आये साल नये के नाम पर उन वाद-प्रवादों से पढ़ाई की किताबों में ज़हर भरा जाता है जो मैसोपोटामिया के हम्मूरब्बी के नीति-संग्रह के वक्त ही झूठे और जीर्ण पड़ चुके थे।

हमें यहाँ यह दिखाने के लिए आधुनिक जीव-विज्ञान का आश्रय लेने की आवश्यकता नहीं कि पशु-बल के पुजारी के सिद्धान्त मिथ्या हैं और प्रकृति के बारे में उनके लगाये हुए अर्थ भी त्रुटिपूर्ण हैं। आज हम गांधी को इसीपर बधाई देंगे कि वह हिन्दुस्तान में जन्मे और रह रहे हैं और अंग्रेज़ों से उनका व्यवहार पड़ा है, मध्य-यूरोपियनों से नहीं; क्योंकि उन पशुओं से जो आज वहाँ राज्य कर रहे हैं उनकी मानवता के प्रति कुछ भी आदर की आशा नहीं की जा सकती, मगर हम यहाँ उनकी ओर दुःख और अनुपेक्षणीय कृतज्ञता से देखते हैं। बीस वर्ष पहले उस तेज-बिम्ब को जो उनके चारों ओर था, हमने नवयुग का उषाकाल समझा था। आज हम असमंजस में हैं कि कहीं वह उस युग का संध्यालोक तो नहीं था, जो विश्वयुद्ध के साथ ही बीत गया और जिसके पीछे ऐसी नृशंस बर्बरता का युग आया जिसकी हमनें कल्पना तक नहीं की थी। उन स्थानों तक में, जहाँ यहूदी पैग़म्बर और ईसाई-मत के दिव्य संस्थापक रहते थे और विचरण करते थे, आज 'त्रास' का राज्य है, वहाँ शस्त्रहीन निर्बलों का रक्तपात

मचा हुआ है और पाशविकता राजनैतिक अस्त्र समझी जा रही है। शायद भूमध्य-सागर के देशों के भाग्य में शांतिपूर्ण जनता की हत्या का ज़माना ही लिखा है, जिसे आज स्पेन और चीन में शक्तिशाली राष्ट्र भुगत रहे हैं। जिस निरे उल्लास से उन्मत्त होकर इटली के हवाई जहाज़ों ने अबीसीनिया में बम-वर्षा की, उसनें शायद हमारी उस समूची सभ्यता को ग्रस लिया है जिसे हमारी गौरवशील अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों ने बड़े-बड़े प्रयत्नों से सिरजा और यूरोप में विजयोत्कर्ष तक पहुँचाया था। यह हम नहीं जानते। परन्तु हम, जिनकी शक्ति शब्द हैं और जिनकी जिन्दगी बिना पशुबल का आश्रय लिये बीत रही है, अपने उच्च स्वर से समुद्रपार के वासी उस महात्मा का अभिनंदन करते हैं तथा उन्होंने जो हमें हमारी भूलें बतलाई हैं और अपने व्यक्तित्व एवं जीवन के द्वारा हमारे युग को पूर्णता की दिशा में बढ़ाया है उसके लिए उनका गुण मानते हैं।

ग़लतियाँ! कौन जानता है? जैसे कि बीसवीं सदी के यूरोप में सामर्थ्य था कि वह उन पवित्र सिद्धान्तों की नकल कर सकता और ब्रिटिश साम्राज्य की भूमि भारत देश को, जिसने गौतम बुद्ध और उनका काल देखा है, ऐसे व्यक्ति प्रदान कर सकता, क्योंकि विश्व-इतिहास को देखते हुए तानाशाहों, उनके अनुचरों और उनके तलुए चाटनेवाले गुलामों की फौजों के संदेश पालन करने की बनिस्बत सभ्यता की भूलें कर जाना कहीं अच्छा है।

परन्तु गांधीजी को अपने ७१वें वर्ष में वल प्राप्त है उस सब शक्ति का जो मानवार्जित शक्तियों में श्रेष्ठतम और उत्कृष्टतम है। जीवनारंभ में जिसे प्रारंभ किया उसीकी परिपूर्णता में वह अथक भाव से लगे हैं। हम उनके अनुगामी हैं, इसका उन्हें निश्चय है।

## : ५६ :

# सत्य की हिन्दू धारणा

**जे. एच. म्यूरहेड, एफ. बी. ए., एल-एल. डी.**

**[ भूतपूर्व अध्यापक, दर्शन-शास्त्र, बर्मिघम यूनिवर्सिटी ]**

इस अभिनन्दन-ग्रन्थ में कुछ पंक्तियाँ भी लिखकर योग देने का अवसर पाना मेरे लिए बड़े गौरव की बात है। यह उस पुरुष का अभिनन्दन है जिसने सामयिक इतिहास को अपने विलक्षण प्रकार में ऐसी प्रभा दी है जैसी कि कोई और नहीं देसका। उसनें रोम्याँ रोलाँ के शब्दों में 'तीस करोड़ से ऊपर अपने देशबन्धुओं में एक जाग्रति पैदा कर दी है, ब्रिटिश-साम्राज्य को हिला दिया है और मानव-राजनीति में उस

ज़बर्दस्त आन्दोलन का सूत्रपात किया है कि इधर दो हज़ार वर्षों से विश्व ने जिसके तुल्य और कुछ नहीं देखा।' ऐसे समय में जब एक ओर दूसरे देशों में नेता लोग या तो मानवीय न्याय जैसी चीज़ की या विश्वराज्य की नैतिक सत्ता को ललकार रहे थे या फिर समाज के एक वर्ग को मटियामेट करके दूसरे वर्ग के प्रति न्याय करने का प्रयत्न कर रहे थे, तब दूसरी ओर गांधीजी मानव-मात्र की एकता और स्वर्गीय राज्य ( रामराज्य ) के नाम पर भारत को दूसरे राष्ट्र की अधीनता से तथा भारत की किसी भी जाति को दूसरी जाति की गुलामी से मुक्त करने के लिए धर्मयुद्ध करने में व्यस्त थे। और इसके अलावा सब धर्मों के परमध्येय 'सत्य' तथा परिपूर्णता प्राप्त करने के उसके आमंत्रणों की मानवात्मा में जो प्रतिध्वनि होती है उसके सम्बन्ध में 'दर्शनशास्त्र ने जो कुछ सर्वश्रेष्ठ कहा है, उसको, उन्होंने 'कालातीत' भारतदेश ही में नहीं, संसार भर में युगयुगान्तर तक उल्लेखनीय रूप से जीवन में प्रत्यक्ष कर दिखाया है।'

मैं भला इन पंक्तियों में ऐसा क्या कह सकता हूँ जो इसी ग्रन्थ में अन्यत्र अधिक सुन्दरता से न कह दिया गया होगा ? पर हिन्दू-शास्त्र की सारभूत शिक्षा में, और विशेषतया गांधीजी की उसकी व्याख्या में, एक शब्द है, जो भ्रमात्मक या अस्पष्ट होने के कारण उन लोगों के गांधीजी की व्याख्या को एकदम स्वीकार कर लेने के मार्ग में रुकावट बन सकता है, जो पश्चिम की वैज्ञानिक और व्यावहारिक भावना से प्रेरित हुए हैं और उसी पर संक्षिप्त विवेचन के रूप में कुछ कहने में इस अवसर का उपयोग मैं करना चाहूँगा।

चरम-सत्य के शोध तथा अध्ययन में प्रोत्साहन देने के उद्देश से सुब्रह्मण्य अय्यर द्वारा स्थापित ब्रिटिश इंस्टिट्यूट ऑव फ़िलासफ़ी की एक सभा में हाल में सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने एक व्याख्यान दिया था। उस व्याख्यान के अवसर पर मुझको वह बात सूझी थी। वक्ता का परिचय कराते हुए सभापति ने कुछ लोगों की इस कठिनाई की तरफ़ ध्यान दिलाया था जो संस्थापक के 'सत्य' के साथ सामान्य दर्शन-शास्त्र के 'सत्य' (घटना के साथ मत का ऐक्य) का मेल बैठाने में हुआ करती है। इसके विरोध में ऐसा प्रतीत होता था कि पूर्वोक्त 'सत्य' शब्द किसी क़दर अस्पष्ट-भाव में इस्तेमाल किया गया है। उसमें बिलकुल भिन्न धारणा सामाजिक नीति-न्याय और सदाचार का ही समावेश नहीं होता था, बल्कि यह भी उसमें संभव बनता था कि सर्वथा समाधानकारक और अन्तिम सत्य का व्यक्तरूप कोई हो सकता और पाया जा सकता है। इसके जवाब में वक्ता को यह दिखाने में दिक्कत नहीं हुई कि सत्य की धारणा की दार्शनिक परिभाषा और मर्यादा के पक्ष में जो कुछ भी कहा जाय, पर खुद पश्चिमी साहित्य उस शब्द के दूसरे व्यापक उपयोग को स्वीकार करता है। सन्त पुरुषों की वाणियों और आर्षग्रन्थों में वैसे प्रयोग बार-बार दोहराये हुए मिलते हैं। उदाहरण के लिए यह

वचन लीजिए, "सत्य को जानो और सत्य तुम्हें मुक्ति देगा।"[१] वक्ता के हिन्दू-धारणा के प्रभावपूर्ण स्पष्टीकरण से सुननेवाले लोग प्रभावित हुए, यह तो साफ़ ही था। फिर भी लगता था कि कुछ हैं जो महसूस करते हैं कि एक शब्द के इन दोनों अर्थों में अन्तर और सम्बन्ध होने के स्रोत पर कुछ और भी कहे जाने की आवश्यकता है। मैंने अपने मन में सोचा कि 'कहीं ऐसा तो नहीं है कि अपनी ज्ञान या चेतना और सत्ता ( Knowing and Being ) के जिस भेद की पहचान हमें ग्रीक दर्शन से विरासत ही में प्राप्त होगई है, भारतीय दर्शन अपनी सूक्ष्म विचार-गहनता के बावजूद उस पहचान को भूल ही गया हो। चेतना यानी वास्तविकता का हमारे ज्ञान पर प्रतिबिम्बित हुआ रूप। और सत्ता यानी वास्तविकता का वह स्वरूप जो ईश्वर-ज्ञान में प्रतिभासित है। मुझे यह विश्वास नहीं हुआ कि ऐसा मूल-भेद भारत के उद्भट विचारकों की पहचान से छूट गया होगा, पर सोचा कि सम्भव है प्रचलित सूत्र-वाक्यों में इस अंतर की ओर उनका ध्यान न गया हो।

मसलन गांधीजी के ये वाक्य लीजिए "सत्य वह है जो है, और पाप वह है जो नहीं है।" "हिन्दू-धर्म सत्य का धर्म है और सत्य है परमेश्वर।" "सत्य के सिवा कोई और ईश्वर नहीं है।"

जो हो, मुझे उस समय प्रतीत हुआ कि ऐसे सब वाक्यों में 'सत्य' के स्थान पर 'वास्तव' रक्खा जाय और देखा जाय कि कहाँतक इससे स्थिति स्पष्ट हो सकती है।

इस परिवर्तन पर पहली बात तो यह कि सम्भावना को अवकाश मिलता है कि सत्य को कुछ सँकरा करके यह परिभाषा दे सके कि वह आदमी के मस्तिष्क के दर्पण पर पड़ी वास्तविकता की छवि और झलक है। धार्मिक भाषा में उसी बात को कहें तो सत्य "ईश्वर का शब्द" होता है। (केपलर की बानी है : "ओ ईश्वर, मैं तेरे पीछे तेरे ही विचार विचारता हूँ।") पर दूसरी बात उस परिवर्तन से यह होती है कि विचारणा के अतिरिक्त अन्य दूसरे प्रकार के अनुभवों में भी हम वास्तविक की दूसरी अभिव्यक्तियों को पासकें। जो हम सोचते हैं उसके साथ, और अतिरिक्त, जो हम करते हैं उसमें भी, 'वास्तव' प्रतिबिम्बित क्यों न हो? क्यों न सद्विचार के साथ सत्कर्म भी उसी की व्याख्या हो? इच्छापूर्वक किये गये हमारे कर्म में सार्थकता का बोध इससे ज्यादा और हमें कब होता है जबकि हमें लगता हो कि दुनिया जो हमसे माँगती थी, वही हमने किया है? एक बार फिर धार्मिक भाषा में उसी को कहें तो 'ईश्वर की इच्छा से अभिन्न होजाने से बढ़कर मानवेच्छा की और सार्थकता क्या है?' हम जानते तो हैं कि उचित काम अपनेआप में काफ़ी नहीं है, बल्कि उसके किये जानें की प्रेरणा भी उचित भावना में से आनी जरूरी है। इसी तरह क्या यह नहीं हो-सकता कि औरों को प्रेम करने में अपनी और पराई दोनों की वास्तविकता परम

१. Ye shall know the Truth and the Truth shall make you free.

अनायास और स्पष्टतय भाव से हमें उपलब्ध होआती है ? इससे पर के प्रति आत्म-भाव से प्रेम ही सत्य-ज्ञान ठहरता है। बन्धु-भाव को विस्तृत कीजिए, यहाँतक कि जीव-मात्र उसमें आजाये, जैसे कि गांधीजी ने किया है। "अपने पड़ोसी को तू अपनी तरह प्रेम कर।" "ठीक, पर पड़ोसी कौन ?" तो गांधीजी उत्तर देते हैं: "जीव-मात्र तेरा पड़ोसी है।" इस भाव को अपनाने और विस्तारने से वस्तु-मात्र के अन्तरंग (यानी ईश्वर या प्रकृति) को ही क्या हम नहीं पा लेंगे ? सो प्रेम के द्वारा अधिक किसी को कैसे जाना या पाया जा सकता है ? और "कीट-पतंगों और पशु-पक्षियों से लेकर मानवों तक जीवमात्र का जो जितना श्रेष्ठ प्रेमी है उतना ही वह उत्कृष्ट उपासक है।"

पर ऊपर के शब्द-परिवर्त्तन के पक्ष में जो कहा जा सके, वह कहने पर भी, प्रश्न शेष रह सकता है कि 'सत्य' और 'वास्तव' को पर्यायवाची शब्दों के तौर पर इस्तेमाल करने की आदत जो दार्शनिकों तक में फैली हुई है, ज्ञान के स्वरूप-निर्णय के दृष्टिकोण से देखने से उसका समर्थन नहीं होता है। प्लेटो ने ज्ञान में श्रेणियाँ रक्खी हैं। सामान्य जीवन में जो इन्द्रियगोचर या इच्छा-कल्पना द्वारा प्राप्त होता है वह ज्ञान एक। और उनका हेतु और कारण-सम्बन्धी वैज्ञानिक ज्ञान दूसरा। इन सिरों के बीच फिर तारतम्य है ही। पहले के उदाहरण में हम अपने सूर्योदय के ज्ञान को ले सकते हैं। अपनी धुरी पर सूर्य के चारों ओर धरती के घूमने के ज्ञान को दूसरे प्रकार का ज्ञान कहना होगा। इन दोनों ही में ज्ञान और ज्ञेय-वस्तु में पार्थक्य, अन्तर, रहता है। लेकिन प्लेटो की धारणा थी कि एक और भी ऊँची सतह है, जहाँ ये दोनों मिल जाते हैं, फिर भी जो इनसे ऊँची रहती है। वहाँ ज्ञान में प्रत्यक्ष अनुभूति भी है और मानसिक अनुमान और चेष्टा को भी स्थान है। दोनों ज्ञान रहकर दोनों की अपूर्णता का ज्ञान भी वहाँ रहता है। हम मानलें कि केपलर को यही विश्व-रूप-दर्शन हुआ था, जबकि उसने नभोमण्डल को मानव की भांति न देखकर वैसे देखा जैसे कि स्वयं ईश्वर-ज्ञान में वह भासमान हो। याकि कवि जब ऐसा वर्णन करता है कि मानों तमाम वस्तु उसमें हैं और वह उनमें, तब उसकी अनुभूति उसतक उठती है। पश्चिम में पाठकों को इस सिद्धान्त में बड़ी अड़चन हुई और उसपर वे खीझे भी हैं। पर पूर्वी पाठकों को तो यह ऐसा लगता है जैसे कि यह उन्हीं का सपना उन्हें कह रहा हो कि वह सिद्धांत ऐसा प्रत्यक्ष है जो साक्षी दार्शनिक या कवि के ही नहीं, सन्त के भी नित्य जीवन की वस्तु है। मैं तो मानता हूँ कि पूरब के लोगों का यह स्वप्न सच्चा है और सिंहद्वार[१] से उनको प्राप्त हुआ है।

**१. मूल में शब्द है 'हार्न-गेट'। ग्रीक कवियों के अनुसार झूठे सपने तो आदमियों के पास स्वर्ग से हाथीदांत के एक सुन्दर द्वार में से भेजे जाते थे। लेकिन सच्चे सपने एक सींग (Horn) में होकर पहुँचते थे। उस 'हार्न-गेट' को अनुवाद में सिंह-द्वार कहा है।**—सम्पादक

# सम्पादक को प्राप्त पत्रों के अंश

## : १ :

### माननीय वाइकाउण्ट हैलीफेक्स, एम. ए., डी. सी. एल.

**[ फॉरेन ऑफ़िस, लन्दन ]**

काश कि आप गांधीजी के अभिनन्दन में जो ग्रन्थ तैयार कर रहे हैं, उसके लिए आपके निमंत्रण को स्वीकार कर मैं एक लेख लिख सकता। जो आज के भारत को जानते हैं, या उसके बारे में अधिक जानना चाहते हैं, वे सभी उस पुस्तक को उत्सुकतापूर्वक पढ़ेंगे। लेकिन काम का बोझ मुझ पर इतना है कि भय है कि लेख भेजना मेरे लिए सम्भव न होगा।

भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन का स्वरूप और शक्ति एक प्रकार से बहुत हदतक और अपूर्व रूप में गांधीजी के व्यक्तित्व में मूर्तिमती हुई है। आदर्श के प्रति उनकी निष्ठा, और जो कर्त्तव्य माना है, उसके लिए अपने ऊपर हर प्रकार का बलिदान स्वीकार करने की उनकी उद्यतता के कारण देशवासियों के हृदयों में उनका अद्वितीय स्थान बन गया है।

मुझे वे दिन सदा याद रहेंगे जबकि सुलह के रास्ते की तलाश में हम लोगों ने बहुत नज़दीक और साथ होकर काम किया था। उनके और मेरे अपने विचार में किसी समय, कुछ, और जो भी, अन्तर रहा हो, उस गंभीर आत्मिक शक्ति को पहचाने बग़ैर मैं कभी नहीं रह सका, जिसकी प्रेरणा से अपने विश्वास और निष्ठानुकूल कार्यों के लिए बड़े-से-बड़े उत्सर्ग की ओर वह बढ़ते रहे हैं।

## : २ :

### अप्टन सिंक्लेयर

**[ पसाडेना, केलीफोर्निया ]**

गांधीजी के व्यक्तित्व और कार्यों के प्रति अत्यन्त प्रशंसा प्रकट करने में आप और अन्य बन्धुओं का साथ देते सचमुच मुझे बड़ी खुशी होती है। उनके सब विचारों से तो मैं सहमत नहीं हो पाता हूँ। दुनिया के दो विपरीत दिशाओं में रहकर हममें वैसी सहमति की आशा भी मुश्किल से की जा सकती है, लेकिन उनकी उच्च भावना और हार्दिक मानवी करुणा ने सारी दुनिया के मानव-हितैषियों का उन्हें स्नेहभाजन बना दिया है।

: ३ :

## आर्थर एच० कॉम्पटन

### पी-एच. डी., एल-एल. डी.

[ प्रोफ़ेसर ऑव फ़िज़िक्स, शिकागो यूनिवर्सिटी ]

आपको अवसर मिले तो मेरी इच्छा है कि आप गांधीजी को मेरे परम आदर के भाव पहुँचा दें। उनका जीवन दुनिया के लिए देन है। उस ज़माने में जबकि यह परम अनिवार्य है कि हम मनुष्य-जाति की ज़रूरी समस्याओं को शान्ति के उपाय से सुलझाने का रास्ता पायें, गांधीजी ने भारतवासियों को आत्म-साक्षात्कार में मदद पहुँचाई है। ये अधिक शान्तिपूर्ण उपाय किस प्रकार कारगर हो सकते हैं, यह दिखाने में वह अग्रणी रहे हैं।